समराङ्गण-सूत्रधार

भाग द्वितीय

यंत्र-विज्ञान एवं चित्रकला

डा० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

RESEARCH PUBLICATIONS

OF

Dr. D. N. SHUKLA
M. A. Ph.D, D. Lit.,
Professor & Head of the Deptt, of Sanskrit
Panjab University Chandigarh.

ON

INDIA'S PAST

THE TECHNICAL HERITAGE WITH ESP. REF.

TO

Hindu Science of Architecture

Ancient Indian Engineering, Town-Planning, Civil-architecture, Palace-architecture, and Temple-architecture.

Hindu Canons of Iconography, Sculpture and Painting

along with their Foundation of the Institution of worship, the rise of so many Sects and the upsurge of so many religious cults.

Hindu achievements in Aeronautics & Fine Arts.

The Royal Arts as cultivated, cherished and patronised in this land—"षडङ्गो वेदः षड् दर्शनानि तथैव षट् कलाः" ।

Publishers :
VASTUVANMAYA-PRAKASHAN-SALA
Shukla Kuti, 10-Faizabad Road, LUCKNOW,
Add. of Corresp.
(i) C/o G. 13. Sec. 14, Chandigarh.
(ii) C/o Dr. L. K. Shukla, Municipal P. G. College Mussorie (U. P.)

ROYAL ARTS—
YANTRAS & CITRAS

D. N. SHUKLA

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—भाग द्वितीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

एम०ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-आकल्प

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति में

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिविम्बन न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन ? अतएव जहां अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहां साहित्य-निवन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के काव्यों की देन है ।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)
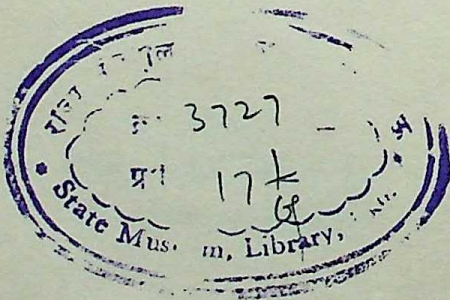
निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन-निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान् पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्कीटेक्ट्स एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रवृद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश के बहुत से भारत-भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि ये ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अति-रंजित हैं।

भवन-निवेश —यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और अर्कीटैक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है, उसका रूप प्रकट करना है। जहां तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न हैं, वह तो शासकों और संचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल, संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन-निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था, वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अन्धानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भे तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहां बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलंकृत मन्दिर, प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहां अपने निवास के

लिए शाल-भवन ही अनुकूल समझते रहे, जिन में छप्परों (छाद्यों) तथा मार्तिक भित्तियों तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भों का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—"शिलाकुड्यं शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत्"।

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—प्रस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एवं राजसी-कलायें—यन्त्र एवं चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ में चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवेदना में विशेष निवेदन की आवश्यकता नहीं, वह अध्ययन में पढ़ें। जहां तक यन्त्र एवं चित्र का साहचर्य हैं, वह सब राज-संरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कहीं भी किसी ने भी खोज नहीं की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रों के, विमानों (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दर्भ प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं, परन्तु इस विज्ञान पर समरांगण-सूत्रधार को छोड़कर कहीं पर किसी भी ग्रन्थ में आज तक यह विज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं अपने अंगेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture में इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने भूत का मूल्यांकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला-निदर्शन जैसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठों पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानों ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है, परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनों का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नहीं किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टैला क्रैमरिश को है, जिन्होंने चित्र-शास्त्र के प्रथित-कीर्ति पुराण-ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सोभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों जैसे भरत का नाट्य-शास्त्र, नारद-शिल्प, सारस्वत-चित्र-कर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, समरांगण-सूत्रधार, अपराजित-पृच्छा, मानसोल्लास

आदि सभी प्राप्त चित्र-ग्रन्थों का परिशीलन, आलोडन, अनुसन्धान, गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र-लक्षण बनाया और उसको पुनः व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों परिपाटियों से एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्धांश (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानों ने जैसे महामहोपाध्याय मिराशी, डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० डी० चैटर्जी आदि ने बड़ी ही प्रशंसा की और यहां तक लिख मारा—This is a land-mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मेरे पी-एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja's Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एवं प्रथितकीर्ति डा० जितेन्दनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशंसा ही नहीं की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य(The award of Ph.D. Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बड़ा प्रेरणा-प्रदायक सिद्ध हुआ, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप में अ ीकृत कर लिया है। इन दोनों प्रबन्धों की वरेण्य प्रशंसा एवं कीर्ति के कारण संस्कृत के महान् संरक्षक एवं शुभ-चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी०, चेयरमेन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्रन्थों के रूप में परिणत करने के लिए दस हज़ार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो अंग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu-Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp. reference to Bhoja's Samarangna-Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting.

अपने अंग्रेजी ग्रन्थों में इनका पूर्ण विस्तार एवं कला और शास्त्र दोनों दृष्टियों से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्री-गणेश करने का जो मैंने बीड़ा उठाया था, अपनी कृतियों से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थों को तो प्रकाशित कर ही चुका हूं। अब मैं यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र-विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हूं। जहां तक इन दोनों विषयों की महिमा, गरिमा और

पृथिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन में देखिए। अब अन्त में हमें यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय से जो अनुदान इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए १९५९ में मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन में भी इसका कुछ संकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्त्तव्य समझता हूं कि अब लगभग १० बर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र-व्यवहार से भी कोई लाभ नहीं हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ खड़ी हुई कि इसको तिलाञ्जलि दे दूं कि पुरानी प्रेरणा (लखनऊ वाली जिसके द्वार उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान से जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से करूं कि न करूं। यद्यपि न इस में अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योंकि जब तक कोई वैयक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूत-पूर्व अनुसन्धानों को साहित्य-ऐकेडेमी, ललित-कला-ऐकेडेमी क्यों पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होते हैं, वे जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश में कोई National Screening Committee तो है नहीं जो इन निर्णयों की स्क्रीनिंग करे तथा अपुरस्कृत व्यक्तियों को सामने लाये। झटिति मुझे यह वाक्य स्मरण आया :—

"अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति"

तो फिर इन वैयक्तिक लाभों को चन्द्र-हस्त देकर अपनी अंगीकृत निष्ठा को निभाने का बोड़ा उठाया। १९६७ फरवरी की बात सुनें। मैं अपने बहुत पुराने सतीर्थ (लखनऊ विश्वविद्यालय में जर्मन कक्षा के) डा० परमेश्वरीदीन शुक्ल से मिला, तो मित्र न पाकर कठोर शासक के रूप में पाया। यमवत् क्रुद्ध होकर कहने लगे—"शुक्ल जी महाराज, आपकी सारी ग्रांट खतम कर दूंगा। लगभग १० साल होने आये और अब तक आप ने उसे पूरा यूटीलाइज नहीं किया।" "धन्य हो यमराज! आपका चैलेंज स्वीकार है। जाता हूँ, दिन-रात जुटकर काम करूंगा—देखें जैसी भगवदिच्छा"। अगर डाक्टर शुक्ल का यह रवैया न होता तो यह काम न हो पाता। आशा है इस रवैये से राष्ट्र के कार्यों में एक नवीन स्फूर्ति हो सकेगी। डा० शुक्ल वास्तव में एक सच्चे सलाहकार हैं।

इस स्तम्भ में मैं अपने वर्तमान उप-कुलपति श्रीमान् लाला सूरजभान को विस्मृत नहीं कर सकता। इन के आगमन से मुझे स्वस्थता (स्वस्मिन् तिष्ठति

सः स्वस्थः) मिली, अतः अपने अनुसन्धान आदि कार्य में जो अनुद्विग्न होकर प्रवृत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बड़ी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर-प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एवं अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बड़े विश्वविद्यालय का संचालन कर सकते हैं। कामना है कि यदि तीन टर्म्स तक उप-कुलपति पद को शोभित करते रहें तो संस्कृत का यह दूसरा अनुसन्धान दश-ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र-अनुसंधान-आयोजन जिसे इस पंजाब विश्वविद्यालय ने स्वीकृत कर ही लिया, यू० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan में भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर में इस अनुसन्धान से एक नया युग एवं नयी अभिख्या का प्रादुर्भाव होगा। देखें क्या होता है। यह विधि-विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकेगा।

अंत में यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बड़े सौभाग्य की बात है कि पंजाबियों में एक संस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह से साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रेस चला रहे हैं। इस सरदार ने कमाल कर दिया और बड़े उत्साह और लगन से कार्य किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन-वद्धता के लिए पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जहां तक कुछ अशुद्धियों का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रंथकार प्रूफ को पढ़ता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध पढ़ जाता है। साथ-ही-साथ हमारे देश में जो छापेखाने हैं उनमें बड़े ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलते हैं। अतः आशा है कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां पर छापे की अशुद्धियां हैं, उनको अपने आप ठीक कर लेंगे। जहां तक पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है, उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त में यह ही कहना है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

आषाढ़ी सम्वत् १९२४ **द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल**

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक निम्न दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन :—

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२. प्रतिमा-विज्ञान

३. प्रतिमा-लक्षण

४. चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज–निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

उपोद्घात—ललित-कलाओं का जन्म एवं विकास—वेद एवं उपवेद—स्थापत्य-वेद—**समरांगण-सूत्रधार** एक-मात्र वास्तु-ग्रंथ, जिसमें भवन-कला, नगर-कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं;

समरांगण-सूत्रधार का अध्ययन—एवं उसके विभिन्न भागों के अध्ययन की योजना तथा अन्त में उसका नवीनीकरण; राज-संरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य—**चतुर्धा स्थापत्य** अर्थात् स्थपति-योग्यताएं एवं स्थपति-कोटि-**चतुष्टय; अष्टांग-स्थापत्य; शिल्पियों** की चार कोटियां—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक; चित्र-पद का अर्थ—**चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास;** पुनः परिमार्जन अर्थात् भवन-निवेश-सम्बन्धी समरांगणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण-पद्धति से अध्यायों की तालिका का नवीनीकरण;

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उपभवन एवं उपकपण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान;

राज-निवेश—राज-निवेशांग—कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश, **राज-भवन-तत्व; राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, गज-शाला, शयनासन आदि;**

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना, यान-मात्रिका अर्थात् यन्त्र-मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एवं रक्षा-यन्त्र, दोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र;

राजसी कलायें—चित्र कला:—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ; चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—

षडंग तथा अष्टांग; **चित्र-विधा**—सत्य, वैणिक, नागर, मिश्र, विद्ध, अविद्ध, धूली, रस, भाव; **वर्तिका; भूमि-बन्धन**—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन, पट-भमि-बन्धन; **चित्राधार एवं चित्रमान**—अण्डक-प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र-आदि-गुल्फान्त-सूत्र-भूमि-सूत्रान्त; **लेप्य-कर्म**—मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन; **आलेख्य-कर्म** — वर्ण एवं कूर्चक; **कान्ति एवं विच्छित्ति** (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त); **शुद्ध-वर्ण** (मूल-रंग), मिश्र-वर्ण (अन्तरित-रंग), रंग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र-विन्यास तथा रस-क्रिया; पञ्च-विध कूर्चक; त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा; **वर्तना**—क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त; वर्तना-प्रभेद—त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज; **चित्र एवं रस**—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियां; चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि; **चित्र-शैलियां** (पत्र एवं कण्टक के आधार पर)—चित्र-पत्र—षड्-विध—नागरादि-यामुनांन्त; **चित्र-पत्र-कण्टक**—अष्ट-विध—कलि-प्रमृति-भंग-चित्रकान्त; चित्र-शैलियां—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली; **चित्रकार** एवं उसकी कला, **चित्र-गुण, चित्र-दोष;**

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं संदर्भों पर एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय; पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक; प्राग्-ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियां—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें; ऐतिहासिक—पूर्व-ईसवीय—सिर-गुजा क्षेत्रीय—जोगीमारा कन्दरा; ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू-काल, मुसलिम-काल; **बौद्ध-काल**—अजन्ता—नाना गुफाओं में प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एवं विषय-वर्गीकरण, संरक्षण, चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एवं तूलिका, चित्र-शास्त्र एवं चित्र-कला; **सिंघल-द्वीप-सिगरिया, बाघ; हिन्दू-काल**—जैन-ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र; राजपूत-चित्र-कला, पंजाब (कांगरा की राजपूती कला); मुगल चित्र-कला;

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङ्मय, पाली-वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत, पुराण, शिल्प-शास्त्र, काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट, दण्डी, भवभूति, माघ, हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि;

[illegible]थ-चित्रण

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

प्रथम-पटल—प्रारम्भिका

द्वितीय-पटल

राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित-भवन तथा उपकरण

तृतीय-पटल—शयनासन-विधान—वर्धकि-कौशल

चतुर्थ-पटल—यन्त्र-विज्ञान

यन्त्र-लक्षण, यन्त्र-शब्द-निर्वचन, यन्त्र-बीज, यन्त्र-प्रकार, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विद्या, यन्त्र-घटना, यान्त्रिक-विज्ञान, की परम्परा—पारम्पर्य-कौशल, गुरूपदेश, वास्तु-कर्म, उद्यम तथा धी; यन्त्र-विज्ञान-गुप्ति

पंचम-पटल—चित्र-लक्षण

चित्र-प्रशंसा, चित्रोद्देश, चित्रांग, भूमि-बन्धन, लेप्य-कर्मादिक, अण्डक-प्रमाण आदि एवं चित्र-रसादि

षष्ट-पटल—चित्र एवं प्रतिमा क सामान्य लक्षण

चित्र एवं प्रतिमा द्रव्य, निर्माण-विधि, प्रतिमा-मानादि—अंगोपांग-प्रत्यंग, प्रतिमा-विशेष—ब्रह्मादि, लोकपालादि, पिशाचादि, यक्षादि—सामान्य लक्षण एवं

रूप-प्रहरण-संयोगादि-लक्षण ; प्रतिमा-दोष-गुण-निरूपण ; प्रतिमा-मुद्रा— ऋज्वागतादि-स्थानक मुद्राएं, वैष्णवादि-शरीर मुद्राएं, पताकादि ६४ संयुत-असंयुत-नृत्य मुद्राएं—

तृतीय खण्ड—मूल

चतुर्थ-खण्ड---वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलायें

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात :—ललित कलाओं का जन्म एवं विकास एक-मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नहीं समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओं में विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल में विशेष रूप से पाए जाते हैं; परतु पुरातत्त्वीय अन्वेषणों तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थीं। भारतीय संस्कृति में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उत्कर्षों के पक्षों पर हमारे पूर्वजों ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल में नाट्य, संगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरंजन एवं जनता में उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओं के द्वारा प्रचार करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य-वेद की रचना की जो पांचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम-सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है, जिसमें नागरिकों के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग था। 'स्टेला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका में जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव में बड़ा ही सार्थक एवं सत्य है। इन चौसठ कलाओं में नृत्य, वाद्य, गीत, आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओं का भी सँकीर्तन है, जिसमें प्रतिमाला, यंत्र-मात्रिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओं को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गों में वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओं, जेसे प्रमुख छः कलाएं—काव्य, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एवं वास्तु ही उस समय ललित कलाओं के रूप में नहीं सेव्य थीं, वरन् व्यावसायिक एवं औपजीविक कलाओं (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य-विकल्प,दारू-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मात्रिका आदि सभी इन्हीं दो कोटियों में आती हैं।

राजाओं के दरबार को ही सर्व-प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओं की उन्नति में महान् योगदान दिया।

हम यह भी नही विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरुक रहा। वैज्ञानिक एवं परिभाषिक शास्त्रों को भी

इस देश में पूरे रूप से प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी संस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उन्नतियों के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा में बड़े सूझ-बूझ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है :—

"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्म."

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक संस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रोन्नत एवं प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों से अपरिचित है। वेदों का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नहीं—इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एवं प्रचार है। उपवेदों में आयुर्वेद और अर्थवेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल-दर्शक थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन-शील समय में यदि अब भी रूढ़ि-वादी एव काल-प्रतिक्रिया-शून्य-वादी रहे तो हम अपनी संस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा में योरूप का अंधानुकरण कर रहे हैं और अपनी सारी थाती को विस्मृत कर चुके हैं।

जहां चार वेद थे वहां चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था; यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था; सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमें नृत्य, नाट्य, संगीत आदि सभी प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुके थे; अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था; इसी उपवेद में पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द में यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, इन छै वेदांगों के साथ उपर्युक्त चार उपवेदों के द्वारा प्रायः सभी विज्ञानों (Pure, Positive and Technical) का जन्म एवं विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव-विरचित समरांगण-सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व-मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस में स्थापत्य की प्रायः सभी प्रमुख कलाओं का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में केवल भवन-कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं की व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। शिल्प-रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर-मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमें भी इन तीनों कलाओं के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित-पृक्षा में भी इन चार प्रधान स्थापत्य-कलाओं का प्रतिपादन है।

समरांगण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें निम्न छहों कलाओं का अधिकृत विवेचन है :—

१ भवन-कला	२ नगर-कला
३ प्रासाद-कला	४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला	६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृक्षा को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में जैसे मानसार एवं मयमत आदि में भवन-कला में भवन केवल विमान अथवा प्रासाद हैं। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सर्वथा शून्य हैं। समरांगण-सूत्रधार ही हमारे देश में (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। चूंकि यह स्तम्भ आलेख्य एवं यन्त्र से सम्बद्ध है, अतः इस विषयान्तर पर पाठक हमारे भवन-निवेश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन :—अस्तु इस उपोद्‍घात के उपरान्त हमें समरांगण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानों को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय-वास्तु-शास्त्र दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन में अवशष जिन छै ग्रन्थों के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुनः परिष्कृत योजना में निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है :—

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एवं शिल्प-पदावली
३ - यन्त्र एवं चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं चित्र-पदावली।

टि० :—प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारों भागों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारों भागों को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमें महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एवं अध्यवसाय के साथ इन चारों ग्रन्थों को प्रकाश्य बना सका हूं, वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजों की पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश में शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश में जो हमने परिपुष्ट प्रमाणों से इस सिद्धान्त को दृढ़ किया है वह वहीं पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाएं राज-भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एवं यन्त्र को हमने, राज-निवेश, राज-भवन-उपकरण, राज-भोगाचित विलास-क्रीडाओं में सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एवं यंत्र जैसे आमोद, सेवक, द्वारपाल, योध, विमान, धारा एवं दोला आदि यन्त्रों का एकत्र व्यवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एवं स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से चर्मोन्नति तथा विलास है अतः उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड में व्यवस्थापित किया है। अतः जैसा ऊपर संकेत किया है कि प्रथम विभागी-करण से थोड़ा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव रिम्न अवशेष चारों भागों की तालिका उद्धृत की जाती है :—

१ यन्त्र एवं चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद।
२ यन्त्र एवं चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली
३ प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययव एवं अनुवाद।
४ प्रासाद-निवेश	मूल एवं शिल्प-पदावली।

राज-संरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य :—इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका में यन्त्र एवं चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें : —

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं

ब स्थपति-कोटि-चतुष्टय

स अष्टांग स्थापत्य

जहां तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश में पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अतः यहां पर इन दोनों की अवतरणा आवश्यक नहीं। यहां पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार, मयमत आदि तथा समरांगण-सूत्रधार आदि शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों से निम्न लिखित शिल्पियों की चार कोटियां प्राप्त होती हैं :—

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहां तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमें स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओं का विशेष साहचर्य है। राज-निवेशोचित एवं राज-भोगोचित केवल चित्र-कलाएं (आलेख्य एवं पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अंग नहीं थीं वरन् राज-भवनों में शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् सिंहासन आदि, पादुका, कंघे आदि फर्नीचरों का भी इन कलाओं में वर्धकि का कौशल माना गया है। अतः हम इस ग्रन्थ में शयनासन-सम्बन्धी अध्यायों को भी लाकर इस परिमार्जित संस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरांगण-सूत्रधार के परिमार्जित संस्करण का जहां तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था वह हम भवन-निवेश के अध्ययन में पहले ही कर चुके हैं। अब यहां पर इस भाग में आगे के ग्रन्थ-अध्यायों के परिमार्जित संस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हमें एक मौलिक आधार पर विद्वानों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं है। स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एवं शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणों में (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमों में (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थों (जैसे मानसार, मयमत आदि) में सभी में चित्र अर्थात प्रतिमा के निर्माण में तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं :—

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुनः परिमार्जनः—अतएव हमने चित्र के विवेचन में समरांगण का प्रतिमा-ग्रन्थ-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अतः अब हम समरांगण के इस अध्ययन में अध्यायों के परिमार्जित संस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन-निवेश में हमने समरांगण के ८३ अध्यायों में से ३९ अध्यायों की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एवं संस्कृत अध्याय-तालिका प्रस्तुत की है— वह

वहीं द्रष्टव्य है । यहां पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयों पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डों में प्रविभाज्य हैं ।

अ. राज-निवेश
१. प्रारम्भिका;
२. राज-निवेश एवं राज-भवन;
३. राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि;
४. राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५. राज-विलासोचित—यन्त्रादि ।

ब. राज-संरक्षण में प्रवृद्ध कलाएं—चित्र-कला (Painting)

स. राज-पूजोपयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ. राज-निवेश

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी-लक्षण	४७
४१	पीठ-मान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज-भवन एवं उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण ।	
४४	सभाष्टक	२७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व-शाला	३३
४७	नृपायतन	५१
	तृतीय पटल—शयनासनादि-विधान	
४८	शयनासन-लक्षण	२९
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र-लक्षण	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

राज-संरक्षण में पल्लवित एवं विकसित इन ललित कलाओं की ओर थोड़ा सा उपोद्धात एवं इस ग्रन्थ की परिमार्जित संस्करण की ओर पाठकों एव विद्वानों का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर जा रहे हैं। इस अध्ययन में हमें निम्नलिखित तीन स्तम्भों पर प्रकाश डालना हैं :–

१ राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उप-भवन एवं उपकरण ;

२ यन्त्र-विधान ;

३ चित्र-विधान ।

वेसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में इन विषयों को निम्नलिखित षट् पटलों में विभाजित किया है, जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर संकेत तरता है :–

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एवं पीठ ;

द्वितीय पटल—राज-निवेश एवं पाज-निवेशोपकरण ;

तृतीय पटल—शयनासन-विधान ;

चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान ;

पंचम पटल—चित्र-कर्म ;

षष्ठ पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य अंग ।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है, यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनों के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते हैं। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभावित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने स अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भों में परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज-निवेश ले रहे हैं, जिसमें राज-निवेश, राज-भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ हैं। अतः इस प्रमुख स्तम्भ में, इन सभी सहायक स्तम्भों पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यतः राज-निवेश एवं ललित कलायें एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि-भाव-निबन्धन हैं, अतः ललित-कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असंभाव्य है, जक तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश में सर्व-प्रमुख अंग कक्ष्यायें (Courts) थीं। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत में भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज-प्रासादों में कक्ष्याओं का सन्निवेश मध्य-कालीस एवं उत्तर-मध्य-कालीन किसी भी राज-प्रासाद को देखें तो उनमें कक्ष्याओं का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज-निवेश में राज-निवेश-वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ-बहुल सभायें, शालायें, सभा-मंडप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहां तक भूमिकाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन में कोई वैशिष्टच नहीं रखतीं। समरांगण-सूत्रधार में राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात् राजधानी और राज्य-संचालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए; आवासोपयिक अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियां विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मों के संस्थान आदि; पुनश्च राज-निवेश की तीसरी आवश्यकता विलास-भवन हैं। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवनों को दो वर्गों में वर्णित किया गया है—निवास-भवन तथा विलास-भवन।

जहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमें कक्ष्याएं अर्थात् शालाएं अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमें भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं; परन्तु विलास-भवनों में भूमियों को अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-दिशा भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश में उचित नहीं माना गया। हां विलास-भवनों में भूमियों का न्यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारों के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाएं, नृत्य-शालाएं, संगीत-शालाएं आदि भी भौमिक विमानों के सदृश परिकल्पित की गई थीं। ये सब विलास-भवन हैं।

मयमत और मानसार में जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा का उद्‌बोधक है। हमारे देश में दो प्रमुख स्थापत्य-शैलियां विकसित हुईं एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड-कला नागों और असुरों की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से द्योतित इन भवनों का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान् कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ में इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। ये शुंग एवं वाकाटक वंश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्त्वीय अन्वेषणों (मोहेनजोदाड़ो, हड़प्पा आदि) के निदर्शनों से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक संस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाएं ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थीं। शालाओं एवं शाल-भवनों के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) में बड़ी ही मनोरंक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थों में विमान-वास्तु की गोद में खेलने लगा। विमानों के सदृश शालाएं भी भौमिक कल्पित की गईं। शिखर तथा अन्य विमान भूषाएं भी उनके अंग बन गईं।

अस्तु समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-प्रासाद के निवेश में शालाओं के साथ अलिन्द (कक्ष्याएं) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में जो राज-निवेश एवं राज-गृह इन दो अध्यायों में जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्‌घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियों का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद-स्थापत्य में महाद्वार, प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-क्रमों के साथ जहां तक विच्छित्तियों का प्रश्न है, उनमें तोरण, सिंह-कर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई हैं।

आधुनिक विद्वानों ने वितान-वास्तु (Dome-Architecture) को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृहों, लाजवर्दी जैसे रंगों को भी फारस की देन मानते हैं। यह सब धारणाएं भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) में विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त्त से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाकों में लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा दी है, उससे इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओं का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छितियां हैं। वितानों के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाएं सप्तथा परिकीर्तित की गई हैं। समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वीं शताब्दी का एक अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश में फारस का प्रभाव नगण्य था। उत्तर-मध्यकाल (विशेष कर मुगलकाल) में फारस की बहुत सी परम्पराओं ने यहां पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवों का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका में इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश में प्राचीन काल से राज-प्रासादों के प्रमुख अंग थे; अतः उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोद्घात के बाद राज-प्रासाद के नाना निवेशांगो पर दृष्टि डालना उचित है।

राज-निवेशांग

१. निवास	८. वाद्य-शाला
२. धर्माधिकरण-स्थान	९. वन्दि-मागध-वेश्म
३. कोष्ठागार	१०. चर्मायुध-शाला
४. पक्षि-भवन, पशु-भवन	११. स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
५. महानस	१२. गुप्ति
६. आस्थान-मण्डप	१३. प्रेक्षा-गृह
७. भोजन-स्थान	१४. रथ-शाला

१५. गज-शाला
१६. वापी
१७. अन्तः पुर
१८. क्रीडा-दोला-शाला
१९. महिषी-भवन
२०. राज-पत्नी-भवन
२१. राजकुमार-गृह-भवन
२२. राजकुमारी-भवन
२३. अरिष्टा-गृह
२४. अशोक-वनिका
२५. स्नान-गृह
२६. धारा-गृह
२७. लता-गृह
२८. दारू-शैल, दारू-गिरि
२९. पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म
३०. यन्त्र-कर्मान्त-भवन
३१. पान-गृह
३२. कोष्ठागार (२)
३३. आयुध-मन्दिर
३४. कोष्ठागार (३)
३५. उदूखल-भवन तथा शिला-यन्त्र
३६. दारू-कर्मान्त-भवन
३७. व्यायाम-शाला
३८. नाट्य-शाला
३९. चित्र-शाला
४०. भेषज-मन्दिर
४१. हस्ति-शाला (२)
४२. क्षीर-गृह—गोशाला
४३. पुरोहित-सदन
४४. अभिषेचनक-स्थान
४५. अश्व-शाला—मन्दुरा
४६. राज-पुत्र-वश्स
४७. राज-पुत्र-विद्याभिगम-शाला
४८. राज-मातृ-भवन
४९. शिबिका-गृह
५०. शय्या-गृह
५१. आसन-गृह—सिंहासन-भवन
५२. कासार तथा तड़ाग आदि
५३. नलिनी-दीर्घिका
५४. राज-मातुल-निकेतन
५५. राज-पितृव्य-भवन
५६. सामन्त-वेश्म
५७. देव-कुल
५८. होराज्योतिषी-भवन
५९. सेनापति-प्रासाद
६०. सभा

समरांगण-सूत्रधार के मूलाध्याय (राज-निवेश) में वर्णित इन निवेशांगों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, कि इस राज-निवेश में आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments) में पार्थक्य तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निबन्धनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमें ये राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों

संस्थाओं के मिश्रण दिखाई देते हैं। राज-स्थान के नाना राज-भवन यही परम्परा पुष्ट करते हैं। मुगलों के राज-भवन भी यही पोषण करते हैं। हम संस्कृत कवियों के काव्यों (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमें भी राज-भवनों की द्विविधा निवेश-प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्तः शाला और बहिः शाला के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलों के राज-पीठों को देखिए, उनमें भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्तः शाला और बहिः शाला के अनुगामी थे।

यहां पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करना है। पूरा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों में सब से प्रमुख अंग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे—जैसे महा-द्वार, गोपुर-द्वार, पक्ष-द्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जो समरांगण-सूत्रधार के इस राज-निवेश-शीर्षक अध्याय में भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। पुनः कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-संभार विकसित हुए तो स्वतः निवेशांगों की संख्या भी बढ़ती बढ़ती इतनी बड़ी निवेश-संख्या हो गई।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अंगों पर प्रकाश डालेंगे, जिसमें राज निवेश में प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुनः विलास-भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण-भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियों के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमें यहां विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नहीं है, जो राज-निवेश-उपकरण-शीर्षक—अनुवाद पटल में द्रष्टव्य हैं।

यहाँ पर सबसे बड़ी शिल्पदिशा से जो वास्तु-महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं।

कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश :—शास्त्र एवं कला दोनों दृष्टियों में राज-भवनों की प्रमुख विशेषता कक्ष्या-निवेश है। मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थों में तो अन्तः शाला और बहिःशाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरांगण-सूत्रधार में शालाओं एवं अलिन्दों के ही विशेष विवरण राज-भवन-विन्यास में प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्रायः प्रत्येक राज-भवन-प्रभेद के प्रत्येक में कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहां अलिन्द होंगे वहां खुले आंगन अवश्य होंगे। बृहत्संहिता में जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका :—

"अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बहिर्ये गमनिका जालकावृतांगणसम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा संदेह निराकरण कर दिया। अतः समरांगण-दिशा में भी जो निदर्शन प्राप्त होते हैं उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राज-भवन-वास्तु-तत्व :—राज-प्रासाद व राज-भवन मेरी दृष्टि में चारों भवन-शैलियों (प्रासाद-वास्तु, सभा-वास्तु (मण्डप—वास्तु), शाला-वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं। प्रासाद-वास्तु का अनुगमन इसमें विशेषकर शृंगों में ही आभास प्राप्त होता है। समरांगण की दिशा में आवास-भवन यतः अट्टालकादि, प्राकारादि विशेषों से ही विशिष्ट हैं, परन्तु विलास-भवन यतः भौमिक भी हैं अतः उनमें शिखरावलियां एवं श्रृंग-भूषायें विशेष विभाव्य हैं। अब आइये सभा-वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र में नाना सभाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, उन में विशेष महत्व स्तम्भ-संख्या का है। दक्षिण की ओर मुड़िये वहां जो मण्डप-वास्तु महान् प्रकर्ष को पहुंचा था, उसमें भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहां के मण्डपों की शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, इन संज्ञाओं का अर्थ स्तम्भ-संख्या का द्योतक है अर्थात् सौ खम्भों वाले मण्डप या हजार खम्भों वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज-प्रासाद-निदर्शन को देखें—मुगलों के अथवा राजस्थानियों के, सभी में सभा-मण्डप, आस्थान-मण्डप आदि जितने भी वहां दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी में स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात् पतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात् शाला-वास्तु, वह भी राज-भवन के मूल-न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल-भवनों की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या, कमरा, चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास-प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना, योज्यायोज्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुके हैं, उसकी पुनरावृति यहां आवश्यक नहीं। यहां तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनों में भी शालाएं ही सर्वाधिक विन्यास के अंग हैं। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके हैं अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि।

इन वस्तु-तत्वों की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमें दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वों पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज हैं या अनुज हैं? इस

प्रश्न को हम यहां नहीं लेना चाहते; इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद-निवेश) में देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवेश, अंगोपांग, भूषा तथा अन्य निवेश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एवं कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समर्थन या खण्डन कैसे किया जा सकता है। अतः यह प्रश्न वहीं पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनों में जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के तत्व एवं निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदर्शन हैं अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु-कला-विशारदों ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि में भ्रामक है। समरांगण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय में राज-गृह की नाना विच्छित्तियों पर जो प्रवचन प्रदान किये गये हैं उनमें निर्यूह, कपोत-पाली, सिंह-कर्ण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओं पर भी बड़े पृथुल प्रतिपादन प्राप्त होते हैं। वितानों की संख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओं की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एवं लुमा का क्या अर्थ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है, जो वितान (Canopy) का अभिन्न अंग है। लुमा और लुपा शिल्प-दृष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थों (दे० मानसार) में लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है, वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है :—

'A sloping and projecting member of the entablature etc. representing a continued pent-roof. It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से ये लुमाएं (पौष्पिक विच्छित्तियां) वितान (dome) की अभिन्न अंग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओं को वितान (dome) के गोद में क्रीडा करवा दी है। अतः वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा में भी जो लुमाओं और वितानों के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इंजीनियर, जिन्होंने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस में जो उन्होंने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समर्थन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध में मुखर नहीं हैं।

अब अन्त में जहां तक स्मारक-निदर्शनों का प्रश्न है, उनको अब हम यहां पर विशेष-विस्तार से नहीं छेड़ना चाहते हैं, यतः यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत में निर्मित अशोक का राज-प्रासाद, जो काष्ठमय था, वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इन्हीं स्तम्भों की विच्छित्तियां आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एवं गुप्त-कालीन-विच्छित्तियों यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक हैं। सर्कप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषों में, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारकों में, गुप्तकालीन राज-भवनों के निदर्शनों में—ये सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनों की अभिख्या देखें एवं सुषमा निहारें तो इन राज-गृहों में बड़े विस्तार-संभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल में राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश में जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और ग्वालियर एवं दतिया और ओरछा, अम्बर तथा उदयपुर एवं जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरों में जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते हैं, वे सब राज-भवनों की एक परम्परागत अटूट शैली एवं श्रेणी के उद्बोधक हैं। जहां तक राज-भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद में दृष्टव्य है। राज-भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनों के नाना पारिभाषिक भेद हैं जैसे पृथ्वीजय आदि वे सब वहीं पठनीय हैं। इस थोड़ी सी समीक्षा के उपरान्त समरांगण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोड़ा सा राज-निवेश-उपकरणों पर भी संकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण :—इस ग्रन्थ में सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियों के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण में विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहां तक सभा, गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद में ही दृष्टव्य हैं; परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ में इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं पृथुल प्रतिपादन नहीं प्राप्त होता। इस अध्याय में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बड़े ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परंन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन, ग्राम में जाइये तो वहां पर जहां घोड़े बांधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और वे थाने बड़े विशाल एवं विस्तृत बनाए जाते थे। अतः वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक बेसर अथवा अण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदों के जो अर्थ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश के 'चय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहां पर 'चय', 'रुचक' आदि नाना पदों की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र में परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानों ने इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघड़न्त के रूप में मूल्यांकन करते आए हैं। अस्तु, अश्वशाला के भी विवरण वहीं अनुवाद में अवलोक्य हैं। हां यहां पर थोड़ा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशांगों पर थोड़ा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा :—सभा भवन-वास्तु की सर्व प्राचीन कृति है। वैदिक-वाङ्मय तथा विशेष कर महाभारत एवं रामायण में सभाओं के अनेक उल्लेख एवं विवरण मिलते हैं। महाभारत में तो एक पर्व सभा-पर्व के नाम से ग्रथित है। जिसमें यम-सभा, इन्द्र-सभा, वरूण-सभा, कुबेर-सभा, ब्रह्म-सभा आदि प्रकीर्तित हैं। इन सभा-भवनों की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ-बाहुल्य वास्तु वैशिष्टच है। राज-भवनों में जो अन्तःशाला एवं बहिःशाला हैं वे भी सभा-भवन पर बनी हैं तथा वहीं विच्छित्तियां दर्शनीय हैं। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला :– अब आइये अश्व-शाला की ओर, जिसमें निम्नलिखित निवेशों का प्रतिपादन आवश्यक है :–

१. अश्वशाला-निवेश अंगोपांग-सहित ;
२. अश्वशालीय संभार ;
३. घोड़ों के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति ;
४. अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद में दृष्टव्य है; परन्तु इसके प्रमुख निवेशांग निम्न हैं :

१. यवस-स्थान (Granary) जहां पर घास जमा की जाती है ;
२. खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नांदें ;
३. कीलक अर्थात् खून्टे जिनके द्वारा उनका पञ्चांगी-निग्रह अनिवार्य हैं।

इन सब निवेशों के वितरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद में द्रष्टव्य हैं।

४. अश्वशालीय संभार—अग्नि-स्थान, जल-स्थान, ऊलूखल-निवेश-स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अनिवार्य है, उनमें निःश्रेणी (Stai-case), कुश,

फलक, उद्दालक, गुडक, शुक्त-योग, खुर, कैंची, सींग, कुल्हाड़ी, नाद्य, प्रदीप, हस्तवासी, शिला, दर्वी, थाल, उपानह, टिक तथा नाना वस्तियां—ये सब अनिवार्य संभार हैं।

घोड़ों के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति थाने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवंश (पांचवा सर्ग) देखिए "दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु" इन स्थानों—थानों का समर्थन करता है। इन थानों का सामुख्य, स्थापन, दिङ्-सामुख्य, निवेश्य पद, आदि पर जो वितरण आवश्यक हैं वे सब वहीं अनुवाद में द्रष्टव्य हैं।

अश्वशाला के उप-भवन—भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य हैं :—

१ भेषजागार (Dispensary)
२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)
३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)
४ सर्वसम्भार-वेश्म (Medical Stores)

यहां पर सब प्रकार की औषधियां, तैल, नमक, वर्तियां आदि आदि संग्रहणीय हैं।

इन अश्व-शालाओं के निर्माण में वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से इन्हें विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालों को सुधा-बन्ध से दृढ़ करना चाहिए और इनमें प्राग्रीवों की अलंकृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओं के द्वार उत्तुंग एवं अलंकृत दिखाई पढ़ते हैं।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति में हम परिणत कर देते हैं तो वह वास्तु बन जाता है। समरांगण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एवं सिद्धान्त को दृढ़ करता है :-

'यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते'—'मेय' में वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है। बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति में नहीं परिणत हो पाता। अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही, साथ ही साथ आधिदैविक एव

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पर्य केवल पुर, नगर, भवन, मन्दिर या प्रतिमा मात्र से नहीं । जो भी निवेशित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है । इस व्यापक दिशा में तक्षण, दारुकर्म, आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं ।

स० सू० का यह शयनासन-शीर्षक अध्याय बड़ा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं अनुपम है । अन्य किसी ग्रन्थ में ऐसा पृथुल एवं प्रवृद्ध शयनासन-विषयक प्रतिपादन नहीं मिलता । मानसार, मयमत आदि शिल्प ग्रन्थों में वास्तु-क्षेत्र में धरा, यान, स्यन्दन (अथवा पर्यंक) तथा आसन ये ही चतुर्धा क्षेत्र हैं तथापि इन ग्रन्थों में यहां सिंहासनादि एवं अन्य पंजर तथा नीडादि, दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण हैं तथापि वहां शय्या पर इतने वैज्ञानिक एवं परिमार्जित विवरण नहीं मिलते ।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानों के लिये सर्व-प्रथम शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त आवश्यक है । इन शय्याओं एवं आसनों के निर्माण में किस किस वृक्ष की लकड़ी लानी चाहिए—ये विस्तार बड़े पृथुल हैं (दे० अनुवाद) । राजों, महाराजों के लिए जो शय्या विहित है उसमें स्वर्ण, रजत हस्तिदन्त आदि की जड़ावट आवश्यक है । शय्या की लम्बाई और चौड़ाई भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप विहित है । राजाओं की शय्या १०८ अंगुल के प्रमाण में बतायी गयी है चौड़ाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए ।

एक-दारू-घटिता शय्या प्रशस्त मानी गयी ह । द्वि-दारू-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है । तथा त्रिदारू-घटिमा शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है :—

"त्रिदारूघटितायां तु शय्यायां नियतो वधः"

शय्यांगों में जो पारिभाषिक वास्तु-पद दिये गये हैं, वे हैं—उत्पल, ईशा-दण्ड, कुष्य तथा पाद । सबसे बड़ी विशेषता यह है कि घटिता शय्या में ग्रन्थियां कभी नहीं होनी चाहियें । ग्रन्थियां अथवा छिद्र दोनों हीं वर्ज्य हैं । ग्रन्थियों की निम्न षड्विधा दृष्टव्य है :—

निष्कुट	क्रोडनयन	कालक
कालदृक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद में अवलोकनीय है । अतः यहां पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी । इसी प्रकार आसन, पादुका, कंघे आदि भी इस शयनासन-विधान में वर्णित किये गये हैं । अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर ।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है, उसी प्रकार से पुराणों में बहुत से संकेत प्राप्त होते हैं उनसे जो यह परम्परा विमानों की ओर संकेत करती है, वह अभी तक कपोल-कल्पना के रूप में कवलित की गई है । यन्त्र शब्द तंत्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है । मेरी दृष्टि में तन्त्र वास्तव में शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की संज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी । जो यन्त्र वही मशीन । मानव सब कुछ अपने हाथों से नही कर सकता था ; अतएव प्रत्येक जाति एवं देश की सभ्यता में यन्त्रों का जन्म एवं विकास प्रादुर्भूत हुआ । वात्स्यायन के काम-सूत्र मे जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है, उनमें यन्त्र-मातृका भी तो थी । आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका, न समझ ही सका । डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ में (H. A. I. A.) जिन्होंने इस कला की निम्न व्याख्या की है :—

"the art of making monographs, logographs and diagrams. Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chatana sastra (Science of accidents)".

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुंचे हैं वह सर्वथा भ्रान्त है । इस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मैंने इस कला को वास्तविक रूप में ला दिया है । यशोधर ने इस कला की व्याख्या में लिखा है :—

"सजीवानां निर्जीवानां यानोदकसंग्रमार्थघटनाशास्त्रं विश्कर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Convey-ance and aeroplanes) यन्त्रों से है, उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रों से है तथा संग्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है, जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी युगों में पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-pro-ducer), वारूणास्त्र (Producing terrible end violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भुशुंडी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी जो आजकल आधुनिक मशीनगन, स्टेनगन और टैंकों के साथ प्रकल्पित किये

जा सकते हैं । अस्तु यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, उस दृष्टि से यह निष्कर्ष कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है । अब देखें कि समरांगण-सूत्रधार का यह यंत्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है । इस के प्रथम थोड़ा सा और उपोद्घात् आवश्यक है ।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहां वेद थे वहां उपवेद भी थे । उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे । यन्त्र-विद्या, धुनुर्विद्या की अभिन्न अंग थी । धनुर्विद्या, धनुर्वेद के नाम से हम कीर्तित कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था । 'धनु' शस्त्रों एवं अस्त्रों का प्रतीक था । शस्त्र हमारे वाङ्मय में चतुर्विध वर्गीकृत किये गये हैं :—

१ मुक्त ३ मुक्तामुक्त तथा
५ अमुक्त ४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी, सहस्त्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य हैं । डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक में संस्कृत-वाङ्मय में आपतित यन्त्र सन्दर्भों पर पूरा प्रकाश डाला है । परन्तु उनकी दृष्टि में यन्त्र की व्याख्या उन्हों ने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना अथवा गढ़न के रूप में परिकल्पित किया है । परन्तु समरांगण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनों से यन्त्र-विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पड़ता है । अतः बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढंग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेंगे कि हमारे देश में यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एवं उत्तर मध्य-काल में इसका ह्रास हो गया । अतएव समरांगण-सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड-मण्डन, इन दो ग्रन्थों को छोड़कर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं । अतएव यन्त्र-विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते । यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की ओर गये । अन्यथा Science लिखना विशेष उपयुक्त था । समझने की बात है, विचारने की भी बात है कि कुतुब-मीनार के निकटस्थ

अशोक का लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एवं इन्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरांगण-सूत्रधार (मूल ३१.८७, परिमार्जित संस्करण ४९.८७) का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिंश्चित्राण्येवं वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥
यन्त्रणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ में यन्त्र-विज्ञान, उसके गुण, प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे, जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढ़कर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश में यह विज्ञान सर्वथा अवश्य था।

यन्त्र-परिभाषा देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार देखिए अनुवाद
यन्त्र-गुण देखिए अनुवाद

यहां पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया, परन्तु यह ध्यान देने की बात ह कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते हैं। प्रकारों पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयवाहक (automatic), सकृत्प्रेर्य (Requiring propelling only once), अन्तरित-बाह्य (operation of which is concealed, i. e. the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-बाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग में भी यन्त्र-गुणों की बीस प्रकर्षताओं पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला गया है, वह सम्भवतः कहीं पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणों की तालिका सुसम्बद्धा यहां पर अतएव अवतरणीय है :—

१ यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of Bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction.

३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance.

४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability.

५ निर्वहण Functional Efficiency.

६ लघुत्व Lightness.

७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired.

८ शब्दाधिक्य Loud noise, if the production aimed at, is sound

९ अशैथिल्य Absence of Looseness.

१० अगाढता Absence of stiffness.

११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all conveyances.

१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i. e. production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)

१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time, the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares).

१४ इष्टकाल-अर्थदर्शित्व Going into action when required.

१५ पुन: सम्यक्त्व-संवृति Resumption on the still state when so required.

१६ अनुल्बणत्व Beauty i. e. absence of an uncouth appearance.

१७ ताद्रूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals).

१८ दार्ढ्य Firmness.

१९ मसृणता Softness.

२० चिर-काल-सहत्व Endurance.

यन्त्र-कार्य :—देखिए अनुवाद ।

यन्त्र-कर्म में जो गमन, सरण, पात, पतन, काल, शब्द, वादित्र आदि जो इस ग्रन्थ में निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमे आधुनिक नाना मशीनों जैसे घड़ियां, रेल, मोटर, रेडियो, वारि तथा विमान (aeroplane) सभी प्रकल्प्य प्रतीत होते हैं ।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि से प्रथम तो क्रिया ही मौलिमालायमान एवं मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि विभाव्य हैं।

जहां तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घड़ियों की ओर संकेत है—यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते हैं कि उस प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में जल-घड़ियां तथा काष्ठ-घड़ियां तो विद्यमान थीं हीं।

जहां तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर संकेत कर रही है, क्योंकि वादित्र—गीत, वाद्य एवं नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजों जैसे पटह, मुरज, वंश, वीणा, कांस्यताल, तृमिला, करताल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमार्ग देशी आदि, नृत्यों एवं नाट्यों की ओर जो संकेत हैं, वे क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर संकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमें नहीं ले जा सकते अन्यथा यन्त्रों के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या अभिप्राय है ?

यन्त्र-कर्मों में उच्छ्राय-पात, सम-पात, समोच्छ्राय एवं अनेक उच्छ्राय-प्रकारों पर, जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न में प्राप्त होता है, उससे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रों तथा धारा-यन्त्रों की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रों के कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पर्श तथा दोला एवं क्रीडायें एवं कौतुक एवं आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि कार्य भी इन्हीं यन्त्रों के द्वारा उल्लेख दिये गये हैं। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वतः परिपुष्ट हो जाता है।

यान-मातृका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सर्व-प्रथम इस भारत-भारती (Indology) में पाठकों के सामने रक्खी है उसी के अनुसार यह समरांगण–सूत्रधार भी उसी ओर हमें ले जा रहा है। समरांगण-सूत्रधार के इस यन्त्राध्याय में जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये हैं उनको हमने निम्न षड्-विधा में वर्गीकृत किया है :—

१ **आमोद-यन्त्र** :—इस वर्ग में

(i) भूमिका-शय्या-प्रसर्पण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन

(iv) नाडिका-प्रबोधन यन्त्र

(v) गोल-भ्रमण-यन्त्र Chronometre-iike-object

(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll.

(vii) हस्ति-यन्त्र

(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एवं रक्षा-यन्त्र :—

(i) सेवक-यन्त्र

(ii) सेविका-यन्त्र

(iii) द्वार-पाल-यन्त्र

(iv) योध-यन्त्र

(v) सिंहनाद-यन्त्र

३ संग्राम के यन्त्र:—इन के केवल संकेत हैं; परन्तु घटना पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इनमें चाप, शतघ्नी, उष्ट-ग्रीवा आदि संग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं।

४ यान-यन्त्र :—अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त में परिपुष्ट करेंगे।

५ वारि-यन्त्र :—इसमें जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है उसकी चतुर्धा कोटि है :—

(I) पात-यन्त्र

(II) उच्छ्राय-यन्त्र

(III) पात-समोच्छ्राय-यन्त्र

(VI) उच्छ्राय-यन्त्र

इन चारों का मौलिक उद्देश्य द्विविध है :-

एक तो क्रीडार्थ दूसरा कार्य-सिद्धयर्थ। दूसरी कोटि पात-यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी से उदाहृत एवं समन्वित है। इन चारों विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात-यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलशाय से नीचे की ओर पानी छोड़ा जाता है। दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपातयन्त्र) जहां पर जल और जलाशय दोनों एक ही स्तर पर रखकर जल छोड़े जाते हैं। तीसरी विधा पात-समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्टय यह है कि इसमें एक बड़ी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गड़े हुए खम्भों (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्हीं खम्भों के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टंकियों में भी वैसा ही देखते हैं। चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

समरांगणके इस यन्त्राध्याय में इन चारों वारि-यन्त्रों के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र संकेतित किए गए हैं जैसे दारूमय-हस्ति-यन्त्र जिसमें कितना वह पानी पी रहा है, कितना छोड़ रहा है—यह दिखाई नहीं पड़ता। उसी प्रकार फौहारों underground conduit) का भी इन विवरणों से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चंडीगढ़ के समीप एक अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल-कालीन विलास-भवन पिञ्जौर उद्यान के नाम से यहां पर पर्यटकों का आकर्षक केन्द्र है, वहां पर इस प्रकार के वारि एवं धारा यन्त्रों की सुषुमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इन निदर्शनों से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि-यन्त्रों के साथ इन धारा-यन्त्रों को नहीं लाएं। धारा-गृह स० सू० के इस यंत्राध्याय में बड़े ही विवरणों एवं प्रकारों से प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरंजक, पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते हैं। स्थपति की चार श्रेणीयां हैं :–

१ स्थपति २ सूत्रग्राही
३ वर्द्धकि तथा ४ तक्षक

धारा-यन्त्रों के निर्माण में इन चारों का कौशल एवं विलास दिखाई पड़ता है। धारा-गृहों के निम्न पांच वर्ग प्रतिपादित किए गए हैं :—

१ धारा-गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नन्द्यावर्त।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान क Shower Bower के रूप में विभावित कर सकते हैं। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग में सभी राज-भवनों—आवास-भवनों एवं विलास-भवनों के अनिवार्य अंग थे। यह धारा-गृह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के प्रोल्लास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान-वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्व फारस की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है; उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहों का मुगलों ने यहां पर श्रीगणेश किया था, वह भी अत्यन्त

भ्रांत है। यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमें धारा-गृहों के नाना प्रकार एवं स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है। मध्यकालीन स्मारकों में कोई भी ऐसा धारा-यंत्र इस देश में नहीं प्राप्त होता है जो मुगलों से पूर्व बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत के विभिन्न प्राचीन काव्यों को देखें—कालिदास, भारवि, माघ सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यों में इन धारा-यन्त्रों के बड़े आकर्षक और महत्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत की निम्न पंक्ति पढ़ें :-

"नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यंत्रधारागृहत्वम्"

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहों में जो हमने एक प्रवर्षण की विधा दी है, इसको "कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ में भी इस विधा को "अनुरकणमेकं जलमुचाम्" के नाम से स्वयं प्रतिपादित किया है। धारा-गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप में पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्षण पर भी थोड़ा सा संकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा-गृह बनाया जाता है, जिसमें एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भे बनाए जाते हैं, तो पुष्पक-विमान के रूप में निर्मित होता है। इस धारा-गृह के केन्द्र में जलाशय का निर्माण होता है, जिसमें एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वहीं पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारों ओर सुन्दर युवतियों की प्रतिमाए बनाई जाती हैं, जिनकी आंखें इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यों ही ऊपर का जलाशय पानी से भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यों ही इन प्रतिमा-चित्रों से पानी निकलने लगता है और एक महान् मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहाँ पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्त.पुर है। यहां पर केवल थोड़े से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार,, राजदूत यहां पर आ सकते हैं। पांचवीं कोटि नन्द्यावर्त की है, जिसके निर्माण में स्थापत्य एवं चित्र-कौशल भी अनिवार्य हैं, क्योंकि यह धारा-गृह नन्द्यावर्त, स्वस्तिक आदि विच्छित्तियों से अलंकृत होना आवश्यक है। यह आंख-मिचौनी के लिए बड़ा उपादेय माना

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ में अनुवाद-स्तम्भ को ध्यान से पढ़ें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७. **दोला-यन्त्र**—इसको रथ-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं:—

१. बसन्त २. मदनोत्सव ३. वसन्त-तिलक ४ विभ्रमक तथा ५. त्रिपुर।

जहां कहीं भी हमारे देश में मेले होते हैं वहां पर झूले अवश्य गाड़े जाते हैं और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं, घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यंत्राध्याय में दोला-यन्त्रों के जो विवरण प्राप्त होते हैं, वे इतने प्रकृष्ट हैं कि वे साक्षात् यन्त्र हैं, जिन में यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप झूलों के हम आज देखते हैं, वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे बसन्त-तिलक, वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानों तीन नगरियां दिखाई पड़ रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol. I. Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana-Sutradhara में इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ में विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र:—अब आइये यान-यन्त्र पर। हमें उस पर विशेष रूप से कीर्तन करना है यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी, उसको यहां पर अन्तिम विधा में विवेच्य माना है। इस यंत्राध्याय में यान यन्त्र अर्थात् विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है, वह इस यन्त्र की सब से बड़ी विभूति है, जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ में कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थों—काव्यों, नाटकों आदि में यद्यपि सर्वत्र ही सँकेत प्राप्त हैं, परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता जन-श्रुतियों की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनों तक मध्य भारत के गांव-गांव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार में अश्वमुखी नाम का एक विमान था, तो विमान-रचना भी इस काल में अवश्य थी। परन्तु तो फिर विमान-यन्त्र की रचना में जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमें

***टि०** यद्यपि हमने यन्त्रों की षड्-विधा ही दी है परन्तु रक्षा और संग्राम (जो एक ही विधा हैं) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होते हैं अर्थात् अग्नि और पारा तथा आकार और संभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढिए :—

लघुदारुमयं महाविहंगं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढः पूरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढ़कुम्भान् ॥
अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन।
व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर संकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन में सारे विवरण प्राप्त नहीं होते, तथापि रचना-प्रक्रिया अज्ञात नहीं थी, चूंकि यह काल सामन्त-वादी (Aristocratic Age) था, अतः प्राकृत जनों के लिए यह भोग और विलास नहीं प्रदान किए गए। अतएव इनका एक-मात्र राज-भोग में ही गतार्थ किया गया। अतः इन विद्याओं एवं कलाओं का संरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अतः शास्त्रीय ढंग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना दिया जो निम्न श्लोक को पढ़ने से प्राप्त होता है :—

"यंत्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्।
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल, सोपदेश शास्त्राभ्यास, वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यांत्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवार्य अंग हैं, तथापि यह बहाना भी तार्किक नहीं है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाङ्मय के रहस्य की कुंजी रहस्य-गोपन है। अन्त में इस यंत्राध्याय की समीक्षा में यह अवश्य हमें स्वीकार करना है कि हमारे देश में यन्त्र-विद्या की कमी नहीं थी।

भारत की प्राचीन संस्कृति में मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनों ही अपनी अपनी दिशा में विकास एवं प्रोल्लास की ओर जाते रहे; परन्तु जिस प्रकार वैदिक युग में मंत्रों का प्राबल्य था, फिर कालान्तर में विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में तन्त्रों का इतना प्राबल्य हुआ कि यन्त्रों के भौतिक विकास को

प्रश्रय न देकर एक-मात्र इनको चित्र में चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगों ने मन्त्र-बीज, तंत्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्हीं उपकरणों से एवं उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रों को एक-मात्र नाम-मात्र की अभिधा में गतार्थ कर दिया।

बात यह है कि समरांगण-सूत्रधार के यंत्राध्याय के प्रथम श्लोक (मंगलाचरण) को पढ़ें, साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढ़ें जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं, तो हमारे इस उपर्युक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रों को अध्यात्म-विभूति में पर्यवसित कर दिया अन्यथा हमारा देश इस यांत्रिक विज्ञान से पीछे न रहता :—

जडानां स्पन्दने हेतुं तेषां चेतनमेककम्।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम्॥
भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम्।
भूतानि बीजमखिनान्यपि संप्रकल्प्य यः सन्ततं भ्रमयति स्मरजित्सवोव्यात्॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोद्घात में पहले ही यह संकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं, चित्र का अर्थ वास्तव में प्रतिमा है; अतएव इस अध्ययन में चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणों से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों में विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो में कवलित कर सकते हैं १. चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्ध एवं चित्र अर्थात् प्रतिमा आंशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर कितने ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, थोड़ा सा संकेत करना आवश्यक होगा ; पुनः आलेख्य-कला का ललित कलाओं में क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय, कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्रकला के अंगों (चित्रांग) तथा विधाओं (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थों की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वर्तन एवं वर्ण-संयोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार दाक्ष्य भी चित्र-विद्या का प्रमुख अंग है। वास्तु, शिल्प, एवं चित्र की दृष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप में नहीं परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनों में प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनों ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलों के दरबार में जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास में आज भी विद्यमान हैं, वे बिना अंडक-वर्तना (बादाम:) के कोई चित्र नहीं बनाते थे। इस प्रकार विष्णु-धर्मोत्तर, समरांगण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनों ग्रन्थों की दृष्टि से अंडक-वर्तना चित्र-कौशल में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि में सबसे बड़ा सूक्ष्मेक्षिका-कौशल

क्षय-वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण-विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एवं वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-कौशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियां (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है, जिसमें स्थावर और जंगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टाएं तथा उनकी क्रियाएं अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है, जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरांगण-सूत्रधार ही है, जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, श्रृगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहां उसने श्रृंगार-प्रकाश की रचना की वहां उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरांगण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद मे खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टांग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखे तथा परिशीलन करें तो वहां पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है :—

विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।।
दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्।।

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत अवश्य है, परन्तु उसमें प्रतिपादन नहीं। अतः इस कमी को समरांगण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक-मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं हैं, उसमें इस इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजकों की आवश्यकता है, तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते । जिस प्रकार कोई युवती अतिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृंगारों से सुसज्जित, नाना विलासों से मंडित, अनेक नेपथ्यों से विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एक-मात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back-grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकूत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हमें अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका से द्रष्टव्य है :—

१. चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ,
२. चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
३. चित्रांग (Elements-Constituents and Types),
४. वर्तिका तथा भूमि-बन्धन,
५. अंडक-प्रमाण,
६. लेप्य-कर्म,
७. आलेख्य—कर्म-वर्ण एवं कूर्चक, कान्ति एवं विच्छत्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धान्त,
८. आलेख्य-रुढियां (Conventions),
९. चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,
१०. चित्र-शैलियां-पत्र एवं कण्टक,
११. चित्रकार,
१२. चित्रकला पर ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि :—
    (अ) पुरातत्वीय,
    (ब) साहित्य-निबन्धनीय ।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ :—संस्कृत में केवल चित्र पर निम्नलिखित पांच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं :—

१. विष्णुधर्मोत्तर—तृतीय भाग-चित्रसूत्र ;
२. समरांगण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन में चित्र-शास्त्रीय अध्याय-तालिका ;
३. अपराजित-पृच्छा ;
४. अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) ;
५. शिल्प-रत्न ।

इन ग्रन्थों (पूव एव उत्तार मध्यकालीन कृतियों) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र-लक्षण है । नग्न-जित् के सम्बन्ध में ब्राह्मणों (ब्राह्मण-ग्रन्थों)में भी संकेत मिलते हैं । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य से तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद हुआ था, जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I.H.Q. Vol. X 1933) जिन दो अन्य चित्र-सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थों की सूचना दी है, वे हैं.

१. सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र;
२. नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कन्नड भाषा, से संस्कृत में रुपान्तरित किय गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र-शास्त्रीय कृतियों के सम्बन्ध में खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि में ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत म ने जा सकते हैं ।

जहां तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टला क्रेमिरिश को है, जिन्होंने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र-सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी । उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) में सर्व प्रथम सारे ग्रन्थों को लेकर अनुसंधानात्मक एवं शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ में प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानों ने बड़ी पशंसा की । यह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अंग था । महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानों की भूरि प्रशंसा से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला। यह ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा गया था। वैसे तो हिन्दी में मैंने प्रतिमा-विज्ञान Iconography पर एक वृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हूं, जो मेरे इस दश-ग्रन्थ-आयोजन का वह प्रमुख अंग था। चित्र पर अभी तक हिन्दी में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ। अतः अब मैं अपने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहां तक समरांगण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयों से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन में संक्षेप रूप में नवीन दृष्टिकोण से रखने का प्रयास करूंगा।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थों पर पहले ही संकेत कर दिया है। उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायों की अवतारणा की यहां पर संगति सार्थक नहीं। अतः समरांगण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायों के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं कि समरांगण-सूत्रधार का भवन-खंड, प्रासाद-खंड, राज-भवन-खंड ये सभी खंड सम्बद्ध एवं परिपुष्ट हैं, परन्तु चित्र-खंड गलित तथा भ्रष्ट भी है। चूंकि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाएं जो पाषाणी हैं अथवा धातूत्था हैं, वे इस सन्दर्भ में अविवेच्य नहीं हैं। चित्र पर (मृन्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा, रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमें केवल एक ही अध्याय आलेख्य-चित्र में परिगणनीय नहीं है वह है :—

लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

अतः इसको हम प्रासाद-शिल्प में प्रासाद-प्रतिमा के रूप में व्यवस्थापित करेंगे। इन अध्यायों की तालिका की ओर संकेत करने के पूर्व हमें यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अध्याय, आलेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनों के सर्व-सामान्य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं :—

१ देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण ;
१ दोष-गुण-निरूपण ;
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण ;
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,

५ पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहां तक इन अध्यायों की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वतः प्रकट है, अतः वहीं द्रष्टव्य हैं और यहां पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक-मात्र सम्बन्धित हैं, उन अध्यायों की तालिका निम्न है :—

चित्रोद्देश,
भूमि-वन्धन,
लेप्य-कर्म,
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र-कला के उद्भव में हमारे देश में दो दृष्टि-कोणों ने इस ललित-कला को जन्म दिया। वैसे तो कला, संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एवं संस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाएं होंगीं। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनों को ही माप-दण्ड के रूप में परिकल्पित किया गया है। वैदिक इष्टि (यज्ञ-संस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एवं देव-पूजा) ने अपने महान् प्रकर्ष से इस देश में पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात में चित्र पद की परिभाषा में प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अतः जहाँ पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा, जैसे पार्थिव लिंग) एवं धातुजा प्रतिमाएं पूजा के लिए बनाई जातीं थीं, क्योंकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एवं ईश्वराराधन कर सकते थे; परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नहीं परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यों ने स्पष्ट उद्घोष किया :—

"अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिता."

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस-व्यापार उपासनम्"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

"आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम् ।
पंच-यज्ञ-परो नित्यं गृहस्थः पञ्च पूजयेत ॥"

जहां प्रासादों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएं पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट. कुडच चित्र भी उसी प्रकार पूज्य वने । हयशीर्ष-पंचरात्र वैष्णव आगमों और तन्त्रों में एक प्रमुख स्थान रखता है। उसका यह निम्न प्रवचन पढ़ें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है :—

यावन्ति विष्णुरुपाणि सुरुपाणीह लेखयेत ।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगतं यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रं यस्मात स्फुटं स्थितः ।
अतः सन्निधिमायाति चित्रजासु जानर्दनः ॥
तस्मिञ्चित्रार्चने पुण्यं स्मृतं शतगुणं बुधैः ।
चित्रस्थं पुण्डरीकाक्षं सविलासं सविभ्रमम् ॥
दृष्ट्वा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसुसञ्चितैः ।
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरैः महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थः पूजनीयस्तु देवो नारायणः प्रभुः ।
—हयशीर्षपंचरात्रात्—

लगभग दो हजार वर्षों की परम्परा है कि जो भी यात्री, दर्शनार्थी, पुरी जगन्नाथ के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रा करता है, वह भगवान् जगन्नाथ के पटों को जरूर लाता है। आज भी प्रायः उत्तरापथ में प्रत्येक घर में स्त्रियां अपने पुत्रों के आयुष्य एवं उनके कल्याण के लिए किसी न किसी दिन विशेष कर वासन्त मासों (चैत्र एवं वैशाख) में किसी न किसी चन्द्रवार के दिन पट पर भगवान् जगन्नाथ की पूजा करती हैं, नाना प्रकार के मिष्टान्नों से उनका भोग लगाती हैं एवं वासन्त कुसुमों विशेषकर पलाश पुष्प (टीसू) अवश्य चढ़ाती हैं। अतः उपर्युक्त यह हयशीर्ष-पंचरात्रीय प्रवचन कितना अधिकृत एवं अति प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापक एवं उद्बोधक है, वह अनायास संगत एवं सुप्रतिष्ठित हो जाता है।

यह तो हुआ धार्मिक उद्भव, जहां तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमें वात्स्यायन के काम-सूत्र में प्रतिपादित चतुष्पष्टि-कला (६४ कलाओं) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता, नागरिकों के जीवन के अभिन्न अंग की प्रतीकात्मता को दृढ़ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर में रंग का प्याला और रंगने की लेखा (bowl and brush) दोनों गृहस्थी के अनिवार्य अंग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यों को पढ़ें, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहां विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उद्भव में चित्र-शास्त्र की सर्वप्रथम कृति एवं अतिप्राचीन आधिकृत ग्रन्थ नग्न-जित् के 'चित्र-लक्षण' में जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहां अवतार्य है :—

"पुरानी कहानी है कि एक बड़ा ही उदार, धर्मात्मा तथा पूतात्मा राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाएं सानन्द थीं। अकस्मात् एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार में आ पहुंचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला 'ऐ राजन्, सत्यतः आपके राज्य में पाप है, नहीं तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल में कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पंजों से छुड़ाओ और उस लोक से पुनः इसी लोक में लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी, तो फिर दोनों में घनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। तत्क्षण वे वहां आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन्! जीवन एवं मरण तो कर्म पर आश्रित हैं। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नहीं। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमें जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा :—

"यतः तुमने इन नग्नों—प्रेतों को भी जीत लिया—अतः तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। संसार में यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

आचार्य हैं, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एवं चित्र-विद्या पढ़ायेंगे।"

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एवं अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहां चित्रोत्पत्ति वृतान्त उद्धरणीय है :—

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही हैं। जब भगवान् नारायण वदरिकाश्रम में मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हे हठात् चित्र-विद्या को जन्म देना पड़ा। कहानी है कि नर एवं नारायण दोनों ही इसी आश्रम में साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओं की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं, रिझाती हैं। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा में भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरन्त ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-औषधियों को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अतः ये सारी की सारी दसों अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं। यही अप्सरा पुनः सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वसी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढ़ें, तो वहां पर शास्त्रीय उद्भव पर बड़ा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप में विष्णु-धर्मोत्तार में चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा ही मौलिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य एवं क्षेत्र की ओर सुन्दर एवं महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर में निराकार की कल्पना एवं उसकी साकार रूप में पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरुक्त न कोई रूप रखता है न गंध, न स्पंद, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा में मार्कण्डेय का उत्तार है कि प्रकृति और विकृति वास्तव में परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी, उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव उसकी रूप-कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं। जैसा कि हमने पहले ही रामोप-निषद् का प्रवचन पाठकों के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा में चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एवं क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बड़ा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एवं जंगम को चित्र की कोटि में केलि करा रहा है। निम्न अवतरण पढ़िये :—

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्म विष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य स्वेदजाण्डजरायुजाः।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागराः॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवाः सर्वे संसारद्वीपसागराः॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपकाः।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम्॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीदं परात्परम्।
आत्मवद्वै सर्वमिदं ब्रह्म तेजोऽनुपश्यताम्॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्चि मयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः॥
विश्वं विश्वावतारश्च त्वनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदि चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा॥
शिवशक्तेर्यथारूपं संसारे सृष्टिकोद्भवः।
चित्ररूपमिदं सर्वं दिनं रात्रिस्तथैव वै॥
निमिषश्च पलं घटयो यामः पक्षक एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः॥
चित्ररूपमिदं सर्वं संवत्सरयुगादिकम्।
कल्पादिकोद्भवं सर्वं सृष्टयाद्यं सर्वकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारचिता तथा।
तेषां चित्रमिदं ज्ञेयं नानात्वं चित्रकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिगणाः सर्वे तद्रूपाः पिण्डमध्यगाः।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि॥
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम्।
चित्रावतारे भावं च विधातुर्भाववर्णतः॥
आत्मनः च शिवं पश्येद् यद्वय्य जलचन्द्रमाः।

तद्वच्चित्रमयं सर्वं शिवशक्तिमय परम् ।।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षं चित्रमयं तथा ।
शिवशक्त्यालयं चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ।।
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममार्गतः ।
लीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ।।
चित्रावताररूपं तु कथितं च परात्परम् ।
यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्थावरजंगमम् ।।
देवो देवी शिवः शक्तिः व्याप्तं यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीवमध्ये च जीवकम् ।।
कूपो जले जलं कूपे विधिपर्यायतस्तथा ।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वं तथैव च ।।

यह नहीं कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति अथवा उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था। चित्र-कला और चित्र-विद्या का, भौतिक सेवन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हम पहले ही इस सम्बन्ध में थोड़ा सा संकेत कर चुके हैं (देखिए वात्स्यायन का युग और उस समय की ६४ कलाएं)। गुप्त-कालीन इतिहास को पढ़ें और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो एसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के जीवन में चित्र-कला एक अभिन्न अंग थी। पुनः वास्तु-शास्त्रीय एवं शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु अथवा शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य अथवा लेप्य (Paintings) के बिना पूर्ण कृति नहीं मानी जा सकती। जन-भवनों (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) में भी चित्र-सम्बन्धी योज्यायोज्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० सू० में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन हैं (दे भवन-निवेश)। शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प-चित्र का अन्योन्याश्रय एवं अभिन्नता प्रदर्शन करता है:

"एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः ।
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रतम् ।।"

अस्तु, इस थोड़ी सी समीक्षा में उद्देश्य, उत्पत्ति एवं विषय—सभी पर कुछ प्रकाश पड़ चुका। अब आइये—चित्रांगों पर।

अंग अवयव तथा विधा :—

षडङ्ग-चित्र :—वात्स्यायन के काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ टीका-कार यशोधर ने निम्न कारिका में चित्र के प्रधान अंगों का करामलकवत् प्रतिपादित

किया है :—

"रूपभेदा: प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडङ्गकम् ॥"

अर्थात् चित्र-कला के हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में निम्न चित्रांग न केवल कला की दृष्टि से बल्कि रसास्वाद की दृष्टि से भी ये अंग प्रतिपादित किए गये हैं, लेकिन चित्र को हम दो दृष्टियों से समीक्षा करेंगे एक दर्शक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नहीं है चित्रालोकन अथवा चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टांग उपकरणों पर आश्रित है। इस प्रकार हम दोनों तालिकाओं को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—नाना आकार; (२) प्रमाण; (३) लावण्य (सौन्दर्य); (४) भावयोजन अर्थात् भावाभिव्यक्ति जो रसाभिव्यक्ति पर आश्रित है (देखिए रस और रसदृष्टियां—अनुवाद); (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनों साक्षात् एक प्रतीत हो रहे हैं; (६) वर्णिक भंग अर्थात् वर्ण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त एवं प्रक्रिया के मौलिमालायमान चित्र-कौशल हैं।

ब—चित्र-उपकरण:—

(१) वर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा अथवा ब्रुश,
(२) भूमि-बन्धन (Canvas or Background),
(३) लेप्य-कर्म (Drawing the Sketch),
(४) रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of form)
(५) वर्ण-कर्म—नानाविध रंग,
(६) वर्तना—छाया और कान्ति की उद्भावना,
(७-८) टि० दोनों उपकरण मूल में भ्रष्ट हैं।

स—चित्र-विधा:—

अब आइये चित्रों की विधाओं पर। विष्णुधर्मोत्तर में चित्रों के चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं :—

(१) सत्य, (३) नागर तथा
(२) वैणिक, (४) मिश्र।

सत्य से तात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा लोक वैसा ही चित्र, जिस को हम True, Realistic, Oblong frame के रूप में परिकल्पित कर सकते

हैं; वैणिक की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पद वीणा से बना है तो हम इसको चतुरश्र अर्थात् चौकोर आकृति में भी विभावित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन में वि० ध० ने दीर्घांग, सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरश्र तथा सुसम्पूर्ण—इन विशेषणों से विशिष्ट किया है। जहां तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames में परिकल्पित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहाँ तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नहीं। वह इन सब विधाओं का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I. H Q. Vol. X, 1933)। पाठक उस को वहीं पर पढ़ें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण संकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हज़ार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में चित्र-विद्या में विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बड़ी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रों की विधा पर काफी शास्त्रीय एवं कलात्मक स्वत: प्रकर्षता प्राप्त हो गई। समरांगण-सूत्रधार में बड़े ही वैज्ञानिक एवं क्रामिक दिशा से चित्रों की विधा को चित्र-बन्धन पर आधारित कर रक्खा है। अतः इस अधिकृत ग्रन्थ की दृष्टि में चित्र के प्रकार केवल तीन हैं:—

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),
(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा
(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) में चित्रों की विधा पंचधा बताई गई है:—

(१) विद्ध, जो वास्तव में यह विद्ध वि. ध. के सत्य से अनुषंगित करता है। वहां पर लोक-सादृश्य अर्थात् दर्पण-सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है;

(२) अविद्ध—इस को हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing के समान परिकल्पित कर सकते हैं;

(३) भाव से तात्पर्य भावव्यक्ति से है। मानसोल्लास की दृष्टि में इस चित्र के उन्मेष में श्रृंगार आदि रसों का महत्वपूर्ण स्थान है;

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपर्युक्त भाव से नहीं, यहां रस का अर्थ द्रव हैं, जो वर्ण-भंग एवं वर्ण-विन्यास एवं वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है ;

(५) धूली-चित्र—यह एक प्रकार से प्रोज्ज्वल वर्णों का आधायक है।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, कुछ थोड़ा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

शिल्प-रत्न में चित्रों की विधा केवल तीन दी गई हैं :—

(१) रस-चित्र, जो मानसोल्मास के भाव-चित्र में परिगणित किया जा जा सकता है;

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०;

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र-प्रकारों का यह स्थूल समीक्षण यहां पर्याप्त है, विशेष विवरण मेरे अंग्रेज़ी ग्रन्थ Royal Arts.—Yantras and Citras में देखिये।

वर्तिका:—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहां पर कैनवास है। आलेख्य में इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसका हम वर्तिका की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनों को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। वर्तिका को हम ब्रुश नहीं कह सकते। यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन में ही उपयोगी मानी जाती है। चित्र-कला के अष्ट-विध उपकरणों में वर्तिका का संकेत हम कर ही चुके हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझा। डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mugh l Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप में समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदों में (Crayon) के रूप में विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत में आलेख्य चित्रों की रचना में (Crayon) के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव में उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। संयुत्त-निकाय (द्वितीय, ५) में इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रों और (Panels) में भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार-चरित एवं

प्रसन्न-राघव में भी क्रमशः इसे वर्णा-वर्तिका तथा शलाका क नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रों के बनाने में जो खाका खींचते थे वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आगे आधुनिक काल मे जब पैंसिलों का प्रयोग आरम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रों में चित्र-विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनियां अनिवार्य थीं—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात् Canvas or Background के लिए होता था। पुनः वर्ण-विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुनः चित्र के उन्मीलन के लिए एवं उसमें प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र में जो सर्वमौलिमालायमान प्रकर्ष शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "क्षय-वृद्धि का सिद्धांत" अर्थात् कहां पर किस अंग में भाव-व्यक्ति के लिए, लावण्य लाने के लिए एवं सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक- सादृश्य एवं विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूच्य है, प्रदश्यं हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र-स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास में जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ़ करती है :—

कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कर्णिकाकृतिम्।
वर्तिं कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत्॥

यह वर्तिका-व्याख्या समरांगण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ में जो हमने आलेख्य-चित्र में तीन लेखनियों (वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी) का जो संकेत किया है, उनमें तूलिका (Paint-Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओं के लिए है और इसकी दूसरी विधा तिन्दु के नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनों की रचना-प्रक्रिया में भी बड़े कौशल की आवश्यता होती थी। विशेषकर बंशवृक्ष से यह बनती थी, क्योंकि बंश ही इन लेखनियों के लिये उस समय बड़ा उपयुक्त माना जाता था और उस में ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहां तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरांगण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२, १-३, तथा परिमार्जित समरांगण ४६, १-३) में देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहां पर इस वर्तिका-बन्धन में कितने अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहां से, किस क्षेत्र से, गुल्म, वापी, वृक्ष-मूल आदि आदि स्थानों से—मृत्तिका लानी चाहिये। फिर उसमें कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, औषधियां आदि मिलाई जाती थीं और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस की वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एवं चित्र की प्रौढ़ प्रक्रिया एवं परम्परा पर प्रकाश डालती है।

भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में चित्रों के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे कुछ मौलिक एवं निर्भ्रान्त नहीं हैं सत्य, वैणिक, विद्ध, अविद्ध, धूलि, रस आदि सब मेरी दृष्टि में वर्गानुरूप स्पष्ट नहीं हैं, परन्तु समरांगण की दृष्टि में यह दिशा बड़ी वैज्ञानिक है, क्योंकि पुरातत्त्वीय-अन्वेषणों में प्राप्त जो निदर्शन मिलते हैं, वे भी समरांगण के चित्र-प्रकारों की पूरी पुष्टि करते हैं। प्राचीन, पूर्व एवं उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक-निबन्धनीय चित्र मिलते हैं वे या तो कुड्य-चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी में भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—"पटस्थो नारायणो हरिः"—(दे० ह० प०)। इसी प्रकार नाना भाण्डागारों में ऐसे चित्र-स्मारक-रूप में बड़ी मात्रा में मिलते हैं। अतएव स० सू० में जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-बन्धन भी त्रिविध है।

(१) कुड्य-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas);
(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas);
(३) पट-भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनों के निर्माण की प्रक्रिया बड़ी ही एक प्रकार की व्रतचर्या-रूपा है। समरांगण-सूत्रधार (दे० अनु०) का आदेश है कि भूमि-बन्धन के लिये कर्ता अर्थात् चित्रकार, भर्ता अर्थात् संरक्षक, शिक्षक अथवा आचार्य या गुरु—इन सब को पहले व्रत रखना चाहिये। फिर जो भूमि-बन्धन के पूर्व वर्तिका निर्मित हो चुकी है, उसकी पूजा करनी चाहिए। पुनः यथाभिलषित भूमि-बन्धन खर अथवा मृदु—तदनुरूप पिण्डादि, कल्कादि, चूर्णादि एवं द्रवादि इन सबों से रोमकूर्चक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए। यह एक प्रकार की आरम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी संज्ञा शिक्षिका-भूमि दी गई है। अस्तु अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनों की अलग-अलग समीक्षा करेंगे।

कुड्य-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रों के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये, पुनः क्षीर-द्रुमों जैसे स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्षु आदि के क्षीर-रस को एक सप्ताह तक रक्खा जाये। शिंशपा, आसन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वृक्षों के रस में उपर्युक्त क्षीर-द्रुमों के रसों को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। पुनः दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृतिका-लेपन से उस का लिम्पन करना चाहिये। मृत्तिका मार्दवी होनी चाहिये और उसमें ककुभ, माष, शाल्मली, श्रीफल वृक्षों के द्रवों को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चर्म-प्रमाण में दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात् अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण-विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया-कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रों को देखिये तो Frescos चित्र ही वहां के सब से बड़े अनुपम एवं समृद्ध निदर्शन हैं। वे इसी समरांगण-सूत्रधार की कुड्य-भूमि-निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta Vol. 1, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-बन्धनों में मृत्तिका, गोबर, चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एवं द्रव यथा-पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एवं समर्थक हैं। तन्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य-चित्रों को देखें तो वहां पर भी कडि-शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक-चित्रों में साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरांगण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी में लिखा गया था। अतएव शास्त्र एवं कला दोनों का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा से इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहां तक मुगल चित्रों एवं राजस्थानी चित्रों, जिन को हम उत्तर मध्य-कालीन कृतियों के रूप में विभावित कर सकते हैं, उनमें भी इसी प्रकार का

भूमि-बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानों ने मुगल-कालीन भित्तिक-चित्रों के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको co Buono की संज्ञा दी है।

अस्तु, हमें यहां पर विशेष विस्तृत समीक्षा में जाने की आवश्यकता नहीं। हमें तो समरांगण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठकों के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनों में कुड्य भूमि-बन्धनों के बाद पट्ट-भूमि-बन्धन पर आ रहे हैं।

पट्ट-भूमि-बन्धन :—इस प्रक्रिया में निम्बा बीजों को लाकर उनकी गुठलियों को निकाल कर पुनः उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन में रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलकों पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हों तो शालि-भक्त का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

पट-भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार इस पर भमि-बन्धनों की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं; परन्तु समरांगण-की दिशा में यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत में तथा पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन भारत में पट-चित्रों का बड़ा प्रसार था। बौद्ध-ग्रन्थों जैसे संयुत्त-निकाय, विशुद्धि-मग्ग, महावंश, मंञ्जुश्री-मूलकल्प, ब्राह्मण ग्रन्थों में जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र में, भास के दूत-वाक्य में, माधवचार्य की पंचदशी में इस प्रकार के नाना संदर्भ प्राप्त होते हैं।

उड़ीसा, पट-चित्रों का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रों का संकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म में वास्तव में पट-चित्रों का बड़ा माहात्म्य है। इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष-पंचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोल्लास की ओर संकत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उड़ीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट-चित्रों की बड़ी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ श्रनाथद्वार में भी इन पट-चित्रों की महिमा है।

हमने अपने Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras में इस समरांगणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों, तथा स्मारकों के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

चित्राधार एवं चित्र-मान :—भूमि-बन्धन के उपरांत बिना आधार एवं प्रमाण के चित्र की रचना असंभाव्य है । समरांगण-सूत्रधार में इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एवं मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बड़ा ही कठिन था। अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नों यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होंने इस पर बड़ी प्रशंसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनको सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रों के अनुसन्धान एवं अध्ययन में बड़ा योग-दान मिला है । अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पड़ते हैं । वैसे तो अण्डक का अर्थ वास्तु-कला की दृष्टि से Cupola है, लेकिन तक्षण एवं मूर्तिकला अर्थात् चित्रकला में मेरी दृष्टि में यह एक प्रकार का खाका (Outline) है । जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात् शृंग या शिखर प्रासाद-कला का सूचक एवं द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा तथैव प्रतिष्ठापक है ।

समरांगण-सूत्रधार में नाना अण्डकों के मान पर विवरण दिये गये हैं जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव, नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

क्रम सं०	संज्ञा	प्रमाण		विवरण
		लम्बाई	चौड़ाई	
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	....
३	शिशुकाण्डक	५	४	....
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवृत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	....
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	,,

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६½	५½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणों के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र में अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका से सूच्य हैं :

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौड़ाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ. पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब. मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स. कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड़)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरांगण-सूत्रधार में नाना रूपों के भी बड़े ही मनोरंजक प्रकार, वर्ग, एवं विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

जातियां	विधा
१ देव	त्रिविध—सुरज, कुम्भक, ...
२ दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३ असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीर्णक
४ राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५ मानव	पंच-विध—हंस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६	द्विविध—मेष, वृत्ताकर
७ वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्मक
८ प्रथम	त्रिविध—कूष्माण्ड, कर्वट, तिर्यक्
९ किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुर्वट, काश

१०	स्त्री	पंचविधा—बलाका, पौरूषी, वृत्ता, दंडा,......
११	गज—जन्मतः	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मृग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, ऊषराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश-विध :—
	हरिण	गण्डक
	गृध्रक	गज
	शशक	क्रोड
	कुक्कुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्दूल	श्वान
	वृक	मर्कट
	अजा	खर

टि० :—यह रूप-तालिका समरांगण-सूत्रधार को छोडकर अन्य किसी भी चित्र-ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र-विद्या का सर्व प्राचीन एवं प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, उसमें केवल संकेत-मात्र है, तालिका एवं विवरण नहीं मिलते।

यह अण्डक एवं काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढ़ियां (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र में चि य के उद्भावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान् बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम को हम चित्र में चित्रित करना चाहते हैं, तो उन्हें हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लांछनों से लांछित यदि नहीं करते हैं, तो कैसे ऐसे महांपुरुषों के चित्र चित्र्य हो सकते हैं? सभी महाराजे, अधिराजे भी, इसी प्रकार के महापुरुषों तथा दिव्य देवों के सदृश तेजो-मंडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओं से भी इन्हें लांछित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल, केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी में यह सब चित्र्य हैं।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अंगों, प्रत्यंगों, उपांगों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए, और उसका आकार कैसा होना चाहिए, प्रमाण—लम्बाई, ऊंचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र में अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पदमाकृति में बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया चित्र्य पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियों का चित्रण करना है तो उनकी आंख मत्स्योदर-सन्निभा विहित है। शान्त-मुद्रा, ध्यान-मुद्रा में अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर में, राजाओं, महाराजाओं, पितरों, मुनियों ऋषियों आदि की किस प्रकार की वेष-भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ में विशेष रूप से दृष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ में समरांगण-सूत्रधार के लक्षणों में इन विवरणों की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अर्ध-शीर्षक के क्षेत्र पर हमने थोड़ा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र-मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि से चित्र के षडंग में रूप-भेदों के बाद प्रमाणों का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है। वैसे तो समरांगण-सूत्रधार, विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे बृहद्-ग्रन्थों में चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु मानसोल्लास में चित्र-प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक तथा प्रौढ़ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास की सबसे बड़ी देन फलक-चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रों के निर्माण के लिए मान-सूत्रों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष-सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात् मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनों आंखों की भौहों के मध्य से, नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्षःस्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनों पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अंकित करती है, जो सिर से लगाकर पाद तक खिंचती है। जहां तक दो पक्ष-सूत्रों का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनों ओर छै अंगुल के अवकाश पर इन दोनों सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों कर्णान्त से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वों से

गुज़रते हुए, जानुओं के मध्य से पुनः खाल तथा पाद की दूसरी अंगुली, जो अंगूठे के निकट होती है, वहां पर प्रत्यवसानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान-प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) में स्थानक-मुद्रायें अर्थात् पाद-मुद्राएं बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अतएव इन्हीं सूत्रों के द्वारा जो समरांगण-सूत्रधार में ऋज्वागतादि नौ स्थानों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें मानसोल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पांच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रों के द्वारा विहित बताया गया है :—

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओं को ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्ष तथा भित्तिक की संज्ञाओं में प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु-स्थान :—सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है जिस में ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर संकेत है, यहां पर भी छै अंगुल का अवकाश बताया गया है।

अर्द्धर्जु क-स्थान :—इसका वैशिष्टय यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अंगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अंगुल का।

साची-स्थान :—इस में विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अंगुलों का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अंगुलों का ;

अर्धाक्षिक स्थान :—इस की अन्य सूत्रों के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहां पर ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अंगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अंगुल।

भित्तिक-स्थान :—यहां पर ज्यों ही हम पहुंचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड़ गया और पक्ष-सूत्रों का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एवं मान-विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारों पर आकर पुनः अन्त में समलम्बित मानों (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे, जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत में और पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल में चित्र विद्या एवं कला कितनी प्रौढ़ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रवृद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक शास्त्रों का भी प्रतिबिम्बन करते हैं।

समरांगण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहां पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते हैं :—

८ परमाणु—१ त्रसरेणु	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अंगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अंगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर शिर से पैर तक ऊंचाई में नौ तल है केशन्त से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अंगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से मेढ्र	१ ताल
ऊरू	२ ताल	जानु	४ अंगुल
जंघा	२ ताल	चरण	२ अंगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊंचाई ९ ताल है और मौलि केशान्त चार अंगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊंचाई नौ ताल और ४ अंगुल है अथवा साढ़े नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ **मस्तक-सूत्र** (Line of the Crown)

२ **केशान्त-सूत्र** :—यह सूत्र मस्तक से चार अंगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अंगुल ऊंचे उठकर, शिर के चारों ओर जाती है ;

३ **तपनोद्देश-सूत्रः** उपर्युक्त रेखा के नीचे दो अंगुल से प्रारम्भ होती है और शंख-मध्य से जाती है,और कर्णाग्र के ऊपर एक अंगुल से प्रारम्भ होती है ;

४ **कचोत्संग-सूत्र** :—एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौहों के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त में प्रत्यवसानित होती है ;

५ **कनीनिका-सूत्र** :—जो अपांग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती हैं ;

६ **नासा-मध्य-सूत्र** :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के ऊर्ध्व-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण-मध्य में अवसानित होती है ;

७ **नासाग्र-सूत्र** :—दो अंगुल नीचें से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के शोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है ;

८ **वक्त्र-मध्य सूत्र** :—आधे अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्पृक्का अथवा कृकाटिका से गुजरता है ;

९ **अधरोष्ठ-सूत्र** :— यह भी आधे अंगुल नीचे होता है ; पुनः वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पृष्ठ पर पहुंच जाती है ;

१० **हन्वग्र-सूत्र** :—तो दो अंगुल नीचे से शुरू होती है । यह ग्रीवा से गुजरती हुई कन्धे की हड्डी पर पहुंचती है ;

११ **हिक्का-सूत्र** :—यह कंधों के नीचे से पास होता है ;

१२ **वक्षः-स्थल-सूत्र** :—सात अंगुलों से नीचे से प्रारम्भ होता है ;

१३ **विभ्रमांग-सूत्र** :—पांच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H.C.P.

१४ **जठर-मध्य-सूत्र** —छै अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

१५ **नाभि-सूत्र** :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

१६ **पक्वाशय-सूत्र** :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H .C. P.

१७ **काञ्ची-पाद-सूत्र** :—चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P

१८ **लिंग-शिरः-सूत्र** :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

१९ **लिंगाग्र-सूत्र** :—पांच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

२० **ऊरू-सूत्र** :—आठ अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

२१ **मान-सूत्र** (ऊरू-मध्य-सूत्र):—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

२२ **जानुमूर्ध-सूत्र** :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

टि० :—ये तीनों (२०-२२) सूत्र जंघाओं (Thighs) के बगल से गुजरने चाहियें ।

२३ **जान्वध-सूत्र** :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं । यह भी जानु के चारों ओर से गुजरना चाहिए ।

२४ **शक्रवस्ति-सूत्र** :—बारह अंगुल अर्थात् एक ताल से नीचे पास होना चाहिये ;

२५ **नलकान्त सूत्र** : दश अंगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ;

२६ **गुल्फान्त-सूत्र** :—दो अंगुल नीचे से प्रारंभ होना चाहिए ;

२७ **भूमि-सूत्र** :—चार अंगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अंगुल हो जाता है।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा में भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रों (Mural Paintings) में केवल उपर्युक्त चार स्थानों अर्थात् ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं। पाचवां भित्तिक-स्थान यहां पर कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि वहां पर कोई भी आननांग यहां पर प्रकाश्य एवं प्रदर्श्य नहीं होता ।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसमें हम रंगों अर्थात् वर्ण-विन्यास तथा पेंटों को नही गतार्थ कर सकते। लेप्य-कर्म का प्रयोग भूमि-बन्धन में है, जिसका साहचर्य वर्तिका से है। और वर्ण-विन्यास, जैसा हम आगे देखेंगे, उसका साहचर्य लेखनी या तूलिका से है। पीछे भूमि-बन्धन-स्तम्भ में लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है, अब यहां पर विशेष ज्ञातव्य एवं प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होता है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जंगमात्मक संसार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था। अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढंग से समर्थन करता है :—

कूपो जलं जलं कूपे विधिपर्यायतस्तथा ।
तद्विच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

अब थोड़ा सा संकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) था वह बोधव्य हो सके; परन्तु आजकल जिन भी चित्रों को देखें उनमें चित्रकारों की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं। मेरी दृष्टि में यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड़ दी है। चित्र का नैरुक्तिक अर्थ प्रतिबिम्बन है; अतः चित्र और अंग्रेजी क पद painting शास्त्रीय दृष्टि से कभी भी

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जंगात्मक संसार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमें प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु, इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य-कर्म की ओर।

लेप्य-कर्म—समरांगण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय में लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पुथुल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानों, स्थलों एवं तटों से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमश साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद में देखें।

स० सू० में लेप्य एक मात्र मार्तिक प्लास्टर अर्थात् मार्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं; परन्तु वि० ध० में तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० में वज्र-लेप के समान दृढ़ बताया गया है। डा० कुमारी स्टैला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष संगत नहीं है।

मानसोल्लास में भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी संज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहां तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसीं भी आलेख्य के लिए जो भूमि-बन्धन (कुड्य-भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट-भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा में मर्दन एवं प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रकीर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म में पहला सोपान मृतिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस-बन्धन अथवा वर्ण-बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनों बन्धन एक प्रकार से उस बन्धन में वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि-बन्धन

की प्रोज्जवलता सम्पादनार्थ हैं । अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एवं पोषक है :—

एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे,
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत्"

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

सं० सू० के चित्राध्यायों में वर्णों अर्थात् रंगों के प्रवचन नहीं प्राप्त होने । इसमें एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है । वि० ध० में तथा शिल्प-रत्न में वर्णों के सम्बन्ध में विशेष विस्तार है और जहां तक मानसोल्लास की बात है वहां तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप में परिणत हो गई है ।

वि० ध० में वर्णों की दो कोटियां प्रतिपादित की गई है, पहली कोटि में, रक्त, शुभ्र, पीत, कृष्ण तथा हरित रंगों को प्रधान रंग Primary Colours माना है । दूसरी कोटि मे शुभ्र, पीत, कृष्ण नील तथा गैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र में प्रधान रंग प्रतिपादित किए गये हैं, वे ही वि० ध० में पाए गए हैं । शिल्प-रत्न और मानसोल्लास में जिन पांच रंगों का वर्णन किया गया है, उनमें भी कुछ वैमत्य है । शिल्प-रत्न में शुभ्र, रक्त, पीत (Suit) तथा श्याम माने गये हैं । अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में शुभ्र शंख से निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खड़िया यानी गेरू से बनता है । हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ में माने गए हैं ।

जहां तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है । वर्णों के विन्यास में छाया, कान्ति एवं प्रोज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, रक्ताभ, सीसा, ईंगर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है । इस प्रकार इस उपोदघात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्य हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मालायमान कर्म है । वर्ण-विन्यास में मूल रंग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रंग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं । पुनः हम तूलिका, लेखनी ऐवं वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (साध) के साधन हैं, उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

मूल-रंग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोदघात् में विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वर्ण-तालिकाओं का संकेत किया ही है तथापि जहां विष्णु-धर्मोतर में पांच मूल रंगों की तालिका मिलती है, वहां अन्य ग्रन्थों में मूल रंगों की संख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र-कला में मूल रंगों की संख्या तीन ही है अर्थात् रक्त, पीत, नील। हमारे यहां शुक्ल को जोड़कर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नहीं माना जा सकता। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा"

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योंकि कृष्ण कज्जल–सम कहलाता है। इस प्रकार इन पांच मूल रंगों अर्थात् शुद्ध वर्णों के पृथक् पृथक् चषक (प्याले) रक्खे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनों के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा में भी चार ही मूल रंग हैं, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारों शैलियों पर आश्रित हैं। अतः यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलियों) में लेंगे। अब आइये अन्तरित रंगों अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रंग (मिश्र-वर्ण) —ये वर्ण वर्णों के परस्पर संयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। अभिलषितार्थ–चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढ़िये तो हमें इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषुमा निखरती हुई देख पड़ेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तात्व-रत्नाकर में भी मिश्र वर्णो के बड़े ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। बाण की कादम्बरी पढ़िए, तो वहां पर ऐसा मालूम पड़ता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रंग तथा मिश्रवर्ण दोनों से रंगे पड़े हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क में सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक संसार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नीले, सुनहरे, गेरूए, सफेद, कपोताभ आदि आदि शतशः रंगों की केलि इस कादम्बरी-क्रीड़ास्थली में देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग में हम महाकवि कालिदास, बाण, श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियों के काव्यों की संदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे, जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं लक्ष्य से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा-प्रतिज्ञात यहां पर अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

शुद्धवर्णा :—पूरयेद्वर्णकैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम् ।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः ॥
एकवर्णार्पितं कुर्यात्तारतम्यविभेदतः ।
अघश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत् ॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्णः प्रयुज्यते ।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्णः प्रयुज्यते ॥
श्वेतेषु पूरयेच्छंखं शोणेषु दरदं तथा ।
रक्तेष्वलक्तकरसं लोहिते गैरिकं तथा ।
पीतेषु हरितालं स्यात्कृष्णं कज्जलमिष्यते ।
शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्ताश्चत्वारश्चित्रसंश्रयाः ।

मिश्रवर्णाः—मिश्रान् वर्णानतो वक्ष्ये वर्णसंयोगसम्भवान् ।
दरदं शंखसम्मिश्रं भवेत्कोकनदच्छविः ॥
अलक्तं शंखसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ।
हरिताल शंखयुतं मेरमत्व ? सदृशप्रभम् ॥
कज्जलं शंखसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ॥
नीली शंखेन संयुक्ता कपोताभा विराजते ।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुसष्पन्निभः ॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा ।
हरितालेन मिश्रा चेज्जायते हरितच्छविः ॥
गैरिकं हरितालेन मिश्रितं गैरिता व्रजेत् ।
कज्जलं गैरिकोपेतं श्यामवर्णं निरूपितम् ।
अलक्तकेन संसृष्टं कज्जलं पाटलं भवेत् ।
अलक्तं नीलिकायुक्तं कर्बुवर्णं भवेत् स्फुटम् ॥
एवं शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदाः प्रकीर्तिताः ।

रंग-द्रव्य :—विष्णु-धर्मोत्तर में नाना-विध रंग द्रव्यों का प्रतिपादन है— कनक, रजत, ताम्र, अभ्रक, राजावन्त (हीरकक—अर्थात् हीरे की बिराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लोहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़ें जिससे न केवल रंग-द्रव्यों की तालिका ही नहीं मिलेगी, प्रत्युत ये रंग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवों के संयोग एवं मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहां पर परशीलनीय है :—

रंगद्रव्याणि कनकं रजतं ताम्रमेव च।
अभ्रकं राजवन्तं च सिन्दूरं त्रपुरेव च॥
हरितालं सुधा लाक्षा तथा हिंगलुकं नृप।
नीलं च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये सन्त्यनेकशः॥
देशे देश महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुताः।
लोहानां पत्रविन्यासं भवेद्वापि रसक्रिया॥
संकटं लोहविन्यस्तमभ्रकं द्रावणं भवेत्।
एवं भवति लोहानां लेखने कर्मयोग्यता॥
अभ्रकद्रावणं प्रोक्तं सुरसेन्द्रजभूमिजे।
चम्पाकुथोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवेत्॥
सर्वेषामेव रंगाणां सिन्दूरक्षीर इष्यते।
मातंगदूर्वारसप बद्धैः संस्तम्भितं चित्रमुदारपुच्छैः।
धौतं जलेनापि न नाशयेत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि॥

अब यहां पर जो विशेष विवेचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज़ है—कौन सा रंग है? परशियन चित्र-पदावली में एक लाजवर्दी नाम बड़ा विश्रुत है। डा. मोती चन्द्र ने इस रंग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि में यह धारणा भ्रान्त है। राजावन्त अथवा राजावर्त जो संस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एवं अपभ्रंश लजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाकों में विशेषकर गोरखपुर में नील (Blue Par-Excellence) माना जाता है। अजन्ता के चित्रों में जो इस राजावन्त (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नहीं। इसी प्रकार बंगाल के दशवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियों के प्रज्ञापारमिता-चित्रों में भी इस राजावन्त का ही परम-कौशल है। कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रंग (राजावन्त) से रंगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रंग-परंपरा के निदर्शन हैं। अब आइये वर्ण-विन्यास में स्वर्ण-प्रयोग पर।

स्वर्ण-प्रयोग :—चित्र, जैसा हम ने पहले ही प्रतिपादित किया है, वह आलेख्य और तक्षण दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान में प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुजा अथवा धातूत्था प्रतिमाओं का कितना विलास था। अतः प्राचीन भारत में प्रतिमा और आलेख्य दोनों में धातु का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता था। जहां तक चित्र का सम्बन्ध है, वहां स्वर्ण (The metal par exvellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारों की एक गहरी हावी थी जिस से चित्रों की अभिख्या, प्रोज्ज्वलता, कान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण-प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रों—कुड्य, फलक तथा पट में चित्र्य की वेष-भूषा, आकृति—अंगोपांग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओं में स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहां तक अजन्ता, एलोरवा, वाघ, बादामी आदि चित्र-पीठों में स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है :—

१. पत्र-विन्यास तथा

२. रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास :—पुराने चित्रों को देखेंगे तो उनमें स्वर्ण-पत्रों का प्रयोग होता आया हैं।

रस-प्रक्रिया :—स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एवं जब वह द्रव रूप में परिणत हो जाता था, तो उसमें फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एवं निर्यास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, वकुल-क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न में वर्णों में स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख-विधि के बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते है, जो यहां पर उद्धरणीय हैं—

शुद्धं सुवर्णमत्यर्थं शिलायां परिपोषितम्॥
कृत्वा कांस्यमये पात्रे गालयेत्तन्मुहुर्मुहुः।
क्षिप्त्वा तोयं तदालोड्य निर्हरेत्तज्जलं मुहुः॥
यावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः।
घनत्वान्मस्टण हेम न याति सह वारिणा॥
आस्ते तदमलं हेम बालार्करुचिरच्छवि॥
तत्कलकं हेमजं स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत्।

मिलितं वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ।।
लिखेदाभरणं चापि यत्किञ्चिद्हेमकल्पितम् ।।
चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ।
बाराहदंष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनकं शनैः ।।
यायवत्कान्तिं समायाति विद्युच्चकितविग्रहम् ।
सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तितः ।।
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखां विचक्षणः ।
वस्त्रमाभरणं पुष्पं मुखरागादिकं सुधीः ।।
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्ण भवत्तत ।

अब आइये तूलिका की ओर ।

तूलिका–लेखनी–विलेखा (ब्रुश) :—समरांगण-सूत्रधार में विलेखा अर्थात् ब्रुश के अर्थात् कूर्चक के पांच प्रकार बताये गये हैं। पुनः उनकी आकृति एवं निर्माण-दारू पर भी विवरण हैं। जहां तक निर्माण द्रव्य का सम्बन्ध है वह प्राय: बंश-वृक्ष (बांस) की लकड़ी का प्रयोग होता था। जहां तक इन की कोटियों और आकृतियों का प्रश्न है, वे निम्न तालिका में निभालनीय हैं ;—

	संज्ञा	आकार
१	कूर्चक	वटांकुराकार
२	हस्त-कूर्चक	अश्वत्थांकुराकार
३	भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४	चल-कूर्चक	उदुम्बराकार
५	वर्तनी	?

के. पी. जायसवाल ने (Cf. A Hindu Text on Painting—Modern Review XXX Page 37) में नवधा कूर्चकों का संकेत किया है। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में विलेखा के सम्बन्ध में बड़े ही सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। यह लेखनी इस ग्रन्थ के अनुसार त्रि-विधा है।—

१ स्थूला

२ मध्या तथा

३ सूक्ष्मा ।

पहली से लेपन, दूसरी से अंकन, तीसरी से सूक्ष्मा-लेखा-विन्यास। शिल्प-रत्न में इन तीनों लेखनियों की नव-विधा है, जो मूल, मिश्र आदि रंगों पर

आश्रित है। जहां तक इनके विवरणों का प्रश्न हैं, उनको निम्न उद्धरण में पढ़िये :—

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा।
तद्दण्डमृतुमात्रं वा विष्कम्भं षड्यवं स्मृतम् ॥
मुखे पुच्छे तदष्टांशमष्टाश्रं वाथ वर्तुलम् ॥
कृत्वाग्रे विन्यसेच्छंकुं शौडमर्धागुंलोन्नतम्।
यवाकारं च सुदृढं तत्र संयोजयेत् पुनः।
स्थूलायां वत्सकर्णोत्थमजोदरभवं परे।
चिक्रोडपुच्छजं सूक्ष्मायामरोमं तृणाग्रकम् ॥
तन्तुना लाक्षया वाथ दण्डाग्रकृतशंकुषु ॥
वध्नातु लेखनीः सम्यक् प्रतिवर्णं त्रिधा त्रिकाः।
आकृत्या च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा मध्येति सा पुनः ॥
प्रत्येकं नवधा चैवं प्रतिवर्णं तु लेखनी।
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णरसेन तु ॥
किट्टलेखावहिर्भागे लिखित्वाव्यक्तमालिखेत्।
मार्जयेत् किट्टलेखां तां पुनः सुव्यक्तमालिखेत् ॥
रक्तवर्णरसेनाथ सर्वं सम्यक् समालिखेस्।

अब आइये वर्तना पर।

वर्तना (Delineation) :—वर्तना से तात्पर्य वर्ण-विन्यास में कान्ति एवं छाया अर्थात् दीप्ति एवं अदीप्ति (Light and Shade) से है। यह वर्तना आलेख्य चित्रों का प्रमुख कौशल है। जिस प्रकार रेखा-करण (Delineation and Articulation of the form) भी आलेख्य चित्रों की परम कला है, उसी प्रकार यह वर्तना तो चित्र को कलाओं एवं शिल्पों का मुख बना देती है। वर्तना के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धान्त परमावश्यक एवं अनिवार्य हैं :—

१ क्षय घटाव)
२ वृद्धि बढ़ाव) "**क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त**
३ प्रमाण मान)

डा० स्टैला क्रेमरिश की निम्न समीक्षा (Cf. V. D. Translation—Introduction, p. 14) "Fore-shortening (Ksaya and Vrdhi) and proportion (pramana) constitute with regard to single figures the working of observation and tradition. The law of Ksaya and

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters. Pramana on the other hand, was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn."

वर्तना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारों पर उतरते हैं।

वर्तना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross-lines)

२ एरिक (Stumping)

३ विन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा-वर्तन करता है। प्रथम रेखा या तो पीताभ या रक्ताभें खींची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनों ही यही समर्थन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़िये—

'स्थानं प्रमाणं भूलम्बो मधुरत्वं विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र में चित्र्य के सभी अवयवों आदि की प्रोज्ज्वलता के लिए ये सब प्रमाण, लावण्य, विभक्ता आदि विन्यास अनिवार्य हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे० कुमार-संभव) को पढ़िए।

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं वपुर्विभक्तं नवयौवनेन'

यहां पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊंचे उठाता है। अन्त में यह भी समीक्ष्य है कि वर्तना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एवं विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात् विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनों संभव हैं—वह सब वर्तना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढ़ियां
(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा :—चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थवाद (Realism) दोनों का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढ़ियों पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलायें काव्य, नाटक, संगीत, नृत्य एवं चित्र आदर्शवाद के उत्तुंग प्रकर्ष से ही नहीं प्रभावित हैं, वरन् सांस्कृतिक

परम्पराओं एवं रूढ़ियों का भी वहां पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। जिस देश की जैसी संस्कृति एवं सभ्यता, जैसा जीवन एवं रहन-सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्परायें एवं रूढ़ियां, वैसी ही उस देश की कलायें। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात् प्रातिविम्बिक प्राभास नहीं, न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओं में यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओं के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है; तभी इन दोनों के मिश्रित प्रभाव से ये कलाएं वास्तव में प्रोल्लसित एवं प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाएं), चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपर्युक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-बध (३.५१) का श्लोक पढ़िये—जहां, मार्जार-प्रतिमा वास्तव में संजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवंश (१६.१६) का श्लोक पढ़िये वहां भी सिंह हाथियों को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एवं पुरातत्वीय सन्दर्भ एवं निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष वर्शन करा देते हैं। चित्रों के विद्ध, अविद्ध, सत्य, वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमें विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत् यथार्थता का प्रतिविम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र्य-चित्रण वास्तव में प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य, भाव-योजन, वर्णिका-भंग एवं रूप-भेद इन षडंगों से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिवतत्व-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढ़ें तो इस उपोद्धात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है :—

पूरयेद्वर्णतः पश्चात्तत्द्रूपोचितं यथा।
उज्ज्वलं प्रौन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः।
एकवर्णेऽपि तं कुर्यात्तारतम्यविशेषतः। शि० र०
प्रकीर्णे चित्रपरिचयो यथा भ०. ~नो व्यासस्यः—
"अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥"

इसी प्रकार के काव्य-लक्ष्योदाहरण जैसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में धनपाल की तिलक-मञ्जरी में भी यही चित्र-धारणा है। ति० मं० का निम्न पद पढ़ें :—

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों में भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नहीं, स्थापत्य-निदर्शनों में जैसे अजन्ता, बाघ, सित्तानवसल अथवा तंजौर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र-पीठों पर भी यहन् महा विलास एवं प्रोल्लास प्राप्त होता है। अतः शिल्प-ग्रन्थों में क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य में भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रूढ़ि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूलम्ब एवं प्रमाण आदि षडंग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे संभव हो सकता है ? बिना रूढ़ि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अँग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढ़ि-अवलंबन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। चित्र्य प्रतिमा के केश कैसे दिखायें, आंखों का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई, ऊंचाई, विशालता आदि प्रमाण कैसे अंकित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढ़ि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व-कल्पन है। जिस प्रकार काव्य में ध्वनि को Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन चित्र में ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य में शब्दालंकारादि की चमक केवल उसको कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नहीं। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुंग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र में यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जकता ही है, जो चित्र को एक-मात्र मृदुता ही नहीं प्रदान करती वरन् नाना व्यंग्यों का प्रेक्षकों को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य में व्यक्ताव्यक्त-कामिनी-कुच-कलश के समान अलंकार एवं ध्वनि की विनिवेश-समीक्षा है, उसी प्रकार प्रतोकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा चित्र में भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देखें, जिनमें मुद्राओं (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भर्त्सन, मंगल, वरदान आदि सभी इसी प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन से सब व्यञ्जित हो जाता है। अस्तु, इस उपोदघात् का, हम विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वतः प्राप्त कर जाते हैं :—

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः ।।
कराश्च ये महा (मया?) नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम् ।।
हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्टया च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोदघात् के अन्त में हमें पुनः चित्र के सार्वभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है :—

जंगमा स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ।।

जब चित्र का इतना बड़ा विस्तार है तो विना रूढ़ियों के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण :—विष्णु-धर्मोत्तर में रूढ़ि-निर्माण का बड़ा ही बहुल प्रतिपादन है । दैत्य, दानव, यक्ष किन्नर, देव, गन्धर्व, ऋषि, राजे महाराजे, अमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण में कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय-वृद्धि एवं प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वतः स्पष्ट हो जाता है :—

चित्र	वैशिष्टय
१. ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मृग-चर्म धारण किए हुए, दुर्बल एवं तेजस्वी ;
२. देव तथा गन्धर्व	शेखर-मुकुट धारण किए हुए ; **टि०** श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के "शिखिरै रूपशोभिताः" को नहीं समझा ; अतएव अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है अतः यह 'शेखरैरूपशोभिताः' होना चाहिए—देखिए मानसार वहां पर शेखरों की नाना विधाओं में शेखर-मुकुट भी एक विधा है ।
३. ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी एवं शुक्लाम्बरधारी ;
४. मन्त्री, साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एवं सर्वालंकरों से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपड़ों से परिवेष्टित हों, इनके साफा जरूर बंधा हुआ होना चाहिए ;

५.	दैत्य तथा दानव	भृकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल ग्रांख वाले, भयानक एवं उद्धत-वेश-धारी,
६.	गन्धर्व तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र-प्रमाण, माल्यालंकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन में ;
७.	किन्नर—द्विविध	नृवव-क्त्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनों ही रत्न-जटित, सर्वालंकार-धारी एवं गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान;
८.	राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष एवं विभीषण;
९.	नाग	देवाकार, फण-विराजित;
१०.	यक्ष	सर्वालंकारलंकृत; टि० सुरों के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विर्वजित हैं।
११.	देवों के गण	नाना-सत्व-मुख, नाना-वेश-धारी, नाना ग्रायुध-धारी, नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कर्म-कारी; टि० वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं:—वासुदेव-गण वासुदेव को, संकर्षण-गण संकर्षण को, प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरूद्ध-गण अनिरूद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विक्रम प्रदर्शित करें। इनकी कान्ति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हों, इनके आकार मरकत-सदृश हों और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो;
१२.	वेश्यायें	वेश उद्धत एवं श्रंगार-सम्मत;
१३.	कुल-स्त्रियां	लज्जावती; टि० दैत्यों, दानवों और यक्षों की पत्नियां, रूपवती बनानी चाहिएं। विधवायें पलित-संयुता, शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालंकार-वर्जिता;
१४.	कञ्चुकी	वृद्ध;
१५.	वैश्य तथा शूद्र	वर्णानुरूप वेश-धारी;

१६. सेनापति	महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित, त्रितरंग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एवं दृप्त ;
१७. योधा-गण	भृकुटी-मुख, किञ्चत् उद्धत-वेश एवं उद्धत-दर्शन ;
१८. पदाति	उछलती हुई गति से चलने वाले और आयुधों को धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ;
१९. धनुर्धारी	नग्न जंघा वाले, उत्तम वाण लिए हुए, जूते पहने हुए ;
२० पीलवान	श्यामवर्ण, अलंकृत, जूटधारी;
२१. घुड़सवार	उदीच्य-वेश ;
२२. बन्दि-गण	शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कंठ तथा उन्मुख दृष्टि ;
२३. आह्वानक	कपिल एवं केकर के समान आंख वाले ;
२४. दंड-पाणि (द्वार-पाल)	प्रायः दानव-संकाश ;
२५. प्रतीहार	दंड-धारी, आकृति एवं वेश न अधिक उद्धत न शान्त, बगल में खड्ग तथा हाथ में दण्ड ;
२६. वणिक्	ऊंचा साफा बांधे हुए;
२७. गायक एवं नर्तक	शाही वेष-धारी ;
२८. नागरिक (पौरजानपद)	शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित-केश एवं निज भूषणों से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एवं शिष्ट ;
२९. मजदूर (कर्मकर)	स्व-स्वकर्म-व्यय;
३०. पहलवान	उग्र, नीच-केश, उद्धत, पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ;
३१. वृषभ एवं सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातियां	ये सब यथा-भूमि-निवेश विवेश्य है ;
३२. सरितायें	स-शरीर-चित्रण में वाहन-प्रदर्शन अनिवार्य है, पुनः हाथों में पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनों को लचाए हुए ;

३३. शैल — मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है;

३४. पृथ्वी (भू-मण्डल) — सशरीरा, सद्वीप-हस्ता;

टि० श्री शिव राममूर्ति एवं डा० क्रैमरिश दोनों इन विद्वानों ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नहीं समझा क्योंकि हमारी परम्परा में पृथ्वी, देवी के रूप में विभावित है, अतः जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमंगला के रूप में विभाव्य है, तो उसके सातों हाथों में सातों द्वीप करामलकवत् स्वयं प्रदर्श्य हैं।

३५. समुद्र — रत्न-पात्रों से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदर्श्य हैं, प्रभा-मंडल बनाकर सलिल-प्रदर्शन विहित हो जाता है;

३६. निधियां — कुम्भ, शंख पद्म आदि लांछनों सहित इसके दिव्य (शंख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदर्श्य हैं;

३७. आकाश — विवर्ण (Colourless), खगाकुल;

३८. दिव (Heavens) — तारका-मंडित;

३९. धरा—त्रिविधा —
१ जांगल-(जंगली),
२ अनूपा (दलदली),
३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा।

४०. पर्वत — शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजंग आदि चिन्हों से चिन्हित;

४१. वन — नाना-विध वृक्ष-विहंग-श्वापद-युक्त;

४२. जल — अनन्त-मत्स्यादि-कच्छपों एवं जलीय जन्तुओं के द्वारा विभावित;

४३. नगर — चित्र-विचित्र-देवतायतनों, प्रासादों, आपणों (बाजारों) एवं भवनों तथा राज-मार्गों से सुशोभित;

४४. ग्राम — उद्यानों से भूषित और चारों ओर राहों से युक्त;

४५. दुर्ग — वप्र, उत्तुंग अट्टालक आदि से परिवेष्टित;

४६. आपण-भूमि — पण्य-युक्त—दुकानों से घिरीं हुई;

४७. आपान-भूमि	पीने वाले नरों से आकुल;
४८. जुवांरी	उत्तरीय-विहीन एवं जुआ खेलते हुए;
४९. रण-भूमि	चतुरंग सेना से युक्त, भयानक लड़ाई लड़ते हुए योधा-गणों से, और उनके अंगों में रुधिर की धारा बहती हुई और शवों से पूरित;
५०. श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदर्श्य हैं, जहां पर लकड़ी के ढेर और शव भी पड़े हों;
५१. मार्ग	सभार उष्ट्रों सहित;
५२. रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र, चौर, उलूक आदि से एवं सुप्तों से;
(ब)	प्रथमार्ध-रात्रि अभिसारिकाओं से;
५३. उषा	सारूणा, म्लान-दीपा, कुक्कुट-रूता;
५४. संध्या	नियमी ब्राह्मणों से;
५५. अंधेरा	घर जाते हुए मनुष्यों की गति से;
५६. ज्योत्स्ना	कुमुदों के विकास एवं चन्द्रमा से;
५७ सूर्य	क्लेश-तप्त प्राणियों से;
५८. बसन्त	फुल्ल-वृक्षों से, कोकिलाओं, भ्रमरों, प्रहृष्ट नर-नारियों से;
५९. ग्रीष्म	क्लान्त नरों से, छायागत मृगों से, पंकमलिन महिषों से, शुष्क-जलाशय-चित्रण से;
६०. वर्षा	द्रुम-संलीन पक्षियों स. गुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि श्वापदों से, जल-घन [illegible] से, चमकती हुई बिजली से;
६१. शरद्	फलों से लदे हुए वृक्षों से, पके हुए खेतों से, हंसादि पक्षियों से सुशोभित सलिलाशयों से;
६२. हेमन्त	सारी की सारी सूनी (लूनी) धरती से, धुंधले वातावरण से (सनीहार-दिगन्तकम्);
६३. शिशिर	हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त से, वृक्षों में पुष्प और फलों से और ठिठुरते हुए प्राणियों से।

टि० :—विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षों के फलों-फूलों पर एकमात्र दृष्टिपात एवं जनों का आन्दातिरेक—यही चित्र्य ऋतुओं के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ में यह भी अन्त में समीक्ष्य एवं विवेच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एवं सादृश्य तथा भूलम्बादि चित्रांगों पर ही आश्रित नहीं है; प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य हैं।

देव, ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राजे-महाराजे, अमात्य तथा सांवत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एवं मूल —पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) में चित्र्य है। विद्याधरों को रूद्र-प्रमाण में, किन्नर, नाग, एवं राक्षस मालव्य-प्रमाण में करना चाहिए। जहां तक वेश्याओं एवं लज्जावती महिलाओं का प्रश्न है, वे रूचक एवं मालव्य-प्रमाण में क्रमशः चित्र्य हैं। वैश्य भी रूचक मान में प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह ग्रन्थ भी कुछ विशेष क्रमिक नहीं हैं। जहां तक अन्य शिल्प-ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहां मान-प्रमाण ताल-मान पर आश्रित हैं।

चित्र रस एवं दृष्टियां

पीछे के स्तम्भों में रेखा-करण, वर्तना-करण एवं वर्ण-विन्यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न लिखित प्रवचन पढ़िए :—

"रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः वर्णाढ्यमितरे जनाः
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्तनां च विचक्षणाः ॥"

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-दृष्टा दोनों के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मनःस्थिति में चित्र-कार एवं चित्र-दृष्टा दोनों की कल्पनाओं का स्वतः जन्म हो जाता है। अतः काव्य और चित्र में विशेष अन्तर नहीं है।

वैसे तो चित्र की विधाओं पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न के रस-चित्रों का भी वहां पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थों की दृष्टि में रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव-चित्र हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र में चित्रित करना है, तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास से प्रतीत करना चाहिए। श्रृंगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है; हास्य का शुभ्र, करूण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का पीताभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अदभुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में समरांगण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें चित्र-रसों एवं चित्र-दृष्टियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के लेखक भोजदेव के श्रृंगार

प्रकाश से हम परिचित ही हैं और संस्कृत-साहित्य में महाराज भोजदेव की बड़ी देन है और वे एक ऊंचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे । अतएव यह अध्याय उसी दिशा में उनकी देन है । इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़िए :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनां चेह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ।।

अस्तु, इस उपोद्घात् के अनन्तर अब हम इन रसों एवं रस-दृष्टियों की तालिका पाठकों के सामने रखते हैं । यद्यपि अनुवाद-खंड में रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय में इन सभी रसों एवं रस-दृष्टियों का प्रतिपादन वहां है ही तथापि रस का सरलीकरण एवं नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाएं उपस्थित की जाती है :

एकादश चित्र रस

संज्ञा	शरीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१. श्रृंगार	स-भ्रू कम्प, प्रेमातिरेक ;	ललित चेष्टायें
२. हास्य	अपांग विकसित, अधर स्फुरित ;	लीला
३. करूण	अश्रुक्लिन्न कपोल; आंखे शोक-संकुचित;	चिन्ता एवं संताप
४. रौद्र	आंखें लाल, ललाट निर्मार्जित, अधरोष्ठ दन्त-दष्ट ;	
५. प्रेमा	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ, सुतोत्पत्ति एवं प्रिय-दर्शन से ;	
६. भयानक	लोचन उद्भ्रान्त, हृदय-संक्षोभ, यह सब वैरि-दर्शन एवं वित्रास से ;	
७. वीर	....	धैर्य एवं वीर्य
८. ...	....	....
९. बीभत्स	....	....
१०. अद्भुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असंभाव्य वस्तु अथवा दर्शन से;	
११. शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि ;	अराग एवं विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियां

क्रम सं०	संज्ञा	आश्रय रस
१.	ललिता	शृंगार
२.	हृष्टा	प्रेमा
३.	विकसिता	हास्य
४.	विकृता	भयानक
५.	भृकुटी	......
६.	विभ्रान्ता	श्रंगार
७.	संकुचिता	श्रगार
८.	......	......
९.	ऊर्ध्वगता	......
१०.	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२.	दृष्टा	वीर
१३.	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४.	शंकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ में यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस-दृष्टियां संस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नहीं हैं। इन रसों और रस-दृष्टियों के लक्षण से अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एवं परिवर्तित संस्करण में रक्खे गये हैं, जिससे भाव-चित्र-प्रतिमाओं में भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य में भावों का स्थान गौण है और रसों का स्थान मूर्धन्य है। बात यह है कि चित्र में भावों पर ही शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही स्फूर्तियां क्रीड़ा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हमें चित्र-कला में इस साहित्य-सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त में दो प्रश्नों को लेना है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्रीय अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसों का साक्षात् सम्बन्ध मानवों (नर, नारी एवं शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपों यथा देव, दानव, दैत्यों से ही है, परन्तु इस चित्र-कला में रसों को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढ़ा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है। पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

इत्यते चित्र-संयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेष्वु योजयेत ॥

मेरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बड़ी प्रेरणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठकों के लिए पठनीय है। यहां पर यह उद्धृत की जाती है :—

" Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characteristic of only human beings—men, women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons—they have an application to all sentient creations–Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet' 82.13. This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist. It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself, If it is through the symbolism of Mudras—hand poses, bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us,giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the plainting, her sister must also follow the suit."

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमें हम नाट्य, काव्य, **रस** और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाटय-कला पर आश्रित है :—विष्णु-धर्मोत्तर में मार्कण्डेय और वज्र के संवाद में चित्र-कला की मौखिक भित्ति वास्तव में नाट्य-कला है जो इस संवाद से स्वतः प्रकट :—

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को समझना बड़ा ही कठिन है, इस लिए हे राजन् इस पृथ्वी का कोई भी कार्य इन दोनों विद्याओं के बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नत्य-कला और चित्र-कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र-कला के सिद्धान्त स्वयं गतार्थ हैं ।

मार्कण्डेय पुनरूवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है ।

अतएव इस विष्णुधर्मोतरीय महान् विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि से नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित चित्र-विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेट-फार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है । इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये :—

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन ।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आंगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।
(भवेदत्रायतं ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम् ।।
प्रोक्तं रसानामिदमत्र लक्ष्म दशा च संक्षिप्ततया तत् ।
विज्ञाय चित्रं लिखतां नराणां न संशयं याति मनः कदाचित् '।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है । मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं । चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है ।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदमित्यादि) पढ़ें तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है । पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य हैं ; उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि), पाद-मुद्राओं (वैष्णावादि-स्थानक आदि) तथा हस्त-मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य अंग है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल) । यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ :—

विना तु नृत्यशास्त्रण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम् ।
यथा नत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ।।
दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः ।

कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्

इन दोनों संदर्भों की अवतारणा के उपरान्त यह स्वतः सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसों और रस-दृष्टियों से वे साक्षात् सजीव हो उठते हैं। जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओं से प्रतिमाएं व्याख्यान देने लगती हैं, उपदेश देने लगती हैं, वरदान देने लगती हैं, उसी प्रकार से ये मुद्रायें चित्रों और प्रतिमाओं को अपने पूर्ण व्यक्तित्व में आभिव्यक्त कर देती हैं। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति में परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस-शास्त्र (Aesthetics) बन जाती है। अब आइय चित्रों को काव्य के रूप में देखें :—

काव्य एवं चित्र :—वामन अलंकारिक-परम्परा के प्रौढ़ आचार्य माने जाते हैं; उनके काव्यालंकार-सूत्र में बहुत से अलंकार एवं वृत्तियां चित्र के रूप में व्याख्यापित हैं। इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र में परिणत कर दिया हैं :—

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होंने जो वृत्ति से व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है :—

"एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठतम्"

यत : उन्होंने काव्य की आत्मा 'रीति' मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें हैं। विष्णु-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत 'रेखां प्रशंसन्त्याचार्या' भी यही परिपुष्ट करता है। पुनः वामन अपने काव्यांलंकार-सूत्र-वृत्ति ३।१ में रेखा से आगे बढ़ कर गुण में आ जाते हैं :—

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुरं चित्र-पण्डितैः।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुनः विष्णुधर्मोतर की उक्ति का स्मरण कराती है :—

'वर्णाढ्यमितरे जताः'

निम्नलिखित थोड़े से और उद्धरण पढ़िए, जिससे काव्य एवं चित्र में क्या कोई अान्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावेगा :—

"औज्ज्वल्यं कान्ति :—यह काव्य के दश गुणों में से कान्ति भी प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा माना गया है ; अतः कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्तम्भों में चित्र गुणों में औज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हूं वही वामन के मत में औज्ज्वल्य काव्य-गुण है। पुनः उनके लक्षण एवं वृत्ति को देखें :—

" औज्ज्वल्यं कान्तिः का सू० ३.१ २५.

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः।

तथैव वागपि प्राज्ञः समस्तगुणगुम्फिता।" का. सू० ३.१

" औज्ज्वल्यं कान्ति " का. सू. ३ २५

"बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छाये-त्युच्यते"

'औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।

पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्यं कवेर्वचः॥

वामन अपने काव्यालंकार सूत्र (१.३.३०-३१) में भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाट्य एवं चित्र को क ही कोटि में लाकर रख देते हैं :-

"सन्दर्भेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः तद्धि चित्रं चित्रपटवत् विशेष-साकल्यात्"

यही भरत के नाट्य-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूपं दृश्यतयोच्यते" भ० ना० शा०

"रूपकं तद् भवेद् रूपं दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम" भा० प्र०

(स) अतएव वामन ने जो" रीति-रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सुन्दर टीका हमें रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती-कण्ठाभरण में प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो वहां व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है :

"यथा चित्रस्य लेखा अंगप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर :"

भाट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव-भारती में वामन के इस नाट्य एवं चित्र के सन्दर्भ को भी समर्थित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने बाल-भारत (प्रचण्ड-पाण्डव) में प्रदत्त निम्न उक्ति को पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिये—

"किञ्च स्तोकतमः कलापकलनश्यामायमानं मनाक्

धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूपं जगज्जायते"

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मञ्जनोफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रिय: पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तु: किमपि कौशलम् ।।

इन दोनों सन्दर्भों से चित्र-विद्या एवं काव्य-शास्त्र का कितना सुन्दर अन्योन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहां दो भूमि-बन्धनों (कुड्य एवं पट्ट) की ओर संकेत ही नहीं करते, वरन् रेखा-कर्म के सिद्धान्तों—जैसे प्रमाण (anatomical), वर्ण, छाया-कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते हैं ।

चित्र एवं रस :—चित्र-कला में रसों एवं रस-दृष्टियों के अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ में विचार कर चुके हैं । यहाँ तो हमें संस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, अत: निम्नलिखित दोनों उद्धरणों को पढ़िये । एक चित्र-शास्त्री अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक, महाराज सोमेश्वरदेव का तथा संस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

श्रृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ।। अभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावित: ।
आस्वाद्यमानैकतनु: स्थायी भावो रस: स्मृत: ।।—चन्द्रा०

अत: यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपर कोटि पर—ध्वनि-सिद्धान्त ।

चित्र एवं ध्वनि :—पीछे के स्तम्भ में प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं, अत: जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है, उसी प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत, जुवारी, मार्ग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एवं कला के समीक्षक ललित-कला में मुद्रा-सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन आचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य, प्रतिमा एवं चित्र में बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण है; अत: जो मुद्रा है वही व्यंजना है । रसाध्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमेशा दूर रहते हैं; तभी काव्य में उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एवं नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यंजना या प्रतीकात्मक अवलम्बन (Suggestion or symbol) उसमें पूर्ण प्रतिष्ठत हो।

चित्र-शैलियाँ
(पत्र एवं कण्टक के आधार पर)

जहां तक चित्र-शैलियों की बात है स्थापत्य की ही शैलियों में इनको गतार्थ किया जा सकता है। अब तक किसी ने भारत-भारती Indoloy में चित्रों के सम्बन्ध में शैलियों का उपश्लोकन नहीं किया है। अनेक वास्तु-ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २२७-२२६ सूत्रों में बड़ी ही मार्मिक्र एवं नवीन उद्‌भावना प्राप्त की है।

चित्र-पत्रः—अपराजित पृच्छा में जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण-विन्यास, मान-प्रमाण चित्र के लिए अनिवार्य अंग हैं, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एवं छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। मेरी दृष्टि में इन पत्रों और कण्टकों का सम्बन्ध चित्रकला में प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है। दूसरी उद्‌भावना यहं है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशष केन्द्रों के सम्भवतः विशेष वैशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रों और कण्टकों की निम्न तालिका में जो इनकी शैलियां और विधा से सम्बन्ध है, इन वास्तु-ग्रन्थों में शैली का कहीं भी कीर्तन नहीं। जातियां ही वहां प्रतिपादित की गई हैं। इस लिए शैलियां और जातियां एक ही चीज़ हैं। इन पत्र-जातियों के सम्बन्ध में अपराजित-पृच्छा में एक बड़ा ही मनोरंजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रों और कण्टकों का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ :—

"समुद्र-मंथन में जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू—कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमें नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे। जो पत्रादि पूर्व में थे उसकी संज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण में थे उकनी संज्ञा द्राविड़ हुई और जो उत्तर में थे वे वेसर हुए। पुनः इन पत्रों को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त में नागर, ग्रीष्म में द्राविड़ तथा शरद् में वेसर। इन्ही पत्रों की जातियों को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रों के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए।

अस्तु, इस उपोद्‌घात के बाद पहले हम पत्र-तालिका पर आएं :—

षड्विधा

१.	नागर	४.	वेसर	टि० इन पत्रों को इस ग्रन्थ में नाना पत्रों में विभाजित किया है जिनकी संख्या संख्यातीत है, जैसे दिन-पत्र, ऋतु-पत्र, मेघ-पत्र, स्थल-पत्र आदि ।
२.	द्राविड	५.	कलिंग	
३.	व्यन्तर	६.	यामुन	

अष्टविधा

चित्र-पत्र-कण्टक इन—कण्टकों की अष्ट-विधा है :—

१।	कलि	५.	व्यावर्त
२.	कलिका	६.	व्यावृत्त
३.	व्यामिश्र	७.	सुभंग
४.	चित्र-कौशल	८.	भंग-चित्रक

अपराजित- पृच्छा के निम्नोद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है—अर्थात् कलि अगस्त्यपुष्पकाकार; कलिक वराहदंष्ट्राकृति; व्यामिश्र बद्धपुष्पोद्भवाकार; मध्यकेशराकार; कौशल उकारसदृशाकार; व्यावृत्त व्याघ्रनखाकार ; सुभङ्ग कृतिकाकृति एवं भङ्ग बदरीफलाकार । जहां तक शैल्यनुरूप अर्थात् जातिपुरस्सर इन कण्टकों की विचित्रता है वह इस तालिका से निभाल्य है :—

नागर	व्याघ्रनकवाकार
द्राविड़	वदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशरकृति
व्यन्तर	वराहदंस्ट्राकृति—

पत्र एवं कण्टकों का चित्र-प्रोल्लास महाकवि बाण-भट्ट के काव्यों दे० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूर्व प्रतिबिम्बन करता है:—

बहुविधवर्णदिग्धाङ्गुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि
च चित्रयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः ॥

अन्त में इन शैलियों पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र-कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला। चूँकि हम यहां हिन्दू स्थापत्य एवं चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अतः जहां तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमें ऐतिहासिक शैलियों का कोई विशेष महत्व नहीं, क्योंकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है ।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बड़ी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है । तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियों की उद्भावना की है—

१. देव-शैली २ यक्ष-शैली ३. नाग-शैली ।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिका बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होंने ईसा-पूर्व छटी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे ।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है। अशोक के काल में अवश्य तक्षण एवं चित्र का महान् विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं ।

नागर-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एवं महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय में यह तीसरी शैली ने जन्म लिया । नागों की कला का हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं । नाग-जाति बड़ी ही तक्षण-कुशल थी; अतः चित्र-कौशल में कैसे पीछे रह सकती थी । अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षकों की ही कृति मानी गई है।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था । पुनः बौद्ध चित्र-कला जाग उठी । उसका पूर्ण श्रेय महनीय-कीर्ति तक्षक एवं चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-पक्ष के राज्य-काल में उत्पन्न हुए थे । वह मागध थे । उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है । उस ससय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रहे थे । मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र-कला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) में परिणत कर दी थी ।

जहां तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से संकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार शारंगधर थे जो मारवाड़ में पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवतः यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे, जिनका समय ७वीं ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत में ये चित्र-कलाएं अति प्राचीन यक्ष-कौशल पर आलम्बित थीं।

अब आइये पूर्वी स्कूल पर। यह बंगाल में विकसित एवं प्रोल्लसित हुआ था। राजा धनपाल तथा राजा देवपाल बंगाल के बड़े कला-संरक्षक नरेश थे। यह समय नवीं शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश में नागों की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल को था जो दोनों कुशल तक्षक एवं चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण में भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रों एवं तत्तदेशीय शैलियां के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नैपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानों पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ में हमें मध्य-कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नहीं। मध्य-काल की चित्र-शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नहीं ब्रुश समझें। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल में जयपुर तथा कांगरा ही आते हैं। पुनः अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतों की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमें जैसे लखनवी, दक्षिणी, काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोड़े से विहंगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणों पर पाठकों को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक हैं, क्योंकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप में विभावित किया है।

चित्रकार एवं उसकी कला

चित्रकार क सम्बन्ध में कुछ लिखने के प्रथम हमें यहां पर यह भी थोड़ा इंगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला में क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएं क्या संगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य, क्या काव्य—यहां तक कि वास्तु एवं शिल्प भी

सभी ये कलायें दर्शन की ज्योति से उद्दीपित थीं । संगीत में नाद-ब्रह्म, काव्य एवं नाटय में शब्द-ब्रह्म (दे० वैयाकरणों का स्फोट-ब्रह्म, जो उनके अनुजों का भी वही ध्वानि-सिद्धान्त में गतार्थ हैं) तथा रस-ब्रह्म, वास्तु में वास्तु-ब्रह्म—ये सब कल्पनाएं कोरी कल्पनाएं नहीं—ये कलाओं को सार्वभौमिक एवं सर्व-कालीन (Space and time) आभा से आभासित कर दिया था । जिस प्रकार संगीत अर्थात् Classical Music एक महती साधना है, उसी प्रकार चित्र भी उससे कम महती निष्ठा एवं साधना से रहित नहीं है । चित्र एकमात्र मनोरंजन कला नहीं; वह काव्य, नाट्य एवं वास्तु-शिल्प के समान भी वह अध्यात्म से अनुप्राणित है एवं महान् प्रेरणा को प्रदान करने वाली है । अजन्ता की गुफाओं में सैंकड़ों वर्ष किस महान् अध्यवसाय एवं तप की साधना में इन की रचना हुई–देखिए महाभिनिष्क्रमण-चित्र; मार-कर्म (Exploits of Mara) अप्सराओं की क्रीडायें, विद्याधर-यक्ष-गन्धर्व-किन्नरों के साथ देव-गण, नाना पुष्पादप-पारिजात-बल्ली-गुल्य-लता वीरूध आदि प्रकृति-छाया—ये सब चित्र न केवल प्रशंसा के लिए वरन् महती प्रेरणा के लिए भी हैं ।

यद्यपि ललित कलाओं का सेवन सभी जातियों एवं सभ्यताओं तथा संस्कृतियों का अभिन्न अंग है तथापि भारत की इन कलाओं में कुछ भिन्नता भी तथा विशिष्टता भी है । विशेषकर इस जगत में पाश्चात्य एवं पौर्वात्य में ये ही दो संस्कृति-धारायें विशेष-रूप से समीक्ष्य हैं । भारत का कलाकार या चित्र-कार दार्शनिक पहले, कलाकार बाद में। पाश्चात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Mass है और पौर्वात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Line है । पर्सी बाउन ने इन दोनों की जो समीक्षा की है वह बड़ी मार्मिक एवं सार-गर्भित है—

As the painting of the West is an art of "mass" so that the East is an art of Line. The Western artist conceives his composition in contiguous planes of light and shade and colour He obtains his effect by "Play of surface" by the blending of one form into another, so that decision gives place to sugges-tion. In Occidental painting there is an absence of definite circumscribing lines any demarcation being felt rather than seen. On the other hand, much of the beauty of Oriental painting lies in the interpretation of form by means of a clear-cut definition, regular and decided; in other words, the Eastern

painter expresses form through a coovention—the convention of pure line and in the manipulation and the quality of this line the Oriental artist is supreme. Western painting like western music, is communal, it is produced with the intention of giving pleasure to a number of people gathered together. Indian painting, with the important exception of the Buddist frescoes is individual-miniature painting that can only be enjoyed by one or two persons at a time. In its music, in its painting, and even in its religi us ritual, India is largely individualist"—Brown.

चित्र के दोष-गुण

चित्र-कला के प्राय: सभी अंगों (षडगों) पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब आइयें पुन: विष्णु-धर्मोत्तार की ओर जिसमें चित्र-दोषों एवं चित्र-गुणों पर भी काफी प्रवचन प्राप्त होते हैं—देखिए ये नि न प्रवचन :—

चित्र-गुणा:—स्थानप्रमाणभूलम्बों मधुरत्वं विभक्तता ।
सादृश्यं पक्षवृद्धिञ्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता: ॥
रेखा च वर्तना चैव भूषणां वर्णमेव च ।
विज्ञेया मुनजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥
रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणा : ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाठ्यमितरे जना: ॥
इति मत्वा तथा यत्न: कर्तव्यश्चिचत्रकर्मणि ।
सर्वस्य चित्रग्रहणं यथा स्यान्मनुजोतम ॥
स्वानुलिप्तावकाशा च निदेशं मधुका शुभा ।
सुप्रपन्नभिगुप्ता च भूमिस्सच्चिकर्मणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेखं विद्वान्यथादेशविशेषवेशम् ।
प्रमाणशोभाभिरहीयमानं कृतं भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ॥

चित्र-दोषा:—दौर्बल्यबिन्दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।
बृहदण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ॥
मानवाकरता चेति चित्रदोषा. प्रकीर्तिता: ।
दुरासनं दुरानीतं पिपासा चान्य चित्तता ॥
ए[illegible] चित्रविनाशस्य हेतव: परिकीर्तिता: ।

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ में पहले ही कह चुके हैं। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध-प्रतिष्ठ एक स्वयं चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रन्थ मानसोल्लास (अथवा अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) के लेखक भी थे, वे चित्रकार के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

प्रगल्भैर्भाविकैस्तज्ज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः ।
विधिनिर्माणकुशलैः पत्र-लेखन-कोविदैः ।।
वर्णपूरणदक्षैश्च वीरणे च कृतश्रमैः ।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्रं नानारससमुद्भवम् ।।

स. सू. का भी प्रवचन पढ़ें —

बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वते ।
करामलकवं (त्यास्यं पर ?) द्वयमप्यदः ।।
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित् ।
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः ।।

प्राचीन भारत के थोढे से ही चित्रकारों के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसे महाभारत में भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलेखा। उसका वृत्तान्त प्रायः सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधेय कला Anonymous) art) है। भारत के चित्रकार के विषय मे एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञात है। पश्चिम के चित्र-कलाकारों के पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हैं। मुगलों, राजपूतानी तथा अन्य प्रदेशों के चित्र ही चित्रकार के वृत्तान्त—जीवन साधना एवं कला—के मूक इतिहास हैं। हां बौद्धों की चित्र-कला से यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि भिक्षु ही चित्रकार था। तिब्बती चित्रों को देखिये वे सब संघारामों, चैत्यों एवं विहारों की कृतियां हैं। वही सत्य अजन्ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठों की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए बौद्ध धर्म की नियमावली में जो दिनचर्यायें कल्पित थीं वही चित्र-पटों, चित्र-पट्टों के कल्पन, सेवन एवं ज्ञानार्जन तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी। राज-स्थान में जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे, नाना कलाकार—तन्तुवाद, धातु-कार, कुम्भ-कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्हीं श्रेणियों में सर्वत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवाय-व्यवसाय से जीविकोपार्जन एवं जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र-कार वास्तव में राज-दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल में तथा धाराधिप भोज-देव के दरबार में कवियों की श्रेणियां रत्नों के रूप में विभाव्य थीं, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नों की गाथा एवं श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में यह मुगल-कालीन परम्परा अवध में भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समरांगण-सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज में और शिष्ट-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली में यह उक्ति थी कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएं और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश में किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन-चर्या नियन-बद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धर्मः)—चोदना-प्रणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणों ने सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मित उपदेश एवं ज्ञान को ही ध्यान में रखकर आदि कवि बाल्मीकि एवं व्यास एसे तथा महाकवि कालिदास बाणा, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओं, सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचेतनाओं अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलाधारों एवं रूढ़ियों को प्रश्रय देने में पीछे नहीं रहे। अस्तु, यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन में पुरातत्वीय चित्र-निदर्शनों को छोड़ना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियों की मार्मिक उक्तियां, जो चित्र से सम्बन्धित हैं, उनका परिशीलन भी इस अध्ययन में उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें ? वास्तव में कालानुरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहां तक परिनिष्ठत कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परनिष्ठित कला विना शास्त्र के कभी भी विकसित नहीं की जा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगों में पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-संदर्भों को देखें तो हमारे इस देश में सुदूर अतीत में सभ्यता और संस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अंग था। इस प्रकार पूर्व-ऐतिहासिक, वैदिक तथा शैशव बौद्धकाल ये—सभी चित्रकला के सेवन में प्रमाण उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणों में उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढ़ते हैं, उस समय चित्र-कला कितनी प्रबद्ध कला थी। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यक ग्रन्थ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थों में चित्र-कला का प्रोल्लास पद-पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है, इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत में जनता में उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनों के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में धर्म-चर्या के उपकरणों के लिए पट-चित्र, पट्ट-चित्र, कुड्य-चित्र—तीनों बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यों और विहारों (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) में कुडच-चित्रों का निर्माण कोई मनोरंजन-मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा, चर्या एवं दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिख्या के लिए ही इन का उद्देश्य था। शूद्रक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल में धर्म-गुरूओं एवं उपदेशकों के लिए चित्र ही बड़े साधन थे, जिन से अज्ञों एवं शिशुओं को उपदेश देते थे। हमारे देश में ब्राह्मणों का एक सम्प्रदाय था जिसकी संज्ञा 'नख' (नख ब्राह्मण) थी, जो कुन्डली-चित्रों (portable frame work) की सहायता से ही, वे एक प्रकार से धर्म और अधर्म, पाप एवं पुण्य, भाग्य एवं दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एवं कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अतः हम पहले पुरात्वीय निदर्शनों को लेते हैं।

पुरातत्वीय निदर्शन—ऐतिहासिक दृष्टि से चित्र के पुरातत्वीय स्मारकों को हम दो कालों में विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप-कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक।

प्रागैतिहासिक—इस काल में जैसा हम ने ऊपर संकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराओं के ही भग्नावशेष हैं। जहां तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानों में प्राप्य है:—

(अ) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियों में कुछ कन्दरायें हैं जहां पर मृगया-चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है।

(ब) बिन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियों की गुहाओं में उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं। ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं, कि वहां पर ऐसा प्रतीत होता है मानों ये Art Studio हैं, जहां पर वर्णों को कूटने छानने एवं विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं। पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप में उद्भावित किया है।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणियां, विशेषकर मांड नदी क पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ़ स्टेट (मध्य प्रदेश) में सिंहपुर ग्राम है, वहां पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए है, जिनमें रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है। इन चित्रों में चित्र्य मानव एवं पशु दोनों ही के चित्र प्राप्त होते हैं। इन चित्रों को ब्राउन ने Heiroglaphics की संज्ञा में उद्भावित किया है।

पशुओं में हरिण, गज, खरगोश आदि के मृगया-दृश्य बड़े ही मार्मिक चित्र यहां प्राप्त होते हैं। महिष-घात-चित्र बड़ा ही भयानक एवं विस्मयकारी है, जहां पर भालों से भैंसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं। ब्राउन की समीक्षा में इन चित्रों में haematite brush forms से रेखा-चित्रों एवं वर्ण चित्रों की प्रगति अनुमेय हो रही है।

(य) मिर्जापुर (उत्तर-प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराओं के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। यहां पर लकड़-बग्घा की मृगया विशेष विस्मयकारी है। अतः इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभावित कर सकते हैं। आदि प्रागैतिहासिक निदर्शनों के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनों की ओर।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)—पुरातत्त्वीय अन्वेषणों से प्राप्त ईसवीय-

पूर्व ऐतिहासिक निदर्शनों में सर्वप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगढ़ पर्वत में स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमें इन कन्दरा की दीवालों पर नाना चित्र प्राप्त होते हैं। आधुनिक विद्वानों के मत में ये चित्र ईसवीय-पूर्व प्रथम शतक के कहे गये हैं। यद्यपि ये कुडच-चित्र बड़े ही प्रोज्ज्वल एवं प्रकर्ष नहीं तथापि ये Frescoes का श्रीगणेश ही नहीं करते वरन् लेप्य-कर्म-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते हैं। भवनों, ग्रामों, पुरों एवं पत्तनों के चित्रों के साथ साथ विशेषकर पशु, मृग, जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहां चित्रित पाये जाते हैं। मेरी दृष्टि में इस देश की आब-हवा चित्रों के चिर-काल-सहत्व के लिये अनुकूल नहीं है, अतः इन्हीं श्रेणियों में अन्य स्थान भी हैं, जहां कुडय-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस किञ्चित्कर पूर्व-ईसवीय प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक दोनों के विहंगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते हैं, उन में जैसा पहले स्तम्भ में संकेत हो चुका है, उसी के अनुरूप इस युग को निम्नलिखित तीन कालों में बांट सकते हैं :—

१. बौद्ध-काल;

२. हिन्दू-काल;

३. मुस्लिम-काल।

यहां पर बौद्धों को प्रथम तथा हिन्दुओं को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतों (राजस्थानी तथा पंजाबी पहाड़ी राजपूतों) की कला से तात्पर्य है, जो बौद्धों के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एवं हिन्दू अर्थात् राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धर्म एवं दर्शन था। इन दोनों के अन्तर्तम में रहस्यवाद की छाया सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जहां तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धर्म-निरपेक्ष (Secular) थी। उस में यथार्थवाद विशेष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात् धर्माश्रयता पर हम संकेत कर ही चुके हैं, परन्तु इस कला में बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ़ गयी थी। वह केवल धार्मिक नाटकों, आख्यानों, उपाख्यानों के ही चित्रण में एकमात्र व्यस्त नहीं थी। इस चित्र-कला में ग्रामीण

जीवन, संस्कार, विश्वास, सभ्यता एवं संस्कृति का भी पूर्ण चित्रण किया गया है, जिस के द्वारा ये चित्र प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक चर्या में परिणत हो गये। अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम इन तीनों कालों को ले रहे हैं।

बौद्ध-काल—इस काल को हम ईसवीय उत्तर ५० से ७०० तक कल्पित कर सकते हैं और यह कला हमारे स्थापत्य एवं चित्र में स्वर्ण युग (Classical Renaissance) प्रस्तुत करता है। बौद्ध-धर्म ने न केवल भारत वरन् द्वीपान्तर भारत को भी महान् विश्व-व्यापी धर्म-चक्र से प्रभावित कर दिया है। सिंहल-द्वीप (लंका), जावा, श्याम, बर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान तथा चीन आदि में प्राप्त पुरातत्वीय स्थापत्य एवं चित्र निदर्शन इस प्रभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ वहां केवल धर्माचार्य, धर्मोपदेशक—भिक्षु एवं भिक्षुणी ही नहीं वरन् कलाकार भी साथ थे। प्राचीन धर्म-रूप कलम की बात नहीं,—वह लेखनी, तूलिका, विलेखा की बात थी। कुण्डलीय चित्र-पटों (Pictorial Scrolls) के द्वारा गौतम बुद्ध के धर्म के वितरण के लिये उस समय प्रमुख साधन था। अस्तु अब हम यहां पर बौद्ध-कला को भारतीय स्तर पर ही रखना उचित समझते हैं। इन में अजन्ता, सिगिरिया (सिंहली), बाघ ही विशेष उल्लेख्य हैं।

अजन्ता—अजन्ता के चित्र विश्व के अष्ट-विध आश्चर्यों में परिकल्पित किया जा सकते है। तारानाथ की दृष्टि में यह सब देव-विलास हैं। कोई मर्त्य इस प्रकार के विस्मय-कारक चित्र कैसे बना सका? अजन्ता का वातावरण देखिये—कितना शान्त, मनोमुग्धकारी, एकान्त, रम्य एवं अद्भुत प्रदेश है। इस स्थान पर अध्यात्म, देवत्व, धर्म, दर्शन, चर्या एवं नियम दीवालों पर अंकित कर दिये गये हैं। अजन्ता के भौगोलिक एवं अन्य विवरणों की यहां पर आवश्यकता नहीं। वैसे तो सारी की सारी सोलह गुफायें चित्रित की गयी थीं; परन्तु काल-चक्र एवं अन्य मौसमी तथा अन्य प्रभावों ने बहुतों को नष्ट कर डाला है। केवल छै गुफाएं चित्रित प्राप्त हुई हैं—यह बात १९१० ई० की है। ये सारे के सारे चित्र-निदर्शन एक व्यक्ति, एक समाज, एक काल के अध्यवसाय नहीं माने जा सकते। अतः हम इन चित्रों को निम्न तालिका में कालानुरूप विभाजित कर सकते हैं :—

(अ) ९वीं तथा १०वीं गुफा-चित्र ईसवीय १००;

(ब) दशवीं गुफा के स्तम्भ-चित्र ईसवीय ३५०;

(स) १६वीं तथा १७वीं गुफा के चित्र ईसवीय ५००;

(य) पहली तथा दूसरी गुफा के चित्र ईसवीय ६२६-६२८।

विषय—इन चित्रों में बौद्ध-जातक साहित्य के ही मुर्धन्य एवं अविकल चित्रण है। वैसे कुछ चित्र समय का भी प्रतिबिम्बन करते हैं। अतः कन्दरानुरूप इन विषयों का हम वर्ग उपस्थित करते हैं :—

कन्दरा नं० १— १. शिवि-जातक;
२. राज-भवन-चित्र;
३. राज-भवन-द्वार पर भिक्षु-स्थिति;
४. राज-भवन;
५. राज-भवन-चित्र;
६. शंख-पाल-जातक—सांप की कहानी;
७. राज-भवन-चित्र—नर्तकियां (महाजन-जातक);
८. महाजन-जातक—भिक्षु-उपदेश-श्रवण;
९. महाजन-जातक—अश्वारूढ़ राजा;
१०. महाजन-जातक—पोत-मग्नता;
११. महाजन-जातक—राग एवं वैराग्य;
१२. अमरादेवी की कहानी;
१३. पद्मपाणि बोधिसत्व;
१४. बुद्धाकर्षण;
१५. एक बोधिसत्व;
१६. बुद्ध-मुद्रायें एवं विस्मय (Miracles) श्रावस्ती का विस्मय;
१७. वज्रपाणि—कमल-पुष्प-समर्पण;
१८. चाम्पेय-जातक;
१९. अनभिज्ञ चित्र;
२०. राज-भवन-चित्र;
२१. दरबारी चित्र;
२२. भंग-चित्र;
२३. वृषभ-युद्ध;

कन्दरा नं० २— १. अर्हत, किन्नर तथा अन्य गण जो बोधि-सत्व की पूजा कर रहे हैं;
२. बौद्ध भक्त-गण;
३. इन्द्र तथा चार यक्ष;
४. उड्डीयमान चित्र—पौष्पिक एवं भंगिक चित्रों के साथ;
५. महिला-प्रवास (Exile);
६. महाहंस-जातक;
७. यक्ष एवं यक्षिणियां;
८. बुद्ध-जन्म;
९. पुष्प लिये हुए भक्त;
१०. पुष्प लिये हुए भक्त;
११. नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भंगक चित्र;
१२. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;
१३. मैत्रेय (बोधिसत्व)
१४. भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं में;
१५. भंगक चित्र;
१६. अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)
१७. पुष्पसहित भक्त-गण;
१८. पद्मपाणि भक्त-गण;
१९. हारीति तथा पांचिक;
२०. विधुर-पण्डित-जातक;
२१. पूर्ण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा;
२२. पूर्ण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा;
२३. राज-भवन;
२४. राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणों पर;
२५. बोधिसत्व—उपदेशक-रूप;
२६. भङ्ग-चित्र;
२७. नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

कन्दरा नं० ६— १. बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon);
२. द्वार-पाल तथा महिला भक्ता;

३. बुद्धाकर्षण ;
४. एक भिक्षु;
५. द्वारपाल एवं नारी-प्रतिहारिणियां,
६. श्रावस्ती का आश्चर्य ।

कन्दरा नं० ७—१. बुद्धोपदेश;
२. बुद्ध-जन्म;

कन्दरा नं० ९—१. नागराज—सगण-सेवक;
२. स्तूप की ओर जाते हुये भक्त;
३. चैत्य एवं विहार;
४. बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५. पशु-चित्र;
६. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;

कन्दरा नं० १०—१. राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थ आगमन;
२. राज-जलूस;
३. राज-जलूस;
४. श्याम-जातक-षड्दन्त—हस्ति-कथा;
५. छद्दन्त-जातक—षड्दन्त-हस्ति-कथा ।
६. बुद्ध -चित्र;

कन्दरा नं० ११— १. बोधि-सत्व—पद्मपाणि;
२. बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर;

कन्दरा नं० १६— १. तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन;
२. सूत-सोम-जातक—सुदास-सिंहनी-प्रेम-कथा;
३. चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण;
४. महा-उम्मग-जातक;
५. मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द-पत्नी);
६. नन्द का धर्म-परिवर्तन;
७. मानुष बुद्ध;

८. अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक-रूप;
९. बृद्ध-उपदेश-मुद्रा;
१०. हस्ति-जुलूस;
११. संघोपदेश—बुद्ध;
११. बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का आगमन, बुद्ध का राजगृह में भ्रमण;
१३. बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें;
१४. राज-भवन;
१५. Conception;
१६. बुद्ध का शैशव;

कन्दरा नं० १७— १. राजा का दान-वितरण;
२. राज-भवन;
३. इन्द्र तथा अप्सरायें;
४. मानुष बुद्ध तथा यक्ष एवं यक्षिणियां;
५. बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व;
६. क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७. बोधिसत्व अवलोकतेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-वृन्द;
८. हस्तिनी के साथ यक्ष;
९. राजसी मृगया;
१०. संसार-चक्र;
११. माता एवं शिशु—भगवान् बुद्ध एवं अन्य बौद्ध देवों के निकट;
१२. प्रथम धर्म-चक्र;
१३. भंग-चित्र;
१४. महाकपि-जातक;
१५. हस्ति-जातक;
१६. राज-खड्ग-प्रदान;
१७. दरबारी दृश्य;
१८. हंस-जातक;
१९. शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश;

२०. विश्वन्तर-जातक—दानी राजकुमार;
२१. यक्ष, यक्षिणी एवं अप्सरायें;
२२. महाकपि जातक (२)
२३. सूत-सोम-जातक;
२४. तुषिता में बुद्धोपदेश—दो और दृश्य;
२५. बुद्ध के निकट मां और बच्चा;
२६. श्रावस्ती का महान् आश्चर्य;
२७. शरभ-जातक
२८. मातृ-पोषक-जातक;
२९. मत्स्य-जातक;
३०. साम (श्याम)-जातक;
३१. महिष-जातक;
३२. एक यक्ष—राज-परिक्षक-रूप;
३३. सिंहल अवदान;
३४. स्नान-चित्र;
३५. शिवि-जातक;
३६. मृग-जातक;
३७. भालू-जातक;
३८. न्यग्रोध-मृग-जातक;
३९. दो वामन—वाद्य-यन्त्रों के सहित;
४०. भंग-चित्रण।

कन्दरा नं० २१— १. कमल-वेलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तियां।

कन्दरा नं० २२— १. संघ को उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध।

संरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल में, किन कलाचार्यों के संरक्षण में इन चित्रों का निर्माण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयणी उद्भावना का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं; तथापि वह पुनरावृत्ति उचित है। जहां तक उत्तम कुड्य-चित्रों की रचना का सम्बन्ध है, वह देवों के द्वारा बताई जाती है। पुनः यह चित्रण यक्षों (पुण्यजनों) के द्वारा आगे चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूर्व २५०) की गाथा है। तीसरी परम्परा नागों के

द्वारा सम्वद्धित हुई, जो नागार्जुन (ई० २००) के आधिपत्य में बताई जाती है। लगभग ३०० वर्ष में यह लड़ी टूट गई। फिर बुद्ध-पक्ष (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उसी देव-परम्परा में रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहां तक नवीं तथा दसवी कन्दरा के चित्रों का प्रश्न है, वह द्राविड़ नरेशों (आंध्र राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते हैं। यह अजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा नं० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि में यह कला गुप्तों की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग में जहां हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे हैं, उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एवं क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—जहां लेप्य एवं प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहां तक इन कुड्य-चित्रों की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमें भारतीय एवं योरोपीय-ऐशियाई दोनों पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहां पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रों में प्रतिपादित है वही यहां पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूंकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणों (चित्र-लक्षणों) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क में योरुप-एशिया के प्रथित चित्र-पीठों पर प्राप्त ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिये संकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त में उन्हें झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुंचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा में पर्सी ब्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्हीं के ग्रन्थ में एवं मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Lakṣanam and Royal Arts—Yantras and

Citras में द्रष्टव्य हैं ।

वर्ण-विन्यास एवं तूलिका-चित्रण—ये सब अपने ही शास्त्रों के प्रतीक हैं । विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रन्थों में देखिये । अब आइये अन्त में मेरी समीक्षा की ओर ।

शास्त्र एवं कला—अजन्ता के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता रेखा-कर्म है । विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम संकेत कर ही चुके हैं :—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ।।

अतः अजन्ता के चित्रों में रेखा-कर्म परम प्रकर्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण है । अजन्ता की चित्र-तालिका में प्राप्त विषयों को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर जाइये और देखिये—महाहंस-जातक-चित्र एवं उसी चैत्य में बोधिसत्व-अवलोकितेश्वर अथवा बुद्ध का वैराग्य (The Great Renunciation) जिन में सर्वाधिक वैशिष्टय रेखा-कर्म है तथा वहां रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सर्व-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर रहा है ।

वर्ण-विन्याम भी हमारे शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है । महा-हंस-जातक-चित्र में जो वर्ण-विन्यास विशेषकर नीली का विन्यास किया गया है, वह राजावन्ताभिध वर्ण का प्रतीक है । राजावन्त-राजावर्त-लजावर लाजवर्दी के सम्बन्ध में हम अपने पूर्व स्तम्भ में पहले ही समीक्षा कर चुके हैं । जहां तक अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुगमन का प्रश्न है वहां प्रतिमा एवं चित्र दोनों के सामान्य अंग जैसे मुद्रायें वे भी इन चित्रों में पूर्ण रूप से विभाव्य हैं । गुहा नं० १ के राज-भवन-चित्र में जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है, वह बड़ा आकर्षक है । इसी प्रकार अन्य चित्रों में भी नाट्य, नृत्य, एवं संगीत मुद्राओं का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है । अस्तु, अजन्ता चित्रों के इस स्थूल समीक्षण के उपरान्त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर ।

सिंहल-द्वीप—सिगरिया—इस पीठ के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता है धर्म-प्रेरणा का अभाव । इन चित्रों में लगभग बीस नायिका-चित्र हैं । ये चित्र

सिंहल-द्वीप के राजा काश्यप (४७९-४९७ ई०) के समय में चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियों के चित्र हैं। जहां तक चित्रण-प्रकर्ष एवं प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन में सर्वाधिक वैशिष्टच सौन्दर्य है। इन चित्रों में तक्षण एवं चित्र-कौशल दोनों प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। ब्रुश और छेनी दोनों की कला के ये मिश्रण हैं।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा में लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र-पीठ स्थित है; परन्तु नर्मदा दोनों के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अतः इन दोनों के संरक्षण की पृथक्ता भी सुतरां प्रकट एवं समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है, न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाड़ी के एक विशाल हाल में नाना चित्रों का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ९० फुट चौकोर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात भित्ति-या सभी चित्रों से चित्रित थे, परन्तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रों में अजन्ता और सिगारिया दोनों का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध-धर्म-प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रों में बौद्ध-धर्म के इस देश में ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण हैं। एक संगीत-नाटक (हल्लिसक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एव स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहां महाकाल तथा श्री सत् अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है वरन् पंजाब (देखिये कांगड़ा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल में नाना सम्प्रदायों एवं पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बंगाल से हुआ, जो १२वीं शताब्दी के निदर्शन हैं। पुनः १५वीं शताब्दी में जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एवं सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहां तक ब्राह्मण-चित्रों की बात है वह १२वीं शताब्दी में एलोरा के गुहा-मन्दिरों से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल में यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य-काल एवं मध्य-काल की स्मृतियां हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतियां हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ-गुर्णी जो चित्रों से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार में प्राप्त है तथा यह कृति ११वीं शताब्दी में सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल में सम्पन्न हुई। यह ताल-पत्र-चित्रण ११वीं से लेकर १४वीं तक चलता रहा। इन में अंग-सूत्र, त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, श्री नेमिनाथ-चरित, श्रावण-प्रतिक्रमण-चूर्णी—ये सब ११वीं से १४वीं शताब्दी तक के निदर्शन हैं। अब आइये (१४००-१५००) जैन चित्रों की ओर। उनमें कल्प-सूत्र, कालकाचार्य-कथा तथा सिद्ध-हेम—ये सभी चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारों में प्राप्त हैं। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलैस्ट्रटेड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइये कर्गल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यों ही १५वीं ई० के उपरान्त कागज़ का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन-चित्रों का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन में कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा असंख्यों पत्र-चित्रणों के साथ साथ हिन्दू प्रेम-मय गाथा-काव्यों के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे बसन्त-विलास एवं रति-रहस्य के साथ साथ स्तोत्र एवं स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त-शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणों से भर गये। इन सभी चित्रों में रैखिक चित्रों की सुन्दर आभा दर्शनीय है। ये Oblong Frame के निदर्शन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एवं भिन्न वर्णों का पूर्ण विन्यास दर्शनीय है।

अस्तु, इस पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल में यतः तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एवं प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अतः ये बेचारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड़ गयी। तथापि यह कला मरी नहीं। यह कला द्वीपान्तर भारत एवं सीमावर्ती देशों में एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहां पर इस कला के बड़े ही प्रौढ़ निदर्शन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुरकिस्तान (खोटान) तथा तिब्बत में जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पड़ती है। स्टीन और ली काग के इन चित्र-अन्वेषणों ने समस्त संसार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रबद्ध थी। कुड्य-चित्रों के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एवं पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यों, मन्दिरों एवं विहारों विशेषकर तिब्बती पीठों में काफी संख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूतानी चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनों ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थीं। इन दोनों कलाओं का उद्भव १६वीं ईसवी शताब्दी (१५५०) में प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वीं शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वीं में मर गई, क्योंकि यही काल मुगलों के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एवं कला दोनों का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है तथापि नवीन उपचेतनाओं तथा उद्भावनाओं का भी इस में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अतः बुद्ध-धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) में स्वाभाविक चेतनाओं के द्वारा इस कला का विकास स्वतः सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा, शिव-माहात्मय तथा विष्णु-पूजा एवं विष्णु-माहात्म्य का था। भक्ति-धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा-कृष्ण-लीला का यह युग था, जिस में रास-लीला, नायक-नायिका-लीला बड़े ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव-पार्वती, सन्ध्या-गायत्री, रामायण एवं महाभारत के आख्यान चित्र ये सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अतः ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थीं। अतः यह चित्र-कला राजस्थान में एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती-कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की संज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुनः मुगल दरबार की राजधानियों उप-राजधानियों जैसे दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि नवाबी शहरों में भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पंजाब की हिमाचल उपत्यकाओं में एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कांगरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कांगरा कलम से यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पंजाबी राजपूती कला में रैखिक कर्म, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भंगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडंग-चित्र के सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं का पूर्ण आभास एवं बिलास प्राप्त होता है।

इस कांगरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बड़ी विशेषता

राजश्रय थी प्रदेशीय (Local) आवश्यकताओं एवं चेतनाओं तथा रस्म-रिवाजों का भी इन चित्रणों में साक्षात् प्रतिबिम्बन है। पहाड़ी राजाओं की आज्ञा ही चित्र-कार के लिसे उसका सब से बड़ा अध्यवसाय था। अतएव इन चित्रों में राजसी—राजा रानियों के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एवं भागवतिक चित्र भी प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं।

दूर्भाग्य का विलास था कि धर्म-शाला के भू-कम्प-विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एवं उनमें विनिर्मित, संग्रहीत असंख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगर्त में विलीन हो गये तथा यह बड़ी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १६०५ ई० की है। अब आइये मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र-कला धार्मिक, जनौपयिक तथा रहस्यवादी कला थी, जहां मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट् अकबर के दरबार में यह कला प्रारम्भ हुई, क्योंकि कला-संरक्षक अकबर की इन कलाओं में बड़ी रुचि थी; अतएव अनेक विदेशी कलाकार तथा चित्रकार अकबर के दरबार में आ बिराजे। ईरान, फारस, समरकन्द आदि स्थानों में प्रोल्लसित चित्र-कला-केन्द्रों में शिक्षित एवं दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की आइने-अकबरी में इन चित्रकारों की बड़ी संख्या का निर्देश है। फर्रूख, अब्द-अल-समद, शेराजी, मीर सय्यद आदि अकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहांगीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ आ पहुंचे। शाहजहां विशेषकर स्थापत्य में तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुनः औरंगजेब तो इन कलाओं का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र-कला पर ईरान का अमिट प्रभाव है, तथापि देश की संस्कृति एवं जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नहीं सकता। अतः यह कला इस देश की इन दोनों धाराओं में समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल-चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देने के श्रेय-भागी हैं। इन में बसवन, दशवन्त, केशोदास आदि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता चित्र-फलक है। मृगया एवं

युद्ध भी इन चित्रों के प्रमुख अंग हैं। दरबार तथा ऐतिहासिक इतिवृत्त भा इन चित्रों के पूर्ण अंग हैं। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ, परन्तु कालान्तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके हैं, देहली कलम, लखनवी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम, आदि अवान्तर कलमों में प्राप्त होता है। अतः मुगली कला काफी प्रवद्ध एवं प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Pain ing का प्रारम्भ प्रदान किया —नहीं। चित्र-फलक-चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-लेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न-युवक का प्रथम फलक-चित्र Portait Painting का श्रीगणेश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नहीं कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एवं भक्तप्रवर महाराज अजातशत्रु ने अपते मास्टर के चित्र की प्रार्थना की तो उन्होंने केवल अपनी पट पर पड़ती हुई छाया के चित्र को चित्रित करने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की तो तत्कालीन प्रवुद्ध चित्रकार ने उस छाया में इस विधा के चित्र को तूलिका के द्वारा वर्ण-विन्यास में परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अजन्ता के भी ऐसे **Portraits** को देखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इंगित कर चुके हैं।

इस किञ्चत्कर व्यक्ति-चित्रों के इतिहास पर इस थोड़े से उपोद्‌घात के अनन्तर हम यह अवश्य मानेंगे कि मुगलों की चित्र-कला ने इस चित्र-विधा पर बड़ी भारी उन्नति की। राजाओं, महाराजों, नवावों, रानियों, दरबारियों, के वैयक्तिक चित्रों में जो आभा प्रदर्शित की है, वह सर्वप्रमुख इन चित्रों की विशेषता है। पूरा आकार-प्रतिबिम्बन इह प्रमुख विशेषता के साथ महापुरुष लाञ्छन (मण्डल-प्रभा) तथा राज-चिन्ह आदि भी इन चित्रों के बड़े आकर्षा धायक अंग हैं। इन मुगल-कालीन चित्रों में नर्तकियों, वेश्याओं, साधुओं, सन्तों, सिपाहियों, दरबारियों सभी के वैयक्तिक चित्रों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह मुगल चित्र-कला यथानाम मुगलकला नहीं है इसे हम राष्ट्रीय चित्र-शाला के नाम से पुकार सकते हैं और इसकी अभिख्या अन्राष्ट्रीय कीर्ति-प्रस्तर पर मूल्यांकन हो सकती है।

१८वीं शताब्दी (१७६० ई०) में जब यह मुगज-कला मुगल-साम्राज्य क साथ ह्रास को प्राप्त हुई, तो यहां के कुछ समझदार कला-प्रेमियों ने इसके

पुनरूत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरूत्थान जब इस आधुनिक युग में प्रारम्भ हुआ तो इस में सबसे बड़ी प्रेरणा रसास्वाद-आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बंगाल के साथ साथ दिल्ली, लखनऊ, पंजाबी पहाड़ी इलाके—पंजाब खास कर लाहौर तथा अमृतसर, पटना इन उत्तरापथ प्रदेशों के साथ साथ दक्षिण भारत में भी जैसे औरंगाबाद, दौलताबाद, हैदराबाद और निकोंडा में भी यह आधुनिक कला अपने पुनरूत्थान पर पहुंच गई। तारानाथ ने अपने चित्र-कला-इतिहास में दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारों में जय, प्रजय तथा विनय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य-वश इनके समय के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठे जिनको तन्जौर और मैसूर के नाम से कीर्तित करते हैं।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु मुझे यह कहने में संकोच नहीं है, कि उन्होंने अपनी पुरानी थाती अर्थात शास्त्रीय सिद्धान्त एवं परम्परागत कला-प्रक्रिया इन दोनों को चन्द्र-हस्त देकर योरुप के अनुगामी होने का बीड़ा उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल-धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य इन दोनों कलाओं की अपनी अपनी मूल भित्तियां थी और दोनों में काफी मौलिक भेद भी थे। अतः इन दोनों का मिश्रण कला-सिद्धान्त एवं कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बड़ा गलत कदम था। अतः इस युग में हमारे पुराने चित्र नहीं रहे। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि आज जहां भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला-विद्यालय की ओर जाइये वहां सभी स्थानों पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाई की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नहीं तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त प्रवृद्ध पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने में समर्थ हो सकेंगे।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात :—ग्रीक माइथोलोजी में म्यूज़ज़ आफ फाइन आर्टस् भूतल पर एक के बाद एक नहीं उतरीं । अतः हमारे देश में भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान् नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य अतिप्राचीन है । काव्य, नाट्य, संगीत भी अतिप्राचीन है । तथैव वास्तु, शिल्प एवं चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं । ये ललित कलायें सभ्यता एवं संस्कृति के अभिन्न अंग हैं । अतः पुरातत्वीय उपोद्घात में हमने संकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्वीय दोनों स्तरों पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त, अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हमने अपने अंग्रेज़ी के ग्रन्थ में जा निम्न आकूत प्रस्तुत किया है उसको पाठक एवं विद्वान् दोनों ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculputure and build branch-houses, prepare implements, paint the cavewalls (their refuse) and do many other things, painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages.

अस्तु अब हम वैदिक वाङ्मय से प्रारम्भ करते हैं ।

वैदिक वाङ्मय :—ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओं में चित्र-कला की स्पष्ट भावनाये प्राप्त होती हैं । उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य में इसी का ४. ४. पढ़ें तो वहां पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्रोज्ज्वलता से ऐदम्पर्य नहीं परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अंग है ।

पाली वाङ्मय—विनय-पिटक में वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन में चित्रागारों के चड़े सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । विनय-पिटक का समय ईसवीय पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है । संयुक्त-निकाय में पट्ट-चित्रों परचित्रित पुरुष एवं स्त्री चित्रों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । त्रिविध चित्र-प्रकारों पर यह संदर्भ अति प्राचीन माना जा सकता है । जातक-साहित्य में भी इस प्रकार के बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । अब आइये रामायण और महाभारत की ओर ।

रामायण एवं महाभारत—आदि-कवि बाल्मीकि-कृत रामायण पढ़िये,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र-भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनों के विन्यास में चित्रागार अभिन्न अंग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का संकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध में हम ने इस ग्रन्थ में दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास - लेखक १७वीं शताब्दी में पैदा हुए थे, जिन्हों ने चित्र-कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवों की चित्रकला, यक्षों की चित्रकला तथा नागों की चित्रकला।

पुराण—पुराणों में चित्र-कला के सम्बन्ध में असंख्य संदर्भ भरे पड़े हैं। पुराणों की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन में सब से बड़ी देन पुराणों की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु-धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला-विज्ञ परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन में हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही संकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियों और काव्यों पर। वैसे तो प्रायः सभी नाटकों तथा काव्यों में चित्र-कला के सम्बन्ध में बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुंगवों को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं :—

१. कालिदास	२. बाणभट्ट	३. दण्डी
४. भवभूति	५. माघ	६. हर्ष-देव
७. राजशेखर	८. श्रीहर्ष	९. धनपाल
१०. सोमेश्वर सूरि		

कालिदास—कालिदास के तीनों नाटकों में तीनों प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिविम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोवर्शीय संगीत का तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों नाटकों से उद्धृत निम्न अवतरणों को पढ़िए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एवं तदनुप्राणित कला करामलकवत् दिखाई पड़ती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र-भूमि-बन्धन, वर्ण-विन्यास, तूलिका-लेखन, छाया-कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रों में मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयों पर ये उदाहरण साक्षात् मूर्तिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं :—

चित्रशाला

'चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल. १

'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं: सचित्राः......प्रासादास्त्वां तुलयितु-मलम्,—मेघ०

चित्राचार्य

'चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक-चित्र (Portraits) :—

'तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च, ।।'—रघु०

'वाष्पायमाणो बलिमान्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।'—रघु०

'सखि ! प्रणम भर्तारं, यः पार्श्वतः पृष्ठवः दृश्यते ।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र :—

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र :—

'अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र :—

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्' ।।—अभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र :—

'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ।।—मेघ०

(च) अंग-लेखन-चित्र :—

'हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकांकिते स्वनामचिन्हं निचखान सायकम् ।।'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुरांगनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥

भूमि-बन्धन (पट्ट-चित्रीय) :—

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैःशिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नो कृतान्तः ॥'—मेघ०

भूमि-बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन :—

'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥

(ब) अण्डकवर्तन एवं मानसिक-कल्पन :—

'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥'

तूलिका-उन्मीलन

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १.३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

'स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिकानिपुणात्' ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिकोच्छ्वासा च' अंक ६।

चित्र-द्रव्य

देखिये अभि० शा० अं० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in it.

चित्र-वर्णाः—शुद्ध-वर्णाः

'पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥'—कुमा०

'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जललवमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०

'स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

व्यूह्यस्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्ध चूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमानः ॥—रघु० १३.५१

'स दक्षिणापांगनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्' —कु० ३.

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९.३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः सालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥'—रघु० १.१३

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरूं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३.३३

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जंघे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषांगनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य, इवास यत्नः ॥—कुमा० १.३५

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविड़ोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्यः प्राणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालांगुली।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः शिलष्टं तथास्या वपुः ॥—माल॰ २.३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

"राजा—वयस्य ! अन्यच्च, शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः।

विदूषकः—किमिव ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यास्य च यत् सदृशं भविष्यति।

राजा—कृतं न कर्णार्पितवन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥—अभि॰

'इयमधिकमनोज्ञा वल्केलेनापि तन्वी
किमिक हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'—अभि॰ १.

'सखि, रोचते ते ऽयं मुक्ताभरणभूषितो
नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः'—विक्र॰ ७.

'वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः।
पाण्डुच्छाया तटरूहतरूभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती।
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥'—मेघ॰

'त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
बधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥- कुमा॰ ५.६७

'आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिन्हदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥—रघु॰ ११.२५

'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरूपायैः।
हरिरिव युगदर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥'
—रघु॰ १०.८६

'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति।'—मेघ॰

'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वेणिभिर्मुक्तमार्गः।'—मेघ॰

'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥—कुमा॰ १

चित्र—विषय--क्षेत्र—उद्देश्य

'सखि ! तदा ससंभ्रममुत्कण्ठिताहं भर्तू रूपदर्शनेन तथा न वितृष्णास्मि

यथाद्य विभावितश्चित्रगतदर्शनो भर्ता।'—माल० ४

'अये! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोगं करोति।''—अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः।

'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः।''

—रघु० १८.५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।

तथापि तस्या लावण्यरेखया किञ्चिदन्वितम्॥'—अभि०

'चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।

संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥'—माल० २,

'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥'—माल० १

बाण-भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही लिख दिया है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्-सर्वम्' का क्या अर्थ है? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा राजसी हर्षचरित—इन दोनों महाकाव्यों में चित्रों का विलास पद पद पर दिखाई पड़ता है। बाण का वर्ण-चित्रण, वर्ण-भेद शिल्प-रत्न के निम्न उद्घोष का पूर्ण प्रमाण है :—

जंगमाः स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।

तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते॥'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह. च.) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियों की तालिका देखिये, उसमें चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है। अतः उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नहीं था।

बाण-भट्ट के राज-भवनों के वर्णन में जो चित्र-शालायें वर्णित हैं, वे विमान-शैली पर निर्मित प्रतीत होती हैं। नारद-शिल्प में जो चित्र-शाला का शास्त्रीय विवेचन है, उसी के आधार पर ये विभाव्य हैं। निम्न उद्धरणों को पढ़िये जिस में चित्र-विषय, चित्र-प्रकार, भूमि-बन्धन, द्रव्य-प्रक्रिया, वर्ण-

विन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पड़ते हैं :

चित्र-शाला-निर्माण

'मरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चत्रशालाभिः
.........दिव्यविमानपंक्तिभिरिवालंकृता ।'— का. पृ. ६६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् ।'—ह. च. १४२
'सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैःसूत्रधारैः ।'—ह. च. १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् '—का. १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसंशोभितैः'—का. २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह. १४८
'सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रुः ।'
—ह. १२७

'आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमणद्भिः संतप्यमनचरणो ।'—ह. १३६
'दिवसावसानेषु---चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ॥'—का. ४४६

फलक: (Portraits) :—
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहाराणि' ।—का. १३६
'चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥—ह. १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे ।'—ह. १७५
'प्रविशन्नेव—चित्रवति पटे—कथयन्तं यमपट्टिकं ददर्श'—ह. १५३

पट-चित्र :—
'वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः ।'—का. ५३६

पट्ट-चित्र :—
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतकाः ।'—ह. १३८

शिला-चित्र :—
'अत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि—त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकानि
वन्दमाता ।'—का. २६१

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका :—

रूपोलेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का. ४५५

वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का. ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक :—'वही' ।

तूलिका :—'अवलम्बमानतूलिकालाबुकांश्च...''—ह. २१७

वर्ण-पात्र (वर्ण-करण्डक) :—'अलावु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन :—

'उत्थापिताभिनवभित्तिपात्यमानबहलवालुकाककण्ठकालेपाकुलाले-प्रकलोकम् ।'—ह. १४२

'उत्कूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैधवैर्धवलीक्रियमाणप्रासाद-प्रतोलीप्राकाराशिखरम् ।'—ह.

चित्र-फलक-बन्धन :—

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिविम्बम्'—का. १७२

प्रमाण एवं अण्डक-वर्तन :—

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का. ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'रूपालेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।' —का. ४५५

'प्रातश्च तदुन्मीलितं चित्रमिव चन्द्रापीडशरीरमवलोक्य ।'—का. ५४८

पत्र-लेखनादि :—

'उभयतश्च—पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णकादिग्धांगुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिनी-भिर्व्याप्तम्—ह. १४३

चित्र-वर्ण-विन्यास-बाहुल्य

मूल-वर्ण—शुद्ध-वर्ण:—

शुभ्र-वर्ण :—'हरितालकेसावदातदेहः'

'हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्सना'
'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'
'अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरैः'
'कर्णिकारगौरेण वीध्रकञ्चुकच्छन्नवपुषा'
'वकुलसुरभिनिःश्वसितया चम्पकावदातया'
'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'
'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण '
'शंखक्षीरफेनपटलपाण्डरम्'
'विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डरं रजःसंघातम्'

रक्त-वर्ण :—

'तस्य चाधरदीधतयो विकसितबन्धूकवनराजयः'
'कुङ्कुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य'
'कुसुम्भरागपाटलं पुलकबन्धचित्रम्'
'रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरघातकीस्तबके'
'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'
'माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'
'बालातपपिञ्जरा इव रजन्यः'
'पारावतपादपाटलरागः'

हरित-वर्ण :–

'शुकहरितैः कदलीवनैः'
'मरकतहरितानां कदलीवनानाम्'
'तरूणतरतमालश्यामले'

भूरा (gray) वर्ण :—

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव'
'रासभरोमधूसरासु'
'वनदेवताप्रासादानां तरूणां—तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु'
'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'
'शफरोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण :—

'गोरोचनाकपिलद्युतिः'

'हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभिः।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे'

'धूसरीचक्रुः क्रमेलककचकपिलाः पांसुवृष्टयः'

'गोधूमधामाभिः स्थलीपृष्ठैरधिष्ठिता'

श्याम-वर्ण :—

'जरन्महिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलांगूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि'

'चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण :—

'आचममनशुचिशचीतिमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनुःसहस्राणि।'

'पाकविशरारू राजमाषनिकरकिर्मीरितैश्च'

'शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलांशुकशाराम्।'

मिश्र-वर्ण—अन्तरित वर्ण :—

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्ध-निंपतता धूमपटलेनेव परीतमूर्तिः'

'सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगतशुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयभिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्'

'आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः'

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) :—

चक्षुः कुरङ्गकैर्घोणावंश वराहैः स्कन्धपीठं महिषैः प्रकोष्ठबन्धं व्याघ्रैः पराक्रमं केसरिभिर्नमनं—माधवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयूरी मेखली मुद्‌गरी खंगी च भूत्वावाप विद्याधरत्वम्'

'देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकरः'

'भङ्गभङ्गवलनान्योन्यघटितोत्तानकरवेणिकाभिः'

दण्डिन

दशकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढ़िए, जिस में भूमि-बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिबिम्बन प्रत्यक्ष है :—

मणिसमुद्‌गात् वर्णवर्तिका मुद्धृत्य ....

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित में प्राकृतिक चित्रों की भरमार है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्व रखते हैं, उनके पूर्ण प्रतिबिम्ब यहां पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए श्रृंगवेर पुर के निकट इङ्‌गुदी—पादप का वर्णन, भागीरथी गंगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम वट-वृक्ष का वर्णन, प्रश्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन, पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन, पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नहीं हैं; ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढ़कर पण्डित-मण्डली ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

यह ठीक है या नहीं ? परन्तु इन के विरचित्र शिशुपाल-वध के तृतीय सर्ग के ३६वें श्लोक को पढ़िए, जिस में भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक-विधान है। अतिश्लक्ष्णता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एवं आलेख्य कर्म के लिए भूमि-बन्धन समीचीन नहीं—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चुक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बितांगं सजीव चित्रा इव रत्नभित्तीः ।।

हर्षदेव—हर्षवधन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके है। हर्षदेव की रत्नावलीं को पढ़िए :—

"गृहीतिसमुग्दकचित्रफलवर्तिका"

इस में षड्-चित्रांगो में वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा में विवेष कर उसके बाल-भारत में निर्यद्वासर इस सन्दर्भ में चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वी तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर - मध्यकालीन - चित्रकला का साहित्यिक - निबन्धन इतिहास उद्याम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता हैं। चित्र-कला में वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास में जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित संदर्भों में प्राप्त होता है। यहां पर 'ॐ' इस शब्द के दोनों दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारों के साथ दमयन्ती के दोनों भौहों (दोनों दल), तिलक (बिन्दु), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक में विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एवं तुलना है :—

शृंगवद्बालवत्सस्य वालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तों तथा चित्र-प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणों को पेश करतें हैं, जिनमें चित्र-प्रकार, चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-कर्म, चित्र-वर्ण, वर्ण-विन्यास एवं शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक, कर्ण, ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अंगुलियां—

सभी पर वड़े ही प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बडी विशेषता तल-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूच्य हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशां च तत्स्वप्नसंभोगकलाविलासैः ॥१०.३५॥

द्वार-चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥१०.३१॥

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारूवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते। ॥१.३८॥

चित्रमें योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः' ॥१८.२०॥

वर्तना

सूत्रपात-लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमप्यर्ध तनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥७.८३॥
अपांगमालिख्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिताञ्जनेन या।
आपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने ॥१५.३४॥

हस्त-लेखा—पुराकृतिःस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयंभवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्' ॥७.१५॥
अस्यैव सर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥७.७२॥
हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम्।
राम राममधरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ॥२१.६९॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रंग—'विरहपाण्डिम. राग, तमोमषीशितम तन्निजपीतिम वर्णकैः
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरो नलरूपकचित्रिता : ॥४.१५॥

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चुक्रुर्युवानः प्रतिविम्बतांगं सजीव चित्रा इव रत्नभित्तीः ।।

हर्षदेव—हर्षवधन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। वाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके है। हर्षदेव की रत्नावलीं को पढ़िए :–

"गृहीतिसमुद्गकचित्रफलवर्तिका"

इस में षड्-चित्रांगो में वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा में विवेष कर उमके बाल-भारत में निर्यद्वासर इस सन्दर्भ में चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वी तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर - मध्यकालीन - चित्रकला का साहित्यिक - निबन्धन इतिहास उद्याम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता हैं। चित्र-कला में वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास में जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित संदर्भों में प्राप्त होता है। यहां पर 'ॐ' इस शब्द के दोनों दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारों के साथ दमयन्ती के दोनों भौहों (दोनों दल), तिलक (बिन्द्), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक में विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एवं तुलना है :—

श्रृंगवद्वालवत्सस्य वालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तों तथा चित्र-प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणों को पेश करतें हैं, जिनमें चित्र-प्रकार, चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-कर्म, चित्र-वर्ण, वर्ण-विन्यास एवं शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक, कर्ण, ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अंगुलियां—

सभी पर बड़े ही प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बडी विशेषता तल-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूच्य हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशां च तत्स्वप्नसंभोगकलाविलासैः।।१०.३५।।

द्वार-चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः।।१०.३१।।

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारूवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते।।१.३८।।

चित्र में योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्नदसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः' ।।१८.२०।।

वर्तना

सूत्रपात-लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्त्रेयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ।।७.८३।।
अपांगमालिख्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिताञ्जनेन या।
आपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयः श्रिया वर्धयितुं विलोचने ।।१५.३४।।

हस्त-लेखा—पुराकृतिःस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयंभवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्' ।।७.१५।।
अस्यैव सर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ।।७.७२।।
हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम्।
राम राममधरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ।।२१.६९।।

वर्ण-विन्यास

चार मूल रंग—'विरहपाण्डिम. राग, तमोमषीशितम तन्निजपीतिम वर्णकैः
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरो नलरूपकचित्रिता : ।।४.१५।।

'पीतावदातारूणनीलभासां देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुंकुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ॥१०.९७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादाराध मदनं प्रियासखः।
नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥८.३॥
वर्ण-विन्यास—'स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी विभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२.९८॥

शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत बिभ्यतीभ्यः ॥
नासीदसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य ॥
बन्धूकबन्धुभवदेनदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह संध्यामधरोष्ठलेखा ॥
विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागुलियन्त्रयेव ॥
इहाविशद्येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्या श्रवः पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णकपम् ॥
ग्रीवाद्भुतेवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिंग्यतामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागाखिलोर्ध्वकाया ॥
कवित्वगानाप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्नासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ।
रज्यन्नखस्यागुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैठेलपद्मतूणे ॥
हैमैकपुख्यास्ति विशुद्धपदर्व प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ।
चक्रेण विश्वे युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥
भूश्चित्रलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरूसृष्टिः ।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकानेनकाप्सरः प्रेक्षणकौतुकानि ॥
यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादानराजो परशुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥

एष्यन्ति यावद्भणनाहिगन्तान्नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टम् ।
इमे पदारत्ने विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवाङ्गुलयोऽत्र लेखाः ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदेव व्यधाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित् कनकनिर्मिताखिलः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिकः क्वापि चारिस्थरविधैन्द्रजालिकः ॥'—१८.११

पत्र-भंग-चित्रण

स्तनद्वये तन्वि परं तथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां वलना समाप्तिम् ॥"—३.११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मसीभावुकवर्णलेखम् ।
तस्यपैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमीनखलेखिनीभिः ॥३.६३

चित्र-मुद्रा

क्रमोद्गता पीवरताधिजंघं वृक्षाधिरूढं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभंगिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७.९७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रसाध्याय्यननेकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य यं बहु धुञ्शिरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट् ॥—१८.१२

सोमेश्वर-सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू में न केवल चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं का ही पूर्ण प्रोल्लास प्राप्त होता है, वरन् जिस प्रकार बाण की रचनाओं से तत्कालीन चित्र-कला-सेवन एक प्रकार से दैनिक-चर्या थी, उसी प्रकार 'यशस्तिलक' के पन्नों मेंतत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एवं गार्हस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र-कला का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रालेखन की संज्ञा से पुकार सकते हैं। पत्रालेखत में तात्पर्य लता-विच्छित्ति-चित्रण हैं, जो नरों,नारियों, पशुओं एवं पक्षिओं के अंगों पर चित्रणीय हैं। कालिदास ने ही सबसे पहले इस

परम्परा का अपने मेघदूत में श्रीगणेष किया था, 'रेवां द्रक्ष्यसि......आदि'।

परन्तु पुनः इन का पुनरूत्थान 'यशस्तिलक' के सन्दर्भों से प्राप्त होता है। यहां पर वे कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने शंख, स्वस्तिक, ध्वजा, नन्द्यावर्त आदि लांछनों से गज की भूति को विकसित किया है यह पत्रालेखन एक प्रकार से बड़ा ही विरला है। आगे चल कर नायिकाओं के अंग-प्रसाधन में, शृंगार में अंगों की भूति-प्रदर्शनार्थ नाना अंगोपांग, अन्तरांग प्रसाध्य हैं। निम्न लिखित उद्धरण पढ़िए :

'ऊर्ध्वनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रसादम्'

अस्तु, इस थोड़े से साहित्य-निबन्धनीय एवं ऐतिहासिक सिंहावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकला के अन्तिम स्तम्भ पर आते हैं।

ग्रन्थ-चित्रण—चित्रकला को हम तीन धाराओं में बहती हुई पाते हैं। पहली हुई पुरातत्वीय, दूसरी हुई साहित्यिक। अब इस तीसरी धारा को हम ग्रन्थ-चित्रण के रूप में विभावित कर सकते हैं। समरांगण-सूत्रधार का यह निम्न-प्रवचन इस तीसरी धारा की ओर भी संकेत करता है।

'त्रित्रं हि सर्वशिल्पनां मुखं लोकस्य च प्रियम"

यह धारा विशेषकर गुजरात में पनपी और इसके निदर्शन हस्त-लिखित जैन-ग्रन्थ ही मूर्धन्य उदाहरण हैं। जैन-चित्र-कल्पद्रुम से ही नहीं, वरन् अन्य अनेक जैन-हस्त-लिखित-चित्रित-ग्रन्थों से भी यही प्रमाण प्रस्तुत होता है। हीरानन्द शास्त्री ने अपने Monograph (Indian Pictorial Art as developed in Book Illu‹tiutions) में भी यही प्रमाण पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१. वेदी
२. पीठ

विषयानुक्रमणी—शेषांश

अध्याय ४०

वेदी-लक्षण

वेदियां चार हैं जो पुरा ब्रह्मा के द्वारा कही गयीं हैं उन्हीं का अब हम नाम, संस्थान और मान से वर्णन करते हैं ॥१॥

पहली चतुरश्रा, दूसरी सर्वभद्रा, तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गई है ॥२॥

यज्ञ के अवसर पर, विवाह में और देवताओं की स्थापनाओं, सब नीराजनों में तथा नित्य-वलि-होम में, राजा के अभिषेक में और शक्रध्वज के निवेशन में राजा के योग्य ये बतायी गयी हैं और वर्णों के लिये भी यथाक्रम समझनी चाहियें ॥३-४॥

चतुरश्रा वेदी चारों तरफ से नौ हाथ होती है। आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बतायी गई है। श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञों ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ॥५-६॥

चतुरश्रा वेदी को चारों ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारों दिशाओं में भद्रों से सुशोभित करना चाहिए, श्रीधरी को बीस कोनों से युक्त समझना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के संस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिये। अपने अपने विस्तार के तीन भागों से उन सब की ऊंचाई करनी चाहिये तथा मन्त्र-पुरस्सर इष्टकाओं के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ॥७-१०॥

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा, विवाह में श्रीधरी, देवता के स्थापन में सर्वभद्रा वेदी का निवेश करना चाहिए। अग्नि-कार्य-सहित नीराजन में तथा राज्याभिषेक में पद्मावती वेदी कही गई है और शक्रध्वज-उत्थान में भी इसी का विधान है ॥११॥

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारों दिशाओं में सोपानों से चतुर्मुखी बनाना चाहिए। उसे प्रतीहारों से युक्त और अर्धचन्द्रों से उपशोभित चार खम्भों से युक्त, चार घड़ों से शोभित तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका से बने हुए कलशों से सुशोभित करना चाहिए। और वे घड़े प्रत्येक कोने

पर सुंदर वानरों के चित्रों से भूषित विन्यस्त करना चाहिए। वेदियां के स्तम्भों का प्रमाण छाद्य (छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२-१४॥

एक, दो अथवा तीन आमलसारक छाद्य के द्वारा स्तम्भ के मूल भागों को गुड़, शहद अथवा घृत से चिकना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से चिकना कर उनका यथास्थान विन्यास करे। पुनः देवताओं की पूजा कर के ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वेदिका का लक्षण जो चार प्रकार का यहां बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन में वर्तमान होता है, वह संसार में पूजित होता है और राजा की सभा में स्थपति शोभा को प्राप्त करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

अध्याय ४१

पीठ-मान

अब देवों के और मनुष्यों के पीठ का प्रमाण कहा जाता है। एक भाग की ऊंचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ, डेढ़ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊंचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊंचाई कही गई है ॥१–२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवों का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नहीं करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विचक्षण स्थपतियों के द्वारा बनाना चाहिये ।।२½-३।।

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वहां सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है । ऐसा करने पर दोष नहीं और देवों की पीठ की ऊंचाई एक भाग से प्रकल्पित है । जिस का जिस विभाग से वास्तु-मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊंचाई भी करनी चाहिए । मनुष्यों के घरों के पीठ देव-पीठों के तुल्य (बराबर) करने चाहिएं अथवा देवों के पीठ अधिक करने पर देवता लोग वृद्धि करते हैं ।।३-७½।।

पुर के मध्य भाग में ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए, उसको चर्तुमुख बनाना चाहिए, जिस से वह सब पुर को देख सके । सब वेश्मों से तथा राज-प्रासाद से भी उसे बड़ा बनाना चाहिए ।।७½-८।।

और देव–मन्दिरों से राज-प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योंकि लोकपालों में श्रेष्ठतम पांचवां लोकपाल राजा कहा गया है ।।९।।

इस प्रकार से देवों के इन संपूर्ण पीठों का वर्णन किया गया । अब ब्राह्मणादि के क्रम से चारों वर्णों के पीठों का वर्णन करता हूं ।।१०।।

३६ अंगुल की ऊंचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णों के पीठ चार चार अंगुल से छोटे हों ।।११।

चारों वर्णों के पीठों और गृहों को विप्र भोग करता है और तीन वर्णों का क्षत्रिय, दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भोग करता है ।।१२।।

इस प्रकार पीठों का विभाग गृह–स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करें ।।१३।।

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते हैं ॥१३½॥

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा अन्य देवों के पीठों का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया । तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया । इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस संपूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल

१. राज-निवेश

२. राज-भवन

अध्याय ४२

राज-निवेश

चौसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर-निवेश यथाविधान, यथाङ्गोपाङ्ग का विधान करने पर अर्थात् यहां पर परिखाओं, प्राकारों, गोपुरों, अट्टालकों के निर्माण करने पर, गलियों का विभाग तथा चारों ओर चबूतरों का विभाग कर लेने पर और क्रमशः अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओं की स्थापना करने पर पूर्व दिशा में जल-बहुल प्रदेश में अथवा पूर्व में आगे के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश, श्री, विजय वाले मंत्र-पद-अधिष्ठित यथा-वर्णक्रमायात समान चारों कोने वाले शुभ पुर के मध्य भाग से ऊपर दिशा में स्थित राजा के महल को बनाना चाहिये ।।१-४।

दुर्गों में राज-महल ऊपर दिशाओं में भी अथवा जहां उचित भू-प्रदेश प्राप्त हो वहां निविष्ट किया जा सकता है और वहां पर विवस्वत, भूधर अथवा अर्यमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद-निवेश विहित माना गया है ।।५।।

दो सौ तैंतालीस चापों से युक्त पद में ज्येष्ठ प्रासाद कहा गया है, और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सो आठ का होता है ।।६।।

ज्येष्ठ पुर में ज्येष्ठ राज-निवेश का विधान है, मध्यम में मध्यम और छोटे में छोटा है ।।७।।

यह राज-मार्ग पर आश्रित होता है, और इस के वास्तु-द्वार का मुख पूर्व की ओर होता है। चारों ओर प्राकारों एवं परिखाओं से रक्षित, सुन्दर कान्ति वाले, अङ्गभ्रमों, निर्यूहों अर्थात् भवन-विच्छित्तियों एवं सुदृढ़ अट्टालकों से युक्त इक्यासी पदों से विभक्त नृप-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति से अन्य दिशाओं से आश्रित पदों पर निर्माण करना चाहिये, इसका गोपुर-द्वार भल्लाट-पद-वर्ती इष्ट माना गया है ।।८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊंचाई के समान कल्याणकारी महेन्द्र-द्वार महीधर शेष नाग पर निवेश्य कहा गया है। वैवस्वत में पुष्पदन्त, अर्यमा में गृहक्षत, और दूसरे प्रदक्षिण पदों में अपरतः इसी प्रकार से अन्य दूसरी अपनी अपनी दिशाओं में द्वारों का निर्माण करना चाहिए। सब आभिमुख्य होने पर ये सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गये हैं ।।११-१३।।

उन नगर द्वारों से वीस अंशों को छोड़कर सुग्रीव, जयन्त और मुख्य के पदों पर पक्ष-द्वारों का निर्माण करना चाहिए। अथ च उसी प्रकार से वितथ में प्रदक्षिण भ्रमों का निर्माण करना चाहिए ॥१४–१५½।

देवताओं के पद-समूहों से पुर के समान वास्तु-पद के विभक्त होने पर मैत्र पद पर राजा के निवेश के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी–जय प्रासाद का यथावत निवेश करना चाहिये ॥१५½-१६॥

श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, अथवा मुक्तकोण इनमें से जिस किसी को राजा चाहे उस शुभ–लक्षण राज–प्रासाद का निर्माण करावे ॥१७॥

अब आइये नाना-विध राज-प्रासाद-निवेशों का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एवं कर्म-चारियों के अपने अपने पृथक् पृथक् निवेशों के साथ राज-गृह निवेश्य होता है। प्राची दिशा में आदित्य भगवान् सूर्य्य के पद से संश्रित राज-गृह होता है। सत्य में धर्माधिकरण-व्यवहार-निरीक्षण का न्यास विहित है और मृग में कोष्ठागार और अम्बर में मृग एवं पक्षियों का निवास बताया गया है ॥१८–१९॥

अग्नि की दिशा से प्रारम्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई, पूषा में सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ॥२०॥

सावित्र्य में वाद्यशाला और सविता में बन्दि-गणों का निवास बताया गया है। वितथ में चर्मों का एवं उसके योग्य अस्त्रों का विधान विहित है। सोना, चांदी के कामों का गृहक्षत में निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा में गुप्ति कोष्ठागार बनाना चाहिये ॥२१–२२॥

प्रेक्षा-संगीत और वास-वेश्म गन्धर्व में स्थापित करने चाहिए। रथ-शाला और हस्ति-शाला का निर्माण वैवस्वत में करना चाहिए ॥२३॥

पश्चिमोत्तर भाग में वापी का निर्माण करना चाहिए ॥२४½॥

गन्धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदों में प्राकार के वलय से आवृत अन्त पुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्त पुर के गोपुर-द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखीन बनाना चाहिए। भृङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एवं दोला गृहों का भी निवेश करना चाहिये। स्थपति के द्वारा अपराङ्मुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग में नृप का अन्तःपुर और पित्र्य में अवस्कर अथच यथास्थान राजाओं की स्त्रियों का उपस्थान भी इन्द्र-पद में कहा गया है ॥२४½-२७॥

सुग्रीव पद में आश्रित अरिष्टागार कल्याणकारी होता है एवं उसका

निवेश जयन्त तथा सुग्रीव पदों में विशेष विहित है ॥ २८ ॥

मनोहर अशोक-बन के स्थान के लिए एवं धारा-गृह एवं लता-मण्डपों से युक्त लता-गृह भी यहीं पर होने चाहिए। सुन्दर लकड़ी के पर्वत, वापियां, पुष्प-वीथियाँ भी होनी चाहिए। पुष्पादन्त में पुष्प-वेश्म तथा अन्तःपुर के कर्मादिक निवेश करने चाहिए ॥२९—३०॥

वरुण के पद में वापी और पान-गृह बनाने चाहिएं। असुर में कोष्ठागार, शोष में आयुध-गृह विहित बताये गये हैं। ॥३१॥

रौद्र-नामक सुन्दर पद में भाण्डागार का निर्माण करना चाहिए और पाप-यक्ष्मा के पद पर उलूखल, शिलायन्त्र-भवन, अर्थात् ओखली और चक्की के स्थान बनाने चाहिएं ॥३२॥

राजयक्ष्मा में लकड़ी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है। वायु-दिशा में रोग-पद पर औषधियों का स्थान होना चाहिए। विद्वानों के द्वारा नागों का स्थान नाग के पद पर शुभ कहा गया है और मुख्य में व्यायाम, नाट्य और चित्रों की शालाओं का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद में गौवां का स्थान तथा क्षीर-गृह होने चाहिए। सौम्य के उत्तर-प्रदेश में पुरोहित का स्थान कहा गया है। अथ च यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान, अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये हैं। भूधर अर्थात् शेष-नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एवं मन्त्र-वेश्म भी प्रतिष्ठाप्य हैं और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। ३५-३७½॥

उत्तर मार्ग में आश्रित घोड़ों की वाजि-शाला होती है, और वह महीधर के पद पर ही दक्षिणामुखी यथोचित रूप से राज-प्रासाद के अनुरूप सर्वत्र वाजिशाला बनानी चाहिए। राजा अपने प्रासाद में जब प्रवेश करता है तो दक्षिण में वाजिशाला पड़नी चाहिए और वाम भाग में गजशाला पड़नी चाहिए। चरक नामक पद में राज-पुत्रों के घरों का निर्माण करना चाहिए, और यहाँ पर इन लोगों की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए। अथ च नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान में करना चाहिए। यहीं पर पृथक स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग कहे हैं ॥३७½—४१½॥

राजाओं के हाथियों की शालाओं का निर्माण आप पद पर उचित कहा गया है। यहीं पर गजों के अभिषेचनक स्थान विहित हैं ॥४१½—४२½॥

आपवत्स के पद पर हंस, क्रौंच, सारस पक्षियों से कूजित, और जहां पर

कमल-बन खिले हुए हैं, ऐसे स्वच्छ सलिल वाले तालाबों का निर्माण करना चाहिए ।।४२½–४३½।।

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद में होना चाहिए ।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊंचे अधिकारियों के भी घर यहीं पर विहित हैं ।।४३½–४४½।।

ऐशानी दिशा में अनल-स्थान पर ऊंचे ऊंचे खम्भों एवं उत्तङ्ग वेदिकाओं से युक्त अच्छी अच्छी मणियों से बने हुए सुन्दर देव-कुल का निर्माण करना चाहिये ।।४४½–४५½।।

पर्जन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ।।४५।।

सेनापति को विजय देने वाले घर का निर्माण जयाभिध-पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्यमा के पद में प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है। और यहीं पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र-कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ।।४६–४७½।।

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है। इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मों का विधान है और यहीं पर असुखावह गवाक्ष एवं स्तम्भा-शोभिनी शालाओं का भी विधान विहित है ।।४७½–४८।।

राज-प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक्-प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है। साथ ही साथ राज-प्रासादों के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य हैं; अथवा पृष्ठ-भाग में भी विहित हैं ।।४९–५०½।।

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रसाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप-सप्तसागर-पर्यन्ता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ।।५१।।

राज-गृह

१०८ कर अर्थात् हस्त वाला ज्येष्ठ, ९० हस्त वाला मध्यम, ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अतः महान विभूति एवं सम्पदा को चाहने वाला इससे हीन मान से राज-वेश्म का निर्माण न करावे ।।१–२½।।

क्षेत्र के चौकार बना लेने पर, दश भागों में विभाजित कर आदि कोण में आश्रित दीवाल आधे भाग से कही गयी है ।।२½—३½।।

चार खम्भों से युक्त मध्य से चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भों से आवृत निर्माण करे । तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खंभों से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खंभों वाला होता है और ३६ खंभों से चौथा अलिन्द विहित है । इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज-वेश्म में १०० खंभे विद्वानों के द्वारा बताये गये हैं ।।३½—६½।।

इस के चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चशाख-द्वार विहित हैं । उसके चारों निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते हैं, वे सब बराबर होते हैं । और इसी प्रकार से चारों दिशाओं में भद्राओं का निवेशन विहित है ।।६½–७।।

बीच की दीवाल के आधे से तीनों भद्रों में दीवाल होती है; प्रत्येक भद्र में २८, २८ खम्भे कहे गये हैं ।।८।।

मुख-भद्र वेदिकाओं और मत्तवारणों से युक्त कहा गया है । क्षेत्र-भाग का उदय आदि भूमि के फलक तक कहा गया है ।।९।।

आदि भूमि की ऊंचाई के आधे से इस का पीठ कल्पित होना चाहिए । नव भागों से ऊंचाई करके एक भाग से कुम्भिका बनानी चाहिए ।।१०।।

चारों भागों में आठ अंश से युक्त स्तम्भ-निर्माण करना चाहिए; पाद-युक्त एक भाग से उत्कालक बनाना चाहिए ।।११।।

पाद-रहित भाग से हीर-ग्रहण करना चाहिए । खम्भे से युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है । पट्ट के आधे से जयन्तियों का निर्माण करना अभिप्रेत है । अन्य भूमियों पर यही क्रम है; परन्तु निर्मित भाग की ऊंचाई से आधा छोड़

दिया जाता है अर्थात् तलभूमि से ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवां तल सच्छाद्य होता है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढ़े तीन भागों का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिससे वेदिका ढक जाए अथ च उस का कण्ठ बीच में डेढ़ भाग से बनाना चाहिए ॥१२—१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागों से करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढ़े चौदह भाग से, पाद सहित दो भागों से कण्ठ, पांच से पट्ट, चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीर्ष देना चाहिए। क्षेत्र-भाग के बराबर चूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६—१८॥

भूमि की ऊंचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-घरण्डिका ढाई भाग से, जंघा चार भाग से, उसके बाद छाद्य-प्रवृत्त करे ॥१९—२०॥

एक पाद कम दो भागों से छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हंस नाम का निर्गम चार हाथ वाला बताया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से, प्रासाद की जंघा चार भागों से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका के सिर पर फिर मुण्डों का निवेश करे और शेष भूमिकाएं क्षण-क्षण प्रवेश से बनानी चाहियें। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा-सहित और कलशों से युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओं की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२३—२४॥

ऊंचाई के आधे के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन, आतपत्र, कुबेर, भ्रमरावली, हंसपृष्ठ, महाभोगी, नारद, शम्बुक, जय और दशवां अनन्त, स्थपति मुण्ड की रेखाओं की प्रसिद्धि के लिए इन उदयों का निर्माण करें ॥२५—२७½॥

इस प्रकार अंगवेदिका, जाल और मत्तवारणों से शोभित वितर्दिकाओं और निर्यूहों से युक्त, चन्द्रशाला से विभूषित, कर्माढ्य और बहुचित्र उस पृथ्वी-जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½—२८॥

जो बड़े बड़े प्रासाद कहे गये हैं वे बराबर ऊंचाई वाले बनाने चाहियें। अवाक् कोण से ऊंचाई के आधे से छोटे हों यह क्रम है ॥२९॥

आगे भाग से ऊंचाई क्षेत्र-विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (क्षोणी-विभूषण) है ॥३०॥

जिन में बहुत से निकर हों, उन मे आंगन दिया जाता है। पहिली

रेखा अथवा दूसरी रेखा में या फिर तीसरी रेखा में सम्वरण बताये गये हैं। दश भाग वाले क्षेत्र में इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३३½॥

अब क्रम-प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है ॥३३॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर द्वादश भागों में विभाजित करने पर इस के मध्य भाग को चार खम्भों से विभूषित करना चाहिए; एक भाग से अलिन्द १२ खम्भों से युक्त होता है और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी वीस धरों से धारित कहा गया है। तीसरा अलिन्द २८ धरों से और चौथा अलिन्द ३६ से, ४४ धरों से पांचवा कहा गया है ॥३४–३७½॥

आधे भाग से दीवाल बनवावे, डेढ भाग को छोड़कर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावें। इन के विस्तार और निर्गम एक भाग से भद्र का निर्माण करे। उससे एक भाग छोड़ कर इस का दूसरा भद्र होता है। भाग-निर्गम और विस्तार का सभी दिशाओं में यही क्रम है ॥३७½-३९॥

५४ खम्मों से युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस के मध्य में १४४ खम्भे विहित हैं अथवा २१६ दोनों मिला कर इस प्रकार से सब धरों की संख्या ३६० (१४४+२१६=३६०) हुई। यहां पर शेष निर्माण पृथ्वी-जय के समान ही इष्ट होता है ॥४०–४२½॥

सम्पूर्ण निकासों में तीसरी भूमिका के ऊपर आंगनों का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहां पर फिर बता दिया गया है ॥४२½–४३½॥

इसी प्रकार सर्वतोभद्र-संज्ञक तथा शत्रुमर्दन-संज्ञक राज वेश्मों में यही विधान करना चाहिए। और यही मुण्डरेखा-प्रसिद्धि के लिए क्रम है ॥४३½–४४½॥

श्रीवत्स के भी मध्य में मुक्तकोण के समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। डेढ़ भाग को छोड़ कर तीन भागों से विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राग्रीव होता है और इस का भी मुक्तकोण के समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओं में है। शेष पूर्ववत् है। हर एक भद्र में ३० दृढ़ शुभ खम्भे होते हैं सब धरों की संख्या १२० होती है और इसी प्रकार से सब स्तम्भों की संख्या २६४ होती है ॥४४½—४८॥

सर्वतोभद्र-नामक वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। चौकोर क्षेत्र को १४ भागों में विभाजित करने पर चार खंभों से विभूषित और इसका चतुश्क एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खंभों से युक्त प्रथम अलिन्द, बीस से दूसरा

२८ स्तम्भों से तीसरा, ३६ से चौथा, ४४ से पांचवां, ५२ से छठा अलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ़ और घन आधे भाग से दीवाल कही गयी है ।।४९—५३।।

डेढ़ भाग को छोड़ कर तीन भागों से विस्तृत कर्ण का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग से निर्गम ।। ५४ ।।

भाग-निर्गम-विस्तृत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागों से निकला हुआ मध्य में भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निर्गम, अन्तर भाग से निर्गत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रों के प्रकल्पन में यह विधान सब दिशाओं में बताया गया है ।।५५ - ५७।।

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग में स्तम्भों की संख्या १९६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रों में १६० खम्भे होवें इस प्रकार सब स्तम्भों की संख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जंघा तीन भूमिकाओं वाली बतायी गई है ।।५८-६०½।।

शत्रु-मर्दन नामक राज-वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। पृथ्वी-जय के समान मध्य में इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी जाहिए। डेढ़ भाग को छोड़ कर एक भाग से आयत और विस्तृत और उस के बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र बनावे और इसी प्रकार तीन भागों से निकला हुआ भद्र बनावे। दोनों ओर का भद्र आयति और विस्तार में तीन भागों से विस्तार और एक भाग से निर्गम विहित है। वहां पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तृत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओं में करनी चाहिए ।।६०½—६४।।

इसकी ऊपर की भूमियां पृथ्वी जय के समान ही करनी चाहियें और प्रति भद्र ४४ स्तम्भों से युक्त कहा गया हैं ।।६५।।

इसके मध्य में सब सुदृढ़ और शुभ खंभे बनाये जायें। इस तरह इसके २७६ खंभें होते हैं ।।६६।।

इन पांचों राज–भवनों का ८०० हाथों का उत्तम मान, उत्सेध और विस्तार विहित है। अतः कल्याण चाहने वाले के द्वारा यह मान सम्पादित किया जाना चाहिए। मध्यम एवं अधम का मान पृथ्वी-जय में बता ही दिया गया है ।।६७—६८½।।

अब राजाओं के क्रीड़ा के लिए और पांच भवन बताये जाते हैं। पहला है क्षोणी–विभूषण, दूसरा पथिवी तिलक, तीसरा प्रताप वर्धन, चौथा श्री-निवास और पांचवाँ लक्ष्मी-विलास। इस प्रकार से ये पांच राज-वेश्म वर्णित किये

गये हैं ॥६८½—७०½॥

क्षेत्र के चौकोर करने पर दश भागों में विभाजित कर मध्य में चार खम्भों वाला चतुश्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त में अंश-त्रय से आयत, तीन भागों से विस्तृत कर्ण-प्रासादों का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य में षड-दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण से युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र में एक भाग से विस्तृत तीन प्राग्रीवों से युक्त, और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और आध भाग की भित्ति से वेष्टित होता है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि-शेखर (क्षोणी-विभूषण) राज-प्रासाद होता है। ७०½—७४॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर १२ भागों में विभाजित कर मध्य में एक भाग से चतश्क और दो भागों से बाहर के दो अलिन्द, कर्णों में नवकोष्ठक-प्रासादों का सन्निवेश करें और उनके अंदर षड्दारूक का सन्निवेश भी अनिवार्य है। तब बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र में एक भाग से आयत चारों दिशाओं में भाग-निष्क्रान्त होना चाहिए। और इस का चतुश्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्रायें भाग-विस्तार और निर्गम वाली बनाना चाहिए और वे आधे भाग की भित्ति से वेष्टित हों। ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण में विस्तीर्ण, भाग निर्गत २ भद्र चाहियें। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम से संकीर्तित किया गया है ॥७५—८०½॥

क्षेत्र को चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागों में बांट लेने पर चार खम्भों वाला चतुश्क मध्य में एक भाग से निर्मित करें और उसके बाहर वाला आलिन्द एक भाग से और दूसरा भी एक भाग से। कर्णों में नवकोष्ठक-प्रासादों का विनिवेश करें और उसके अन्दर षड्दारूकों को लगावे। उसके बाद बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनावें। भद्र में एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खंभों वाला चतुष्क होता है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दो से परिवेष्टित होता है। तीन भागों से विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है। दोनों तरफ दोनों भद्र एक भाग से बराबर करने चाहियें और भद्र के चारों तरफ बाहर की आधे भाग से भित्ति कही गई है। चारों दिशाओं में इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विलास-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है ॥८०½—८६॥

कर्ण के दो दो प्राग्ग्रीव और शाला के दो प्राग्ग्रीव जब इसके हों तो

इसका नाम कीर्ति-पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारों तरफ आठ निर्मुक्त शालाओं से परिवेष्टित एवं शालायें एक दूसरे से सम्बन्द्ध कर्ण-प्रासादों से युक्त शालोज्झित कोनों से युक्त प्रासादों में सुन्दर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥८८—८९॥

तल-छन्द ये बताये गये, जो जंघा, संवरण आदि और भूमि-मान आदि सब पृथ्वी-जय के समान होते हैं ॥९०॥

अब क्षोणी-भूषण वेश्म का लक्षण कहता हूं ॥ ९१½ ॥

५५ हाथों से कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागों में विभक्त कर, चार खंभों से युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भों से और दूसरा २० और तीसरा २८ से युक्त होता है ॥९१½-९३ ॥

भित्ति के ड़ेढ़ भाग को छोड़ कर एक भाग से निर्गत, पांच भाग से विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागों से विस्तृत और एक भाग से निर्गत बनाना चाहिए। उसके आगे के भद्र एक भाग से विस्तृत और एक भाग से निर्गत कहे गये हैं। इस प्रकार से इसकी सिद्धि के लिए यह विधि सब दिशाओं में बतायी गयी है। सारदारू से निर्मित एवं १८ हाथ के प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भों से युक्त प्रत्येक भद्र का निर्माण करे। इस तरह यहां पर सब जगह खभों की संख्या १३६ होती है। इसक चार दरवाजे करने चाहियें जो यश, लक्ष्मी और कीर्ति के वर्धन करने वाले होते हैं ॥९४—९८॥

अब पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है। ४० हाथ वाले क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त कर भीतर के चार खंभों से भूषित एक भाग से चतुष्क और अलिन्द भी बारह खंभों से युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस से और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण में तीन भागों से निर्गत आयत प्रासाद (कर्ण-प्रासाद) कहा गया है ॥९९ - १०१॥

एक भाग निर्गत एव विस्तृत इसके दोनों भद्रों का निर्माण करना चाहिए। कर्ण और प्रासाद के मध्य में पांच भागों से विस्तृत और एक भाग से निर्गत मध्य भद्र कहा गया है। तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग से निर्गत मध्य में दूसरा भद्र बताया गया है। इस प्रासाद के भीतर ३६ खंभे और भद्रों पर २०८ खंभे बताये गये हैं ॥१०२—१०४॥

अब इसके बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हूं। इसका मध्य पृथिवी-तिलक के समान परिकीर्तित किया गया है। सपाद भाग छोड़ कर तीन भाग से विस्तृत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होता है। उस के भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गत एवं विस्तृत, सुदृढ़ दश खंभो से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओं में इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी संख्या से इसके ७६ खम्भें होते हैं ॥ १०५—१०८ ॥

अब इसके वाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। साढ़े अठ्ठाईस हाथों से विभक्त होने पर मध्य में चार धरों (खम्भों) से सम्भृत और भागैकविहित चतुष्क और इसका अलिन्द १२ खंभों से युक्त एवं भागैकविहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका होनी है और इसका भद्र भाग—निर्गम-विस्तार वाला चार स्तम्भों से भूषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओं में यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये हैं और सभी धरों (खंभों) की गणना ६४ कही गयी है ॥१०९—११३½ ॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हूं। प्रताप-वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप-वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रों के कोनों में ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों में भी भद्रों का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रों का निर्गम एक भाग का होता है—यह विशेष कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भों से और मध्य भद्र १६ धरों से विहित बताया गया है। चारों दरवाजे इच्छानुसार क्षणमध्यग और अपने पद में सुशोभित दूसरा दरवाजा बनावे ॥११३½—११७ ॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढ़े छै भूमियों से क्षोणी-भूषण का निर्माण करें और पृथिवी तिलक-संज्ञक वेश्म साढ़े आठ भूमियों से, श्रीनिवास साढ़े पांच भूमियों से, लक्ष्मी-विलास भी साढ़े पांच भूमियों से तथा प्रताप-वर्धन साढ़े चार भूमियों से विनिर्मेय है ॥ ११५-१२०½ ॥

राजाओं के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास—भवन जो राजाओं के निवास और विलास के लिए कहे गये है उन पृथ्वी-जय आदि राज-वेश्मों के दरवाजों का अब मान कहा जाता है ॥ १२०½—१२२½ ॥

५४ अंश सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात् ऊंचाई कही गयी है; उसके आधे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खंभों का पिण्ड कहा गया है ॥ १२२½-१२३ ॥

सपाद, सचतुष्कर, सत्ताइसवां गृह-भाग राज-वेश्मों की पहिली भूमि कही गयी है ॥ १२४ ॥

भूमि की ऊंचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसके चार अंशो से निर्गम,

दो अंशों से छाद्यक और पाद कम से ऊंचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय-निर्गत हरीग्रहण-पिण्डाग्र-वाहल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही वाहल्य पादकम विस्तृत कहा गया है। अन्तरावणिका के समान मदला का विनिर्गम बताया गया है। अपने निर्गम से उसकी पाद-सहित ऊंचाई होती है और इसकी भूमि की ऊंचाई के नवें अंश के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा-मूल का विस्तार खंभों का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल में विहित बतायी है ॥ १२६-१३०½ ॥

मनीषियों ने तुम्बिनी, लुम्बिनी, हेला, शान्ता कोला मनोरमा तथा आध्माता—ये सात लुमाय बताई हैं। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और आध्माता कर्णगा बताई गयी है। क्रमशः अन्तराल में पांच अन्य लुमायें कही गयी हैं ॥१३०½-१३२½॥

स्तम्भ में छाद्य धरने के लिए दृढ़ शुभ मदला रक्खे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रक्खे। मल्ल-नामक छाद्य में सात अथवा पांच या तीन लुमायें कही गयी हैं। इनके कोनों में इन के अलावा अन्य प्रांजल और सम बनानी चाहियें। छाद्य में कर्ण से कहीं कहीं उनको मत्स्य-आनन-अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरों से युता और कहीं पर गजतुण्डिका-युता (सूड़ वाली) बनाना चाहिए ॥१३२½—१३५½॥

इस सकुम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर उस में दो भागों को आधे आधे चार भाग करे। वहाँ पर पादकम भाग से राजितासनक अलंकृत होता है और उसके बाद उत्कालक-सहित सांघ्रिभागा वेदी विनिर्मित होती है ॥१३५½-१३७½॥

यहां पर कूटागार के तुल्य अंशार्ध से आसन-पट्टक बनाना चाहिए। वह अभीष्ट विस्तार वाला एक भाग से ऊंचा मत्तवारण होता है और अपने उदय के तीसरे भाग से टेढ़ा इसका निर्गम होता है ॥१३७½-१३८॥

रूपकों से और करण आदि और सुपुत्रों से भी सुशोभित इस का सुन्दर पत्रों से निचित वेदिका आदि शुभ होती है और उस को लोहे की शलाकों और नालों से दृढ़ कर देना चाहिए ॥१३९-१४०½॥

इन निरूपित पृथ्वी-जय-प्रभृति १५ राज -निवेशनों के जो स्थपति लक्षण सहित परिमाण जानता है, वह राजा के सन्तोष का भाजन बनता है ॥१४१॥

राज-निवेश-उपकरण

१. सभाष्टक
२. गज-शाला
३. अश्व-शाला
४. नृपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती हैं—नन्दा, जया, पूर्णा, भाविता दक्षा, प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर, सोलह भागों में विभाजित कर मध्य में चार पद हों और सीमालिन्द एक भाग वाला हो। उसी प्रकार आदि का आलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित हैं। और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारों दिशाओं में होना चाहिए ॥२–३॥

राज-भवन की चारों दिशाओं में सभा-भवन बनाने चाहियें। क्रमशः तब नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा ये सभायें होती हैं ॥४॥

क्षेत्र को षड् भागों में विभाजित करने पर कर्ण-भित्ति का निवेशन करे, तो प्राग्रीव वाली भाविता नाम की पांचवीं सभा होती है। इन पांचों सभाओं में ३६ खम्भों का निवेशन करे और प्राग्रीव से सम्बन्धित खम्मों को इन से अलग अलग विनिवेशित करे ॥ ५–६ ॥

दक्षा नाम वाली छठी सभा चारों तरफ से तृतीय अलिन्द से वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवीं यह सभा द्वारों से युक्त परिकीर्तित की गयी है। प्राग्रीव और द्वार से युक्त आठवीं विदुरा नाम की सभा कही गयी है। इस तरह इन आठों सभाओं का लक्षण बताया गया है ॥ ७–८ ॥

इस प्रकार से आठों सभाओं का ठीक तरह से दिशा-सम्बन्धित अलिन्द-भेद से लक्षण बताया गया है। उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के संयोग के जानने पर राजाओं का स्थान-योग भी सम्पादित होता है ॥ ९ ॥

अध्याय ४५

गज-शाला

अब गज-शालाओं का लक्षण कहता हूं ॥१/२॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनावे । प्रासाद के समान क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ॥१/२—२॥

उसके बाहर एक भाग में अलिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग से भित्ति का निर्माण भी दूसरे अलिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के दरवाजे पर दो कूर्परों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द के सहारे कर्ण-प्रासादिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवाल में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए । अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए । इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं, तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है । यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ॥८॥

पांचवीं गज-शाला चौकोर होती है और वह वर्षिणी नाम से कीर्तित होती हैं । इसके अतिरिक्त छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द, निर्यूह से हीन बतायी गयी हैं । धान्य, धन और जीवन का अपहरण करने वाली , यह प्रमारिका नाम की शाला होती है । इस लिए इस का वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सकल मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

वास्तु-शास्त्र में इस प्रमारिका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालाये कही गई हैं उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनावें ॥११॥

अध्याय ४६

अश्व-शाला

अब अश्व-शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं । अपने घर की वास्तु अर्थात् राज-प्रासाद के गन्धर्व-संज्ञक पद में अथवा पुष्पदन्त-संज्ञक पद में घोड़ों के रहने के लिए स्थान बनावे ॥१—२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अरत्नियों (हाथों) के प्रमाण की, मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½—३½॥

सुपरिस्कृत प्रदेश से मांगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए । यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो, वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए, बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियों और सूखे वृक्षों, चैत्य और मन्दिर तथा बांबी और पत्थरों से वर्जित प्रदेश में घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे ।

निस्संग, कांटों से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश में ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बताये गये किसी शुभ दिन स्थपतियों के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एवं शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व-शाला के संभार प्रतिष्ठाप्य होंगे । ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहियें जो श्मशानों में, देवतायतनों में अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों में उत्पन्न हुए हों ॥७—८॥

गृह-स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षों को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानों में, बांबी प्रदेशों में, ग्रामों में और धान्य के कूटने वाले स्थलों में और बिहार-स्थानों में घोड़ों का निवेशन-स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गांवों में और धान्यूखलों में अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीड़ायें प्राप्त होती हैं । श्मशान में वाजि-वेश्म-निवेशन से मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारों और बल्मीकों में बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी, तथा

तपस्वियों के लिए नित्य संताप-कारी और विनाश-कारी होता है ॥१२॥

चैत्य में उत्पन्न होने वाले वृक्षों के द्वारा निर्मित वाजि-सदन देवोपघात का जन्म करने वाला, स्त्रियों का नाश करने वाला और भूतों का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काँटे वाले पेड़ों से विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होता है। फटी हुई और उन्नत ज़मीन पर करने से वह क्षयावह होती हैं ॥१४॥

नीची भूमि में बनाया गया वाजि-मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि में घोड़ों की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय, मनोज्ञ और चौकोर स्थान में बनाया गया वाजि-सदन सद्य: कल्याण-कारक होता है। स्थपति वाजियों का निवेशन इस प्रकार करें कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व में घोड़े हों। अन्तःपुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस से राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने पर दाएं तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पड़े ॥१६–१८॥

स्वामी के हित के लिए घोड़ों की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण-सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावे । १९॥

प्राग्रीव से युक्त चार शालाओं वाला और खुला हुआ, दश अरत्नि ऊंचा और आठ अरत्नि विस्तृत, नागदन्तों (खूटियों) से शोभित सामने आधी कुड्य से युक्त हो, वहां पर इस प्रकार के वाजि-स्थान की कल्पना करे और वहां पर घोड़ों के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व-मुख हों अथवा उत्तर-मुख हों। आयाम में एक किष्कु और विस्तार में तीन किष्कु ॥२०-२२॥

उनके ऊपर के भागों को लम्बे, ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए । उन में आगे से ऊँची सुख-संचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग में एक हाथ स्थान चारों तरफ मजबूत, बराबर, चिकने और घने फलकों से बिछा दें। ॥२३—२४॥

घातकी, अर्जुन, पुन्नाग, कुंकुम आदि वृक्षों से विनिर्मित आठ अंगुल ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनों पार्श्वों पर लोहे से बद्ध और संघत जन्तु-रहित लकड़ियों से शुभ निर्यूहों से खूब विस्तीर्ण घास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त में सुसमाहित और तीन किष्कुओं से ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नांद दो हाथों के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई में बराबर; बिना दुर्गन्धि और सूपलिप्त होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूंटे बनाने चाहियें। जिन में दो, घोड़े के पांच अंगों के निग्रह (पञ्चाङ्गी-निग्रह) के लिए बनाये जाते हैं। एक पीछे बांधने के लिए सुगुप्त परिकल्पन करे। हस्ति-शाला के चारों कोनों पर चार हाथ छोड़कर इन सभी स्थानों में घोड़ों का निवेशन करे ।।२७–३१½।।

छुटे हुए इन स्थानों पर बलि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ।।३१।।

ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी को खूब सींच देना चाहिए और वर्षा ऋतु में उस स्थल को जल और कीचड़ से व्याप्त नहीं होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु में वह ढका हुआ होना चाहिए जिससे यहां पर बिना किसी संकोच और संकीर्णता के घोड़े बैठ सकें। उन्हें इस तरह से बांधे कि वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें। और सभी प्रकार की बाधाओं से वे अपने को वर्जित समझें ।।३२–३३।।

दक्षिण-पूर्व दिशा में वह्नि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूर्व) में समाश्रित कर के रक्खे ।।३४।।

ब्राह्मी दिशा में घास अथवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा में औदूखल का स्थान बनाना चाहिए ।।३५।।

निःश्रेणी, कुश और फलक से ढके हुवे कुवें, कुद्दाल, उद्दाल, गुडक, सुक्तयोग और खुर, कच-ग्रहणी, सींग और फर्श, नादी और प्रदीप ये सब संभार वाजि-शाला के उपयोगी कहे गये हैं ।।३६–३७।।

सुख-संचार-वस्तुओं के संग्रह का स्थान नैऋत्य कोण में होना चाहिए। अग्नि के उपद्रव की रक्षा के लिये और बंध और छेद के उपयोगी पदार्थों, जल, दीपादिकों को पास ही में बुद्धिमान् रक्खे। जल लाने के लिए घड़े अलग रखने चाहियें। हस्तवासी, शिला, दीप, दर्वी, फल और जूते (उपानह), पिटक, चित्र-विचित्र पिटक और नाना प्रकार की वस्तियां और इसी प्रकार के अन्य वस्तुओं को प्रयत्न-पूर्वक रक्खें। आगे के खंभे में सन्नाह आदि का भाण्ड रक्खें ।।३८–४१।।

पूर्व-मुख घर में उत्तर दिशा में घोड़े का स्थान दें अथवा मित्र और वरुण के पूर्वाभिमुख पद में उसे स्थापित करें। इस व्यवस्था से बहुत से घोड़े हो जाते हैं और वे पुष्टि को प्राप्त करते हैं क्यों कि वह दिशा पूजनीय एव प्रशसनीय प्रकीर्तित की गयी हैं ।।४२--४३।।

होम, शान्ति-कर्म और दान जो धार्मिक क्रियायें कही गयी हैं उनमें स्वयं इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व दिशा प्रशस्त कही गयी है ।।४४।।

उस दिशा में सूर्य अपनी स्वाभाविक दिशा में उदय होता है। फिर वह

घोड़ों के पीछे से क्रमशः पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियों को घोड़ों का पूर्व-मुख स्नान, सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मांगलिक कार्य करने चाहियें ।।४५–४६।।

ऐसा करने पर राजा को भूमि, सेना, मित्र और यश वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ।।४७।।

वांछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला ग्रास का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला में विहित है। सूर्य के पद में वनाया गया घोड़ों का स्थान होता है क्योंकि वह दिशा अग्नि से अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोड़ों की आत्मा कही गयी है। वहां पर बंधा हुआ घोड़ा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर-मुख वाले वाजि-सदन में भी घोड़े कल्याण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से घोड़ों के स्थित होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोड़ों के वाम भाग से निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार से बाँधे जिस से चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय, सिद्धि, पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते हैं और सन्तति का बढ़ाते हैं ।। ४८-५३ ।।

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे, क्योंकि दक्षिण दिशा पितृ-कार्य के लिए कही गयी है। अतः वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा में सब प्रेत प्रतिष्ठित हैं और सूर्य बायें में उदय होता है और दक्षिण में अस्त होता है ।। ५४-५५ ।।

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोड़े देव–पीड़ा से पीड़ित होते हैं और विविध ग्रहों के विकारों से अराति-विह्वल वे बेचारे पीड़ित होते हैं। भय और व्याधियों से दुःखित वे घास को नहीं खाने की इच्छा करते हैं और मालिक की पराजय, अतुष्टि, अनर्थ उपस्थित करते हैं इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बांधें ।।५६–५८।।

पश्चिम दिशा में अर्थात् पश्चिमाभिमुख घोड़ों को बाँधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ-भाग से उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह तत्-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नहीं होती और इन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह को विनाश करने वाली व्याधियां उन घोड़ों के लिए शीघ्र ही कुपित होती हैं। उन से वे घोड़े घबराते हैं, कांपते है, और जल से डरते हैं और घास को नहीं खाते हैं और सब प्रकार से पृथ्वी

को छोड़ते है ।। ५९-६१ ।।

आग्नेयी-दिशाभिमुख यदि घोड़े बांधे जाते हैं तो रक्त-पित्त से उत्थित अनेक रोगों से वे पीडित होते हैं और वे स्वामी को बंधन, वध, हरण, शोक देने वाले होते हैं। घोड़ों के लिए भी वहां पर अग्नि से जल जाने का भय होता है ।। ६२–६३ ।।

स्वामी को पराजय, विघ्न और देह का संशय प्राप्त होता है, यदि नैर्ऋत्य दिशा में घोड़े बांधे जाते हैं और तब भोजन और पान का अभिनन्दन नहीं करते हैं और अपने पैरों से बार बार पृथ्वी को फाड़ते हैं। मनुष्यों, पक्षियों और पशुओं को देख कर बार बार हेषन करते हैं और नैर्ऋती दिशा के दोनों तरफ स्थित होकर अपने शरीरों को घुमाते हैं तथा इन से राक्षस लोग कुपित होकर इनका नाश करते हैं ।। ६४–६७½ ।।

यदि ये अज्ञान-वश वायव्याभिमुख बांधे जाते हैं तब वात रोगों से वे प्रतिदिन पीडित होते हैं। स्वामी का कलेवर चलायमान होने लगता है और उसके नौकरों के लिए क्लेश होता है । मनुष्यों की मृत्यु होती है और दुर्भिक्ष का भय पैदा होता है ।। ६७½–६९½ ।।

ऐशान्याभिमुख बंधे घोड़े नाश प्राप्त करते हैं। सूर्योदय के अभिमुख बद्ध वाजियों के लिए यह आदेश करना चाहिए कि ब्राह्मी-दिशाभिमुख जब घोड़े बांधे जाते हैं तो वे घोड़े दिव्य-ग्रहों से बंधते हैं और व्याधियों से चिन्तनीय हो जाते हैं। वहां पर स्वामी के लिए कव्य और हव्य की क्रियायें विजयावह नहीं कही गयी हैं। वहां पर घोड़े ब्राह्मणों के लिए ताप-कारक हो जाते हैं । ।।६९½–७२½।।

शाला के प्रत्येक वंश के पीछे घोड़े का स्थान इष्ट नहीं होता है क्योंकि स्वामी के लिए वह अजीर्ण-कारक और घोड़े के लिए नाश-कारक कहा गया है। इसलिए सर्वथा प्रशस्त स्थान में उनको बसाना चाहिए ।।७२½-७३½ ।।

स्वस्थ घोड़ों के पास एक क्षण के लिए भी रोगी घोड़ों को नहीं बांधना चाहिए क्योंकि रोगों के संक्रमण से स्वस्थ घोड़े भी रोगी हो जाते हैं ।।७३½—७४ ।।

वाजि-शाला के पूर्व में भेषज-मन्दिर निर्माण कराना चाहिए और उसी के बायें तरफ सब सामग्री के रखने के लिये स्टोर बनाना चाहिये । घोड़ों की दवाई के लिए भाण्डों का विनिक्षेप करे और साथ ही साथ अंगदों, औषधियों, तैलों, बर्तियों और लवणों का भी संग्रह अनिवार्य है ।। ७५-७६ ।।

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ों के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहियें ॥ ७७ ॥

ये चारों वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एवं सम्बद्ध विहित करें। चूने के बंध से मजबूत दीवालों से प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित वे चारों विशाल (विना शाला) और सुगम बनवावें और इस प्रकार के वेश्मों में घोड़ों को स्थापित कर उनका परिपालन करें ॥ ७८–८०½ ॥

अध्याय ४७

आयतन-निवेश

यहां पर आयतन का अर्थ सम्भवतः छोटा मन्दिर या छोटा राज-प्रासाद है। इस प्रकार से राज-प्रासाद के कर लेने पर अथवा भूमि के वलृप्त होने पर अनुजीवी यदि देव-प्रासादों पर अपने प्रासादों का नृप-प्रासाद की परिधि में निर्माण करता है तब उन के दिग्भाग, विन्यास, स्थान एवं मान का क्रमशः सब लोगों की वृद्धि के लिए वर्णन किया जाता है ।।१-२।।

राजाओं के आयतन के श्रेष्ठ, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं। इन तीनों आयतनों का क्रमशः मान दश-शत चाप, अष्ट-शत चाप तथा षट्-शत चाप होता है ।।३।।

इस प्रकार राजा के आयतन के चारों ओर चौकोर क्षेत्र बना कर वहां पर स्वामि-वत्सल वीर अपने तीन प्रकार के आयतन बना सकते हैं। राजा के जो लोग सम्मत हैं और कुछ हितैषी लोग हैं अथवा जो कुल में पैदा हुए हैं तो अनुजीवियों के आयतनों का क्रमशः १२ अंश से हीन प्रमाण से निर्माण करना चाहिए ।।४-५।।

उसी के वाम भाग पर दुगुने उत्सेध एवं दुगुने अन्तर से दश अंश से हीन प्रमाण में नैर्ऋत्य दिशा में राजा के प्रासादों को तथा राजा की सब पत्नियों के प्रासादों का विज्ञ एवं विद्वान निवेश करें ।।६-७½।।

पश्चिम दिशा में आठ भाग से हीन श्वसुरों के आयतन बनवाने चाहियें, पुनः सौम्य दिशा में वायव्य-कोण की ओर क्रमशः ९ अंश से हीन मन्त्री, सेना-ध्यक्ष, प्रतीहार और पुरोहित—इन सब के प्रासाद क्रमशः बनाने चाहिएं। इन्हीं के पूर्व-भाग में स्थित राज-माता का निवेश करना चाहिए और वह ग्यारह अंश से हीन बनवाना चाहिए ।।७½-१०½।।

ईशान दिशा का अवलम्बन कर के एन्द्र-पद की अवधि तक देवों के समान बहिनों, मामा लोगों और कुमारों के क्रमश; आयतन बनाने चाहिए। आग्नेय कोण में द्विज-मुख्यों के निवेशन बनाना चाहियें। पुरोहित का प्रासाद राज-मन्दिर से

दक्षिण दिशा में आठ अंश-हीन बनाना चाहिए ।।१०½–१२।।

सामन्तों, हस्तिपकों, भटों और परिजनों के क्रमशः आयतनों का यथाभाग निर्माण करना चाहिए । मर्मवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध-स्थित और स्वस्थ.नान्तरित आयतनों का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ।।१३-१४।।

अलिन्दों के द्वारा, गर्भ-कोष्ठों के द्वारा, सीमा के स्तम्भ और गवाक्षों के द्वारा, द्वार-द्रव्य के तल की ऊंचाईयां, प्राग्रीवों, सिंहकर्णों एवं भूषणों के द्वारा उन को नहीं करना चाहिए; क्योंकि जो सम-हर्म्य होगा वही सुखदायक । इस के आधिक्य में राज-पीड़ा और कुल-क्षय होता है ।।१५–१७½।।

जो नियुक्त होगा वह आनन्द नहीं दे सकता । राजा के प्रासाद की परिधि में स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए । अथच उसका संस्थान, मान, विस्तार और ऊंचाई से भी उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए ।।१७½-१८।।

पूर्वोक्त भागों से कुछ कम शुभ कहलाता है । पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद्य से शुभ कहा गया है और बहुत से भवनान्तरों से उसको सुभोग्य बनाना चाहिए । कोष्ठिकाओं (कोठरियां), भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (बर्तन रखने के स्थान), उपस्करागार (वस्तुओं को रखने के स्थान) से यह सुभोग्य होता है । ।।१९-२०।।

अन्य अवशेष स्थानों की भी यही क्रिया है । शालाओं से पूर्ण कर देना चाहिए । शुभ-रूप, मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादों को बनाना चाहिए ।।२१।।

प्रायः राजा के आयतन के निवेश से अपने अन्य आलयों का और सब के अन्य गृहों का निर्माण करना चाहिए; अन्यथा विपरीताचरण से और उलट-फेर से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होते हैं ।।२२–२३½।।

इस प्रकार से प्रतिपादित दिशाओं आदि के भेद-योग से जिस राजा के सुर-भवन होते हैं वह अविरत-मुदित-उदित-प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ।।२३½—२४।।

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूंगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जावे ॥१॥

शय्या : मैत्र मुहूर्त में चन्द्रमा के पुण्य नक्षत्र में स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का सम्यक् पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन-निर्माण में चन्दन, तिनिश, अर्जुन, तिन्दुक, साल और साक, शिरीष, आसन, धनु, हरिद्रु, देवदारु, स्यन्दन, अोक, पद्मक, श्रीपर्णी, दधिपर्ण, शिंशपा और भी जो शुभ वृक्ष हैं, वे प्रशस्त कहे गए हैं ॥३–४॥

गृह-कर्म में जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये हैं, वे शयनासन में भी निन्दित हैं। सोने से, चांदी से या हाथी-दांत से जड़ी हुई, पीतल से नद्ध शय्याएं शुभ कही गई हैं। विचक्षणों के द्वारा इनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५–६½॥

जब शयनासन के लिए लकड़ी काटने के लिये प्रस्थान करें तो पहिले निमित्तों को देखें। दधि, अक्षत से भरा हुआ घड़ा, रत्न अथवा पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्रादि, मछली, घोड़ों का जोड़ा, मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभों को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½—८॥

वितुष आठ यवों से कर्म का अंगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अंगुलों की ज्येष्ठ शय्या राजाओं के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अंगुलों की राजाओं की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अंगुलों की राजाओं के लिए विजयावह बताई गई है ॥१०॥

राजा के लड़के की ९० अंगुल की, मन्त्री की ८४ की, सेनापति की ७८ को और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओं में आयाम के आधे से सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छै भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणों की शय्या ७० अंगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अंगुलों से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्पल का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए, तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुष्य का विस्तार होता है और उस के पायों की ऊंचाई मध्य से हीन दो चार छोड़ कर विहित है (मध्यहीनौ द्विचतुकज्झितौ) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य में बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीर्ष से पावे की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य में एक चौथाई अथवा आधी क्रमशः तल में वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेध के समान दो अंगुल से अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्तों, कलियों, पत्रपुटों और ग्रास से भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारों ओर शय्या के अंग प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए। ऊर्ध्वाग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात् निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नहीं कही गई है। एक लकड़ी वाली प्रशंसित होती है और दो लकड़ी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकड़ी से बनी होने पर नियत ही वध है। इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग से युक्त मूल और बाएं हाथ से युक्त निन्दित कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एवं एकाग्र में दो लकड़ियां होती हैं यह भी वर्ज्य है॥२४॥

मध्य में अगर छेद हो तो मृत्यु-कारक, त्रिभाग में व्याधिकारक और चतुर्भाग में क्लेश और सिर में स्थित द्रव्य-हानि-कारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अंग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नही दिखाई पड़ता है। इस लिये गांठ और कोटर वाला शयनासन नहीं बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गांठों एवं कोटरों से वर्जित होने पर बहुपुत्र देने वाला और धर्म, काम और अर्थ का साधने वाला कहा गया है ॥२७॥

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा कांपती है तो क्रमशः बिदेश-गमन अथवा कलह प्राप्त होते हैं ॥२८॥

इस लिये उसको स्थपति सुश्लिष्ठ, निर्दोष, वर्णाशालिनी, दृढ़, स्थिर

बनाये। ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२९॥

निष्कुट, कोलद्दक, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक और बंधक ये संक्षेप में छिद्र कहे गये हैं ॥३०॥

मध्य में घट के समान सुषिर तथा सकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है। कोलाक्ष उड़द के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर से दीर्घ, विवर्ण और विषम छिद्र को महर्षियों ने क्रोडनयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण-कान्ति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बंधक कहा गया है ॥३३॥

लकड़ी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नहीं होता है। निष्कुट में अर्थ का नाश, कोलद्दक में कुल-विद्रोह, क्रोड-नयन में शस्त्र से भय, वत्सनाभक में रोग से भय और कालक में, बंधक में—इन दोनों के कीट-विद्ध होने पर शुभ नहीं होता ॥३४–३५॥

वह सब लकड़ी जिस में सब जगह बहुत अधिक गांठें होती हैं वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिये कही गई लकड़ियों से निर्मित आसन बैठने में सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है। उसका पुष्कर और सूदहस्त चार चार अंगुल से गोल होना चाहिये। विस्तार से आरम्भ करे जब तक नौ अंगुल न हो जाएं। पुष्कर के व्यास से उसका चौगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३६½-३८॥

पुष्कर के आधे से फलक और उसके समान भूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३९॥

पुष्कर का अंतर्भाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकड़ी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अन्य फर्नीचरों का वर्णन करता हूं।

कंघे—कंघा बड़ा ही चिकना बनाना चाहिए और उसे चिकने तना वाली लकड़ी से बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई ८ अंगुल से १२ अंगुल होनी चाहिए। इस का विस्तार लम्बाई से आधा अंगुल सहित ४ भाग होता है ॥४१–४२॥

उसके मध्य में विस्तार के आठवें अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक से स्थूल-विस्तार वाले दन्तक कहे गये हैं। दूसरे से आगे की तरफ घन, सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दन्तकों का निर्माण करना चाहिये। मध्य में तीन भाग को छोड़ कर दोनों भागों में दन्तकों का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनको छोड़ देना चाहिये । हाथी के दांत अथवा शाखोट (शाखू) वृक्ष से निर्मित श्रेष्ट कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकड़ियों में और जघन्य अर्थात् निकृष्ट असार- दारु से निर्मित होता है । स्वस्तिक आदि रूपकों से मध्य भाग को अलंकृत करना चाहिए ।।४३-४६।।

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कंघा काम में लाया जाता है ।।४७।।

पादुकाः—दो पादुकाओं की लम्बाई पाद से एक अंगुल से अधिक बनानी चाहिये । लम्बाई के पांच भाग करने पर सामने तीन भाग से पीछे दो भाग से इस प्रकार से इसका संग्रह-विधान है ।।४८।।

तीन अंगुलों की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अंगुल और अंगुष्ट के दोनों मध्य भाग मत्स्य आदि से अलंकृत करना चाहिए ।।४६।।

दन्त, सींग आदि से उसकी दोनों खूंटियों का निर्माण होना चाहिए ।।५०½।।

गजेन्द्र दन्त, श्रीखंड, श्रीपर्णी, मेष श्रृगिका, शाख, क्षीरिणी, चिर अथवा वेल की लकड़ियां खड़ाऊं के लिये प्रशस्त कही गई हैं ।।५०½-५१½।।

इस प्रकार से यहां पर शय्याओं का और आसनों के लक्षण बता दिये और उसके बाद दर्वी और कंकत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अशुभ संपूर्ण लक्षणों को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ।।५२।।

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

१. यन्त्र-बीज
२. यन्त्र-गुण
३. यन्त्र-प्रकार :
   (अ) आमोद
   (ब) सेवक
   (स) योध एवं द्वारपाल
   (य) संग्राम
   (र) विमान
   (ल) धारा एवं
   (व) दोला

अध्याय ४९

यन्त्र-विधान

अलक्ष्य, मध्य घूमते हुये सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्त्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा बीजों (उपादान कारणों) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते हैं, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान् शंकर) तुम लोगों की रक्षा करें ।।१।।

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हूं। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का एक ही कारण है ।।२।।

अपनी इच्छा से, अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतों (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस में नयन होता है, उस को यंत्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से, अपनी स्वेच्छा से प्रवृत्त महाभूतों का जिस से निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते हैं ।।३-४।।

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पांचवां बीज उपयुक्त होता है ।।५।।

सूत अर्थात् पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते हैं, वे ठीक नहीं जानते। सूत प्रकृति से वास्तव में पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस में क्रिया होती है। चूंकि यह पार्थिव है अतः यह पारा अलग बीज नहीं है। अथच इसके द्रव्यत्व होने के काहण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है, तब इस का अग्नि से विरोध नहीं उत्पन्न होता और पृथ्वी गंधवती होने के कारण और अग्नि से विरोध होने के कारण बलात् इसमें पृथिवीत्व स्थापित हो ही जाता है ।।६-८।।

अथवा पांचों महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते हैं तथा और भी बीज होते हैं और इस प्रकार सांकर्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ।।९।।

यन्त्र नाना प्रकार के होते हैं जैसे स्वयं-वाहक (Automatic), सकृत्प्रेय (Propelling only once), अन्तरित-वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वयं-वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ, अलक्ष्य, निकट-स्थित की प्रशंसा की गई है। जो अलक्ष्य उत्पन्न होता है और जो बहुतों का साधक कहा गया है, वह मनुष्यों के लिये विस्मय करने वाला दूसरा कहा गया है।

विस्मय-कारी इस वाह्य-यन्त्र में एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक में आश्रित होती है। अरघट्ट-घटी में आश्रित कीड़े में से दोनों दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार दो गतियों से वैचित्र्य का कल्पन स्वयं करे और न दिखाई पड़ने वाली जो विचित्रता होती है, वह यन्त्रों में अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०--१५½॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते हैं। दो तीन के योग से अथवा चारों के योग से अंशांशि-भाव से भूतों की यह संख्या बहुत बढ़ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातों को ठीक जानता है, वह स्त्रियों का, राजाओं का, विद्वानों का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नहीं प्राप्त करता है जो मनुष्य इस को तत्वतः जानता है ॥१५½—१८½॥

यह विलासों का एक ही घर, आश्चर्य का परम पद, रति (काम-क्रीड़ा)का आवास-भवन, (निकेतन, घर) तथा आश्चर्य का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८½—१९½॥

देवता आदिकों की रूप एवं चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होते हैं और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म कहा गया है। राजाओं आदि के सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धर्म के बाद अर्थ-सिद्धि हुई)। अर्थ में ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये हैं। इसका निर्माण धन-साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नहीं ॥१९½—२१½॥

पार्थिव बीज :— यह बीज पार्थिव बीजों से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से, वही तेज से उत्पन्न होने वालों से और वही वायु से उत्पन्न होने वालों से विहित है। आप्य अर्थात् जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजों से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एवं वायु सम्बन्धी बीजों से विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एवं वारुण बीजों से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि सम्बन्धी बीजों से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालों द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल में भी होता है। पार्थिवों का भी और आप्यों का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतों के सम्पूर्ण बीजों का कीर्तन हुआ ॥२१½—२५½॥

कूड्यंकरण सूत्र, भार-गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बकार और विविध चक्र, लोहा, तांबा, तार (पीतल), रांगा, सम्वित, प्रमर्दन, काष्ठ, चर्म, वस्त्र—ये सब अपने बीजों में प्रयुक्त होते हैं ॥२५½—२७½॥

ऊर्द्धक, कर्तर, यष्टि, चक्र और भ्रमरक, शृंगावली और बाण, ये भी बीज और कहे गये हैं ॥२७½-२८½॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप, उत्तेजन, स्तोभ, और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये हैं ॥२८½—२९½॥

धारा, जलभार, जल की भंवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये हैं ॥२९½—३०½॥

जैसी ऊंचाई, जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊंचे जाना) ये लोहे के अपने बीज हैं ॥३०½—३१½॥

स्वाभाविक वायु, गाढ-ग्राहकों के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरों से, पंखियों से, गज-कर्णादिकों से भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत में बीज होता है। काष्ठ (लकड़ी), चमड़ा और लोहा जल से उत्पन्न होने वाले बीज में पार्थिव होता है ॥३१½—३३½॥

दूसरा जल वह भी तिरछा, ऊंचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रों में अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि से उत्पन्न, जल में से उत्पन्न होते हैं ॥३३½—३४॥

संग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात् प्रेरित वायु जल-यन्त्रों में बीज बनता है ॥३५॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालों में मिट्टी, तांबा, सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु-शास्त्र में उसे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

वह्नि से वह्नि-बीज, जल से जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येषक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material), जनक, प्रेरक और ग्राहक तथा संग्राहक रूप में वायु से उत्पन्न होने वालों के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात, विवर्त तथा भ्रमण रूप में वायु से पैदा होने वालों में जलज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन से उत्पन्न होने वालों के द्वारा जो होते हैं वे पावक-सम्बन्धी बीज में संगृहीत किए गये हैं ॥४०॥

प्रेरित, संग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार से और भी कल्पना कर लें ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक, दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकर विकल्प से इन बीजों के नाना भेद होते हैं। उनको पूर्ण-रूप से कौन कह सकेगा ॥ ४२-४३½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशतः सन्निवेश होता है ।।४३½—४४।।

यन्त्र-गुण :—यंत्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए।उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए । इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्टच, श्लक्षणता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये हैं। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्वणत्व, ताद्रूप्य मृसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ।।४५-४६½।।

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ।।४६।।

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ।।५०½।।

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूं ।।५०½—५१½।।

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श । इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं । ५१½-५२।।

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे,आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं ।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घंटा-ताडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छाय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ।। ५४-५५½।।

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना , पटह, वंश, वीणा, कांस्यताल (मंजीरा), तूमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ।५५½-५७½।।

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके तांडव, लास्य, राज-मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हे ।।५७½-५८½।।

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें वे भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५९½।।

पृथ्वी पर रहने वालों की आकाश में गति; आकाश में चलने वालों की भूमि में गति, मनुष्यों की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यंत्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ।।५९½-६०।।

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवों के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान्-द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियों का युद्ध और छोड़ना तथा पकड़ना और जो नाना प्रकार की चेष्टाय हैं और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र झूलों की केलियां और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटिया एवं सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते हैं वे सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती हैं ।६१-६४।।

शय्या-प्रसर्पण-यन्त्र :—पांच भूमिकाओं अर्थात खण्डों का निर्माण कर पहिले खंड में स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खंडों में प्रसर्पण करती हुई पांचवे खंड में पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र-विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते हैं ।।६५-६६½।।

नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्रः--शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्रि-का-नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते है । क्रमशः तीन सौ आवर्त से स्थाली में यह दन्तों को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाड़ी में जगावे और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल में दर्शन, वह्नि के बीच से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एक सांस में आकाश जाती है, एक सांस में पृथ्वी आती है ।।६६½-६८।।

गोलक-भ्रमण-यन्त्रः—अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहों की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य में एक सुन्दर शेष-नाग के फरण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहों की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहों के दर्शन कराता है । लकड़ी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप में दिखलाया गया मनुष्य नाड़ी के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ।। ६९-७१½ ।।

पुतली के द्वारा दीपक में तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलियां ताल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप में तेल डालती हैं। यंत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुग्रा नहीं दिखाई पड़ता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक ग्रादि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढ़ते हैं ग्रौर मनुष्य का ग्राश्चर्य करते है वे सब ग्रमोद वितरण करते हैं। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली ग्रथवा गजेन्द्र ग्रथवा घोड़ा ग्रथवा बानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७५½॥

जिस मार्ग से खेत धृत होता है उस से वह पानी जाता है ग्रौर ग्राता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियों से पानी ग्राता जाता है ॥७५½-७६½॥

फलक पर कौन बठती है, दौड़ती, है ताली बजाती है, ग्रौर लड़ती है, नाचती है, गाती है, बांस ग्रादि को बजाती है। वायु के बंद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भंगियों की जो दिव्य ग्रौर मानुष्य चेष्टायें होती हैं वे ही केवल नहीं ग्रौर भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७९½ ॥

यंत्रों का निर्माण ग्रज्ञानता-वश नहीं बल्कि छिपाने के लिए, नहीं कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यंत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नहीं होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नहीं बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है ग्रौर वास्तव में तो यंत्रों के बीज ग्रर्थात साधन कीर्तन करने से घटना ग्रादि सभी कुछ कह दी गई है ॥७९½-८१ ॥

बुद्धिमान् लोगों को, ग्रपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रों का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए ग्रौर जो यन्त्र देखे गये हैं ग्रौर जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना ग्रथवा ग्रनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यंत्र सुन्दर एवं सुखद हैं उनका उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने ग्रपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। ग्रब ग्रागे पुरातनों (ग्राचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूं। यन्त्रों के सम्बन्ध में चार प्रकार का बीज उन लोगों ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, ग्रग्नि, पृथ्वी ग्रौर वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है ग्रौर उनके पारस्परिक मिश्रण एवं सांकर्य से फिर ये यन्त्र ग्रगणित कहे जाते हैं। संसार में यन्त्रों से बढ़ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि-निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ़ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारों के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र हैं। अतः ये यन्त्रों का पांचवां बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिस में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुरु से अर्धीत शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पांचों बीजों को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते हैं, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊंचा, दो फुट वाला, गोल आकृति वाला, ऋजु, बीच में छेद वाला, सुदृढ़ सन्धि वाला और मज़बूत तांबे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पक्षियों में उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालों के लिए आश्चर्य-कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ़ दो खंडों से सरन्ध्र (छेद-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों से ग्रस्त कर, बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यंत्र संचरण में अनंग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग-शिशुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों, दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-क्रीडायें प्रौढ़ि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, शंख, विपंची, काहला, डमरू, टिविल, ये वाद्य-यंत्र और आतोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्र-रुद्ध और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करने में समर्थ होते हैं ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्रः—अब अम्बरचारि-विमान-यन्त्र का वर्णन करते हैं। छोटी लकड़ी से बनाया गया महा विहंग बना कर और उसके शरीर को दृढ़ और सुश्लिष्ट अर्थात् खूब सटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमें बैठा हुआ पुरुष उसके दोनों पक्षों के संचालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बड़ा दारु-विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि-पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ़ कुम्भों को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भों से उत्पन्न गुण से सन्तप्त और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलंकार बन जाता है अर्थात् आकाश में उड़ जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद-यन्त्रः—अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊंचे प्रदेश में रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य-विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोड़ने वाले हाथियों की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को वार-वार सुन कर अंकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥९९-१००॥

दासादि-परिजन-यन्त्र:—आंख, ग्रीवा, तल-हस्त, प्रकोष्ठ (भुजा का मणि-बंधन), बाहु, उरु, हस्त की अंगुलियां आदि अखिल शरीर, छिद्रों सहित बना कर और उसकी सन्धियों को खण्डशः घटना करे, कीलों से खूब श्लिष्ट कर लकड़ी से बना कर, चमड़े से गुप्त कर युवक अथवा युवती के रूप का अति-रमणीय रूप बना कर छिद्रगत शलाकाओं और सूत्रों के द्वारा प्रति अंग से विधि-पूर्वक निवेश करे तो वह गर्दन का चलाना, हाथ का फैलाना अथवा समेटना यन्त्र ही करता है और साथ ही साथ हाथ मिलाना, पान देना, जल से सींचना, प्रणाम आदि करना, शीशा देखना, वीणा आदि वाद्य बजाना—यह सब यन्त्र ही करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों के चक्र-वश से अपनी बुद्धि से विधि-पूर्वक जृम्भित होने पर इसी प्रकार के अन्य विस्मयावह कार्य करता है ॥१०१—१०५॥

द्वारपाल-यन्त्र—दारु से मनुष्य को लकड़ी का बना कर और उसको निकेतन-द्वार के ऊपर रख कर, उस के हाथों में दण्डा दे दे तो द्वार में प्रवेश करने वालों का रास्ता रोकता है ॥१०६॥

योध-यन्त्र :– खड्ग-हस्त, मुदगर-हस्त, अथवा कुन्त-हस्त (भाला लिये) वह दारु-क्लृप्त-पुरुष रात्रि में प्रवेश करते हुए चोरों को सम्वृत मुख होकर बल-पूर्वक मारता है ॥१०७॥

संग्राम-यन्त्र :– जो चाप आदि, तोप आदि, उष्ट्र-ग्रीवा आदि यन्त्र (तमंचे) किले की रक्षा के लिए और राजाओं के खेल के लिए जो क्रीडा आदि यन्त्र हैं, वे सब गुणों के योग से सम्पादित हो जाते हैं ॥१०८॥

वारि-यन्त्रः— अब क्रम-प्राप्त वारि-यन्त्र को कहता हूं। क्रीडा के लिए और कार्य-सिद्धि के लिए उसकी चार प्रकार की गति होती है ॥१०९॥

ऊंचे पर रक्खी हुई द्रोणी (कल), प्रदेश से नीचे की तरफ जल जाता है उस को पात-यन्त्र कहते हैं और वह बगीचे के लिए होता है ॥११०॥

दूसरा जल-यन्त्र उच्छ्राय-समपात नामक कहा गया है, जहां पर ऊँचे से कल से पानी जलाधार-गुण से नीचे की ओर छोड़ता है ॥१११॥

तीसरा वारि-यन्त्र पात-समुच्छ्राय के नाम से पुकारा जाता है, जहां पर जल गिर कर ऊंचाई से टेढ़े टेढ़े जाकर छेद वाले खम्भों के योग से ऊंचे जाता है ॥११२॥

अब इस के बाद समुच्छ्राय-नामक यन्त्र वह होता है जहां पर जल गिर कर ऊंचाई से उठकर टेढ़े-टेढ़े, ऊंचे-ऊंचे छिद्रों दारु–खम्भों के योग से गिरता है ॥११३॥

उच्छ्राय-संज्ञा वाला पांचवा वारि-यन्त्र वह कहलाता है जहां पर वापी में अथवा कुंवें में विधान-पूर्वक दीर्घिका आदि जो बनाई जाती हैं, तो ऊंचे पानी लाया जाता है ॥११४॥

दारुमय-हस्ति :—लकड़ी का हाथी बना कर जो पात्र में रक्खा हुआ पानी पीता है, उसका माहात्म्य इस उच्छ्राय-नामक यन्त्र के समान कहा गया है ॥११५॥

जलसुरंग-देश से लाया जाता है, नीचे मार्ग से दूर लाया हुआ वह अद्‌भुत जल-स्थान-समुच्छ्राय करता है ॥११६॥

पञ्च-धारा-गृहः—अब धारा–गृह का वर्णन करते हैं। ये पांच है—पहिला धारा-गृह, दूसरा प्रवर्षण, तीसरा प्रणाल चौथा जलमग्न तथा पाँचवां नन्द्यावर्त। प्राकृत जनों अर्थात् साधारण जनता के लिए नहीं बनाने चाहियें। ये केवल राजाओं के लिये ही बनाने चाहियें। ये उन्हीं के योग्य है। ये मंगलों के दिव्य सदन और तुष्टि और पुष्टि कारक होते हैं ॥११७-११८॥

धारा-गृह—किसी जलाशय के निकट सुन्दर स्थान को चुन कर यन्त्र की ऊंचाई से दुगुनी अथवा तिगुनी नली बनावे। जल के निर्वाहक-क्षम यह नली अन्दर से बहुत चिकनी और बाहर से घनी होनी चाहिए और उस में पानी भर कर शुभ मुहूर्त में धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। सब औषधियों से युक्त और सोने से निर्मित पूर्ण कुम्भों से युक्त सुन्दर २ विचित्र २ गन्ध और मालाओं से युक्त वेद-मन्त्रों के उचारण से निनादित, रत्न-निर्मित अथवा स्वर्ण-निर्मित अथवा रजत-निर्मित अथवा कदाचित शीशम काष्ठ से निर्मित अथवा चन्दन से निर्मित अथवा सालक-प्रधान प्रशस्त वृक्षों से निर्मित, सौ, बत्तिस अथवा सोलह संख्या वाले खम्भों से युक्त उस धारा-गृह का निर्माण करे। अथवा २४ खम्भों से अथवा १२ खम्भों से अथवा अतिरमणोय चार खम्भों से ही भूषित उस धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। धारा-गृह अति विचित्र प्राग्रीवों वाली शालाओं और विविध जालों से विभूषित,वेदियों से खचित और कपोतालियों अर्थात् कबूतर के अड्डों से सुन्दर बनाना चाहिये। वहां पर सुन्दर २ शालभञ्जिकायें कठपुतलियां दिखलाई पड़ रही हों। अनेक प्रकार के यन्त्र-पक्षियों से शोभा मिल रही हो तथा बानरों के जोड़ों से अनेक प्रकार जम्भक-समूहों से विद्याधर, सिंह, भुजङ्ग, किन्नर और चारणों से रमणीय परम प्रवीण मयूरों से नाचते हुए सुन्दर प्रदश चित्र-विचित्र पारिजात-पादपों से शोभित और चित्र-विचित्र लताओं, बल्लियों एवं गुल्मों से संच्छन्न, कोकिल-भ्रमरावली-हंसमाल (मराली) से मनोहर ऐसा चित्र-विचित्र चित्रित धारा-गृह बनावे ॥११९-१२८॥

सुश्लिष्ट और निविष्ट नली के सम्पूर्ण स्रोत बहने वाले और मध्य में छेद-सहित नाडिका से युक्त नाना प्रकार के रूपों से रमणीय होना चाहिए। सुश्लिष्ट नाडिका के अग्र प्रदेश में खम्भों की तुला वाली दीवाल में आश्रित प्रदेश में वज्रलेपादि (सीमेन्ट आदि) खूब दृढ़ विलेपन करे। बज्रलेप बनानें का प्रकार यह है: लाक्षारस (लाख), अर्जुन का रस और पत्थर, मेष के सीगों का चूर्ण, इन सबको मिलाकर अलसी और करंजा के तेल से गाढा करे। सन्धियों की दृढ़ता सम्पादन के लिए यह लेप दो तीन बार देना चाहिए परन्तु कदाचित् अधिक मजबूती के लिए दो बार लेप करे और उस पर सन की वल्कल से श्लेष्मातक (लभेड़ा) और सिरका के तैलों से प्रलेप करे। उच्छ्राय-यन्त्र से चारों ओर घूमते हुए जल के द्वारा चित्र-विचत्र जल-पात करता हुआ यह यन्त्र स्थपति राजा को दिखावे ॥१२९-१३३॥

इस में हाथियों को जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूड़ से छोड़े गये सींकरों (जलकणों) से बन्द हो गए हैं नयन जिन के ऐसे जोड़ों को दिखाना चाहिए ।।१३४।।

इस प्रेमास्पद यन्त्र में वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर आंख, गण्ड-स्थल, मेहन और हाथों से मद के समान वर्षानुकूल जल को छोड़ता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहां पर कोई ऐसी स्त्री बनावे, जो अपने दोनों स्तनो से दो जल-धारायें निकाल रही हो और वही सजल विन्दुओं को आनन्दाश्रु-कणों के समान अपनी पलकों से निकाल रही हो ।।१३६।।

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय, जो अपनी नाभि-रूपी नदी से धारा को निकाल रही हो और कोई अंगुलियों की नखांशुओं के समान धाराओं से सिंचन कर रही हो ।इस प्रकार के आश्चर्य–कारक स्वभाव-चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षोभों का निर्माण कर के स्थपति राजा के लिए मनोरंजन करे। ।।१३७-१३८।।

उसके मध्य में निर्मल स्वर्ण और मणियों से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति, अवनिपति, श्रीपति, देव (अर्थात् राजा जो) बैठें ।।१३९।।

कभी २ इस में उसको स्नान करावे और मंगल-गीतों से अपने आनन्द को बढ़ाता हुआ वादित्र और नाट्य-निपुणों (गाने वालों, बजाने वालों, नकल करने वालों) से सेवित वह राजा साक्षात् इन्द्र के समान आनन्द को भोग करे ।।१४०।।

जो राजा भीषण गर्मी में स्फुट जल-धारा वाले इस धारा-गृह में सुख-पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नहीं वरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् सुरपति इन्द्र है ।।१४१।।

प्रवर्षण :—पहिले की तरह मेघों के आठ कुलों (पुष्कारावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओं के निकरों (समूहों) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है ।।१४२।।

इस में मेघों के प्रतिकुल में दिव्य अलंकार धारण करने वाले सुदृढ़ एवं सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि–पूर्वक पुरुषों का निर्माण करे ।।१४३।।

फिर चौथे समोच्छ्राय-यन्त्र से उन टेढ़ी नाली वाले उन पुरुषों को विमल जलों से पूरित करे ।।१४४।।

पुरुषों के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश बाले छेदों को बंद कर तदनन्तर उनके जल निकालने वाले अंगों को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार-प्रतिरोध और मोचनों से टेढ़े नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात से आश्चर्य-कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोड़ते हैं। ।।१४६।।

इस प्रकार इन जल-धारण करने वाले सब पुरुषों से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वेच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला, रति-पति कामदेव का प्रथम कुल-भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघों का एक ही अनुकरण ग्रीष्म में जल के पात से सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगों के नयनों का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात् सभी के लिये होता है) ।।१४८।।

प्रणाल :—अब प्रणाल-नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा वारह अथवा सोलह खंभों से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालों से युक्त चौकोर चार भद्रों से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच में एक सुदृढ़ प्रांगण-वापी बनावे और उसके बीच में कमलों से सुशोभित कर्णिका का निर्माण करे और उसके चारों कोनों पर वापी के मध्य भाग में खिले हुए कमल पर लगाये हुए आंखों वाली, अलंकार धारण किये और विभिन्न शृंगार किये रमणीय दारू-दारिकाओं का निर्माण करना चाहिये ।।१४९–१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर घड़ों के निर्मल जल से आँगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट पट्ट-गर्भों में ले जाया जाय। पुनः उस में सुगन्धि की योजना करें। मुख के कपड़े से समुत्कीर्ण रूप वाले चित्र-विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अंगों से जल छोड़ा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के अंगण-प्रदेश में स्थित होता हैं अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, ये दोनों ही (राजा और राज) संसार में वड़े यशस्वी होते हैं।।१५३–१५६।।

जलमग्न:— चौकोर, वहुत गहरी, सुदृढ़, मनोरम वापी वनावे फिर उसका घर जमीन के नीचे, सन्धियों को लिप्त करके, निर्माण करे। सुरंग में निवेशित द्वार से सुन्दर पुरुषों के द्वारा उपर जल लाया जावे ।।१५७-१५८।।

चित्राध्याय में वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलंकृत इसका मध्य भाग वरुण-वास के समान बनावे ।।१५९।।

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर निकले हुए कमलों में सछिद्र कर्णिका-स्थित सूर्य किरणों के द्वारा विकास कराया जाय ।।१६०।

निर्मल कमलों तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि से ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके नाना सजावट से युक्त आँगन का तोरण—द्वार बनावे और चारों दिशाओं में लम्बी चौड़ी शालायें बना कर शोभा करे । बनावटी मछली, मगर और जल-पक्षियों से युक्त और कमलों से युक्त उस वापी को इस तरह से वनावे कि मानों ये सब जीव-जन्तु एवं पक्षी सच्चे ही हों ।।१६१—१६३।।

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तों से आये हुए दूत यहां पर एकान्त में बैठें ।।१६४।।

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपों की जल-क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पर्यंकारोहण करे ।।१६५।।

वहां पर जल-भवन में वारांगनाओं से चारों तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह में जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्याधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ।।१६६।।

नन्द्यावर्त्तः—पूर्वोक्त वापिका में मध्य भाग में चार खम्भों से निर्मित मोती-मूंगों से युक्त पुरुष और लटभ का निर्माण करे । वापी के चारों ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ़ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालों से चारों ओर शोभा करावे । पूर्वोक्त जल-योग से कान तक पानी भरा कर जल-क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहां पर विदूषकों और वार-विलासिनियों के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल में डूबने और निकलने की क्रीडा करे ।।१६७—१७०।।

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायकों के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ।।१७१।।

वापी-तल में स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए, शरीर से गाढावसक्त वस्त्र वाली जलरोध को छोड़ने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है, वह धन्य है ।।१७२।।

दोला--यन्त्र :--जो पांचवां बीज-संयोगात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है ; अब दारू-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहता हूं । उनमें वसन्त, मदन-निवास, वसन्त-तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पांच भूले कहे गए हैं ।।१७३—१७४।।

वसन्त :—ऋज, सुदृढ़ एक सूत्र वाले चार खम्भों को खचित करे, भूमि-वश उनके अवकाश बराबर हों और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हों । प्रासाद की उक्त दिशा से अर्थात् प्रकार से आठ हस्तों से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके आधे से गहरा रमणीय भूमि-गृह बनावे ।।१७५-१७६।।

उस के गर्भ में भ्रम-सहित, पीठ-सहित और छादक तुलाओं से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ।।१७७।।

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की ऊंचाई से आठ भद्रों से घेरे । इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग में ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊंचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीर्ष रक्खे । हीर-ग्रहण तक मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए । वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ।।१७८-१८०।।

पट्ट के ऊपर असीम क्षेत्र के मान (प्रमाण) से सथिया (चतुष्किका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ।।१८१।।

तदुपरान्त क्षेत्र में युक्ति से उठाए हुए, सुन्दर बारह खम्भों से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक, पहली भूमि बनावे ।।१८२।।

उस के मध्य में गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र-मान से उसको वस्त्रों से ढक दे ।।१८३।।

रथिका के शिखा के अग्र-भागों में फलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पांच भ्रम-चक्रों का न्यास करे ।।१८४।।

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाये हुए कलश सुशोभित होते हैं। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अर्ध-भूमिका उसमें खूब घूमती है। वह अर्धभूमिका चक्र-यन्त्र से ऊपर ऊपर रथिका-भ्रभर से युक्त हो कर घूमती है ।।१८५-१८६।।

इस प्रकार वसन्त-रथिका-भ्रम-नामक भूले में बैठी हुई वार-विलासनियों के परिभ्रमण से उत्पन्न अधिक विभ्रम वाला नयनोत्सव जो

स्वर्ग में कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय अमल कीर्तिवाला यह धाम राजा के लिये होता है। १८७।

मदन-निवास :—इसके बाद बिना नींव के एक स्थिर, खम्भे का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊंची भूमिका बनावें ।।१८८।।

मध्य में भ्रमरक-युक्त बनावें और शेष पहले के समान यहां पर भी निवेश करें और स्तम्भ में पुष्पक को भी कलश से ऊंचा और शिथिल न्यास करे। उस के ऊपर चार आसनों से युक्त ग्रीवा का निर्माण करे और फिर वहां पर बड़े बड़े दो घण्टा-स्तम्भों का निर्माण करे ।।१८९–१९०।।

इस प्रकार पुष्पक-भूमिकाओं के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन तब तक भ्रामक यन्त्र-चक्र-समूह को क्रमशः चलावे जब तक रथिका पर बैठी हुयीं मृगनयनियां पुष्पक में सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अर्पित आंखों वाली घुमाई जाने लगे ।।१९१।।

वसन्त-तिलक :—इस के बाद अब चार कोनों पर ऋजु एवं सुदृढ़ चार खम्भों को निवेशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अन्तर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हें स्थापित करे। उनके ऊपर तलान्तर-संयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा में स्थापित पहले की तरह वहां पर चार रथिकायें बनाई जाती हैं। उस के ऊपर सुश्लिष्ट दारु-सधानित अर्ध-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एवं रूपकों युक्त होना चाहिए ।।१९२–१९४।।

परस्पर यन्त्र के परिघट्टन से चलायमान अखिल चक्रों की रथिकाओं के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त-तिलक भूले को देख कर सुर-मन्दिरों के भूषायमान कौन विस्मय को प्राप्त नहीं होता ।।१९५।।

विभ्रमक :—पहली रंगभूमि बना कर चौकोर चार-भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ।।१९६।।

इस के भद्रों से प्रत्येक कोने पर भ्रमर-संयुत होते हैं और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरों का निर्माण करे ।।१९७।।

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओं को खचित करे। फिर पीठों में मध्य-भाग में स्थित दूसरी भूमिकाओं का निर्माण करे ।।१९८।।

पीठ के मध्य-भाग में स्थित परस्पर निकट योजित चक्रों से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ग में बैठने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियों के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से जोहर्ष को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनों लोकों में समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१६६—२००॥

त्रिपुर :—अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंशों से विभाजित कर शेष कोणों के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस से दुगुनी भूमिकाओं की भाग-संख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहां पर भूमिका की ऊंचाई चार अंश की हो। २०२।

वहां पर आठ, छै, चार भागों से वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती हैं और उन में से तीन अर्ध-संयुत होती हैं। शेपांश से उच्छ्राय-युक्ता चतुरश्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागों के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि में रंग, दूसरी भूमि में कोनों में रथिकाय और वहां पर भद्रों की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि में भद्रों में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिएं। कोनों में आसन और अन्य अर्ध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दोला-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से यहां पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहां पर आसनों में लघु चक्रों का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त में (चौकोर गोले में) कीलों को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिएं ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रों से युक्त चार यष्टियां टेढ़ी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में सलग्न यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियों के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रों से योजित चार परिवर्तकों का निर्माण करे ॥२१३॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ में दो समानान्तर यष्टियों का निर्माण करना चाहिए, जिस में एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रों में न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के अग्र-चक्र में लगी हुई दो दो पहियों वाली चार यष्टियों का दूसरी दिशाओं के चक्रों में न्यास करे। प्रान्त के दोनों चक्रों में कोनों की रथिका-चक्र में योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टियां तिरछी बनानी चाहिएं। पूर्व-भद्र में सोपानों से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४—२१७॥

इच्छानुसार छोड़ा जाने वाला चक्र-भ्रम विधान-पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

संक्षेप से जहां तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरों में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ़ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यों के विन्यासों में कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बड़े मुख्य-स्तम्भों से धारण दिया गया, तिलकों से परिवारित और चारों तरफ सिंहकर्णों से युक्त, अपने चित्रों से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यंत्रों से युक्त जो मनुष्य इस यंत्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथों को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओं के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भों से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है वह श्रीमान् भुवन में एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र-प्रपंचों के साथ बनाया है ॥२२३॥
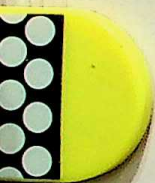
पंचम पटल

चित्र-लक्षण

१. चित्रोद्देश
२. चित्र-भूमि-बन्धन (Background)
३. चित्र-कर्माङ्ग—लेप्यादि-कर्म
४. चित्र-प्रमाण :—
   (अ) अण्डक-वर्तन
   (व) मानादि
५. चित्र-रस तथा चित्र-दृष्टियां

अध्याय ५०
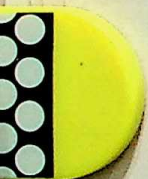
अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपंच करते हैं; क्योंकि चित्र ही सब शिल्पों का प्रधान अंग तथा लोक प्रिय-कर्म है ।।१।।

चित्रोद्देश :—पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तियां, कृत-बन्ध और लेखा-मान होते हैं, वर्णों का जैसा व्यतिक्रम, जैसा वर्तना–क्रम, मान, उन्मान की विधि, तथा नव-स्थान-विधि, हस्तों का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियों का, देवादिकों का, मनुष्यों का तथा दिव्य-मानुष-जन्मा व्यक्तियों का, गण, राक्षस, किन्नर, कुब्ज, वामन एवं स्त्रियों का विकल्प आकृति–मान और रूप-संस्थान, वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, पाप-कर्मा व्यक्ति, शूर, दुर्विदग्ध धनी, राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति, क्रूर-कर्मा मानी, रंगोपजीवी–इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियों का, राज-पत्नियों का रूप, लक्षण, वेष-भूषा (नैपथ्य), दासियों, सन्यासिनियों, रांड़ों, भिक्षुणियों आदि अथच हाथियों, घोड़ों मकर, व्याल, सिंह तथा द्विजों का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओं का भी लक्षण तथा योज्यायोज्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवों का प्रविभाग और रेखाओं का भी लक्षण, पांच भूतों का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओं, पक्षियों और सब जल-वासियों के चित्र-न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हूं ।।२–१२।।

चित्राङ्गः—जिसे चित्र-कर्म में वर्ता जाता है उसके सब अंगों का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अंग वर्तिका, दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवां वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवां लेखन और आठवां रसावर्तन ।।१३—१५।।

चित्र-कर्म का यह संग्रह जो क्रमशः सूत्रित करता है वह कभी मोह को नहीं प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ।।१६।।

अध्याय ५१

अथ भूमिबन्धन-लक्षण

अब वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ।।$\frac{1}{2}$।।

गुल्मों के अन्तर में, शुभ क्षेत्र में पद्मिनो में, नदी के तट पर, पर्वतों के कक्षों में, वापिका और वनों के अन्तर में और वृक्षों के मूलों में जहां पर भौम लवण-पिण्ड हों, इन क्षेत्रों में जो मृत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा शर्करामयी होने पर मृदु एवं चित्र-बन्धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मृत्तिका शुभ बताई गई है । उसको कूट कर पीसे फिर कल्क बनावे । भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोवत भाग वहां परा देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु में सातवां भाग, शीतकाल में पाँचवां, शरद् में छटा और वर्षा में चौथा भाग ग्रहण करे । वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मृत्तिकायें दृढता को प्राप्त होती हैं । पुन: कल्क-बन्धन में पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है । रेखा-वर्तन में—शिक्षा-काल में, वर्तिका दो अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है । कुछ रेखाओं में वर्तिकायें तीन अंगुल की बताई गई हैं । जहां तक पट-चित्र में रेखाओं का प्रश्न है, उन में चार अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये ।।१-६$\frac{1}{2}$।।

भूमि-बन्धन :—अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूंगा । भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back-ground में विशेष कर जो आवश्यक एवं अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है । पूर्ण नक्षत्र-वारों में और मांगल्य दिवसों में वास करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्ण के सुगन्धित कुसुमों से और सुगन्धित धूपों से पूजन करके उसका आरम्भ करें । सर्व-प्रथम मान-उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एवं साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुनः सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये । कल्क के आचरण में गेहूं के तडुंल के सदृश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये । फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये । सुखाने के साथ साथ उसे श्रपण भी करे तथा गोला भो बनाता रहे । इस प्रकार

से चारों कोनों में इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिससे यह भौम लवण-पिण्ड हो जावे । अथवा शिक्षिका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये । तथा पूर्वोक्त कल्क के निर्यास में बन्धन को फेंकना चाहिये । ग्रीष्म काल में पांच भाग से प्रशस्त कहा गया है; शरद् में ३½ अंशों से विधान है । अथच वर्षा-काल में एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है । पांचों भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है । पूर्वोक्त विधान से भूमि में बन्धन करना चाहिये । और रोमकूर्च (बुरुश) से सूखी सूखी का क्रमशः लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणों को जल से हस्त-लाघव देना चाहिये । इस प्रकार से बनाया गया शिक्षिका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहलाता है ॥९½—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धनः—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत् वर्णन करते हैं । स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्ड, कुद्दाली —इन वस्तुओं को लाए; अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध में उनको सात रात तक रक्खे । शिशपा, सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेड़ा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कषाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायों से सींचे । फिर स्थूल पाषाण-वर्जित चिक्नी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके, वालुका-मृदा (वालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये । फिर ककुभ, माष (उड़द), शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये । पूर्वकालानुसार से जिस प्रकार का भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमड़े की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे । पुनः उसे दर्पण-सदृश चिकना एवं प्रस्फुटित कर देवे । विशुद्ध, विमल, स्निग्ध, पांडुर, मृदुल, स्फुट- प्रथम प्रतिपादत कट—शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर कल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए, अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये । इस प्रकार विचक्षण लोग कुडय् का लेपन करते हैं । हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट.शर्करा देनी चाहिये । इस विधि से कुड्य-बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है ।२४—३५॥

पट्ट-भूमि-बन्धन :—अब इस समय पट्ट-भूमि का निबन्धन वर्णन करूंगा । नीम के बीजों को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि-तंडुलों को इन दोनों में से एक को पीसकर बर्तन में पकावे । बंधन से पट्ट को लेपकर पूर्वोक्त-विधान समाचरण करे ।

पूर्वोक्त प्रकार से कटशर्करा को निर्यासित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म में बंधा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि से पट्ट-भूमि-बन्धन करना चाहिये। तालादि-पत्रों के निर्यास-समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत कटर्शकरा तीन बार देना चाहिये। इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें।

पट-भूमि बन्धन :—जैसा पट्ट-भूमि-बन्धन में गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भूमि-बन्धन भी विहित हैं

"यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिः वन्धः पटेऽपि सः।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग-विशेष—वर्तिका एवं भूमि-बन्धन के सब साधनों एवं साध्यों का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया में कौशल से कर्म करता है वह विधाता की इस सृष्टि में बड़ी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥

अध्याय ५२

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी, कूप, तडाग,पद्मिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य—ये तत्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षेत्र बताये गये है ॥½—२॥

उक्त मट्टियों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं :—सित (सफेद), क्षौद्र-सदृश गौर, और कपिल ये चिकनी मिट्टियां ब्राह्मण आदि वर्णों में क्रमशः प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जिता मृत्तिका लेनी चाहिये ।

शाल्मली (सेमल), माष (उड़द , ककुभ, मधूक (महुआ तथा त्रिफला इन वृक्षों का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोड़े के सटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का वकला देना चाहिये और मिट्टी में मिल कर फेंटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूसी मिलानी चाहिये और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिएँ । इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा को रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपड़े से ढक देना चाहिए ।

लेप्य-कर्म मृत्तिका—निर्णय के लिये शिल्प-कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। ब्रुश से कट-शर्करा का लिम्पन, मृत्तिका-क्वाथादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादेय हैं

शास्त्र-प्रतिकूलाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च अथवा कूर्चक, दूसरा हस्त-कूर्चक, तीसरा भास-कूर्चक चौथा चल्ल-कूर्चक, पांचवा वर्तना-कूर्चक ये पाँच प्रकार के कूर्चक (ब्रुश) बताये गए हैं ।

बैल के कान के रोमों से बना हुआ कूर्चक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए ।

अथवा उसे वल्कलों से अथवा खरकेशरों से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु से कूर्चक विलेखा-कर्म में श्रेष्ठ होता है। पहला वट-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अंकुर के आकार वाला, पुनः चौथा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के अंकुर के आकार वाला बताया गया है। वटांकुर-सदृश आदि कूर्चक से मोटी लेखा नहीं बनाना चाहिए और प्लक्ष के अंकुर के समान छोटी लेखा नहीं होनी चाहिए। पीपल के अंकुर के समान जहां पर विद्वान लोग लेखा करते हैं वहां गूलर (उदुम्बर) के अंकुर के आकार वाला कूर्चक लेप्य-कर्म में प्रशस्त माना जाता है। बाँस का कूर्चक भी चित्र-कर्म में प्रशस्त माना गया है। कूर्चक के दण्ड में वास्तव में वेणु (वांस) की ही लकड़ी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२½–२२½॥

लेप्य-कर्म संक्षेप से बताया गया। पुनः मिट्टी की संस्कार-विधि बताई गई। अथच यहां पर ठीक तरह से विलेखनी और कूर्चक की पांच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वर्तना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि से सम्बन्धित का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है ।।१।।

टि० द्वितीय श्लोक भृष्ट है अतः अननूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोले का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ।।२—३।।

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छै भाग संमित विहित है और दो भाग संमित लम्बाई विहित है। सात गोले बनाने चाहियें और इसी प्रकार से बाकी का संस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कर्म में उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वृत्त आलेखन करके और अण्डक क्रमश. बनाने चाहियें । नाना-विध अण्डकों का निर्माण चित्र-कर्म में आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है बादामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असंभव है । आधे गोले के आयाम से अलसाण्डक बताया गया है और नौ गोले की मोटाई से हास्य ण्डक होता है । पुरुषाण्डक का मान छै गोलों से आयात और पांच गोलों से विस्तृत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होता है । उसका विस्तार चार गोलों से और लम्बाई पांच गोलों से होती है । शिशुओं का अण्डक चित्र-कर्म में निश्चय ही करना चाहिये। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है । इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । देवाण्डक-प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है। वह छै गोलों के विस्तार से और आठ गोलों की लम्बाई से सम्पन्न होता है। वृत्तायत समालेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ।।४-१३।।

अब दिव्य और मानुष अण्डकों का लक्षण कहता हूं । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये । पांच गोलों से विस्तीर्ण और छै गोलों से आयत मुखाण्डकं को मानुष-रुप बनाकर उसे पूर्ण बनाया जाता है । शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथों का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण से यातुधानाण्डक होता है । देवों के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहिये और

उसी के समान गन्धर्वों, नागों और यक्षों के अण्डक होते हैं। विद्याधरों का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये ।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं। जो इन दोनों चीजों (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म-कौशल) को करामलकवत् नहीं जानते हैं पुनः वे शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नहीं जानते और कर्मज्ञ होते हुये शास्त्र को नहीं जानते और जो दोनों को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल में अपने परिमार्जित संस्करण में निर्दिष्ट किया है।

अध्याय ५४

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

चित्र-कर्म-मानोत्पत्तिलक्षण :— अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हूं ॥१॥

परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका, यव, अंगुल क्रमशः अठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान का अंगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज, ८ रज का रोम, ८ रोम की लिक्षा, ८ लिक्षा की यूका, ८ यूका का यव और ८ यव का अंगुल होता है। दो अंगुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसको कला कहा जाता है। दो कलाओं अथवा दो गोलकों, किसी इन दोनों में से, उस प्रमाण एवं भाग तथा उसी प्रमाण से एवं आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र-निर्माण करना चाहिये ॥२ -४½॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग वाले होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियों को तीस भाग की लंबाई से बनाना चाहिये। असुरों का शरीर तो साढ़े सात भागों से विस्तृत और उन्तीस भाग से लंबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसों का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्ताईस भाग से आयत होता है और दिव्य-मानुष के शरीर तो शास्त्रानुकूल विहित हैं। छै भाग से विस्तृत मनुष्यों का करना चाहिये और उनकी लंबाई साढ़े चौबीस भागों से बनाना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढ़े पांच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागों का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरों का विस्तार पांच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागों का प्रशस्त माना गया है। कुब्जों (कुबड़ों) के शरीर का विस्तार पांच भाग से और दैर्घ्य चौदह भागों से बनाना चाहिये। अन्य विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अर्थात् बौनों के भी शास्त्रानुसार विनिर्मेय हैं। किन्नरों का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रमथों के शरीर का विस्तार तो चार अंशों से बताया गया है और लंबाई छै अंशों से। यह अलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग-सूत्र बताया। देवों का, असुरों का

और उसी प्रकार राक्षसों का, दिव्य-मानुषों का, मर्त्यों का तथा कुब्जों और वामनों, इन दोनों का भी और भूतों सहित किन्नरों का क्रमशः इसमें उदाहरण दिया गया ।।४½—१७½।।

टि० यहां पर अण्डक-वर्तन अथवा उसका विलेखन-क्रम आपतित सा प्रतीत होता है ।

अब मानोत्पत्ति का यथावत वर्णन करता हूं। देवों के तीन रूप होते हैं । मुरज, ...(?) तथा कुम्भक; दिव्य-मानुष का एक दिव्य-मानुष शरीर; असुरों के तीन रूप—चक्र, उत्तीर्णांक और दुर्दर तथा राक्षसों के फिर दो—शकट और कूर्म । मनुष्यों के पांच रूप होते हैं जिनका क्रमशः वर्णन करता हूँ :—

हंस, शशक, रूचक, मालव्य तथा भद्र—ये पांच पुरूष होते हुए ।।१७½-२१।।

कुब्जक दो प्रकार के—मेष तथा वृत्तक; वामन तीन प्रकार के—पिण्ड, आस्थान और पद्मक; प्रमथ भी तीन प्रकार के हैं—कूष्माण्ड कर्वट तथा तिर्यक; किन्नर भी तीन प्रकार के होते हैं—मयूर, कुर्वट और काश ।।२२-२३।।

स्त्रियां—बलाका, पौरूषी वृत्ता, दण्डका तथा ....? ये चित्र-शास्त्रियों के द्वारा सब पांच प्रकार की बताई गई हैं ।।२४।।

भद्र, मन्द, मृग और मिश्र—यह चार प्रकार का हाथी होता हैं और उत्पत्ति के हिसाब से यह तीन प्रकार के बताये गये हैं—पर्वताश्रय नद्याश्रय, ऊषराश्रय । पारस (फारस) से लगा कर उत्तर (देश वाची) तक रथ्य घोड़े दो प्रकार के होते हैं। सिंह चार प्रकार के होते हैं—शिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय और तृणाश्रय । व्याल सोलह प्रकार के होते है—हरिण, गृधृक, शुक, कुक्कट, सिंह, शार्दूल, वृक, अजा, गंडकी, गज, क्रोड, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट और खर ।।२५-३०।।

टि० अग्रांश (२८½—३०) पुनरूक्त एवं भ्रष्ट भी अतः अनुवादानपेक्ष्य ।

विशेष :—इस मूलाध्याय का ३१-३८½ प्रतिमा-लक्षण-नामक अध्याय का प्रक्षिप्तांश है, अतः वह तत्रैव परिमार्जित संस्करण में प्रतिष्ठित किया गया है ।

इस प्रकार सभी जातियों को दृष्टि में रखकर यह सब मान-प्रमाण कहा गया । दिव्य आदि सभी जातियों का जो अखिल मानादि-कीर्तन किया, उसको स्फुट-रूप से समझ कर जो चित्रालेखन करता है उस के लिए सभी चित्रकार उस को अपना प्रधान मानते हैं तथा महान आदर करते हैं ।।३१।।

अध्याय ५५

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र-रसः—अब रसों का और दृष्टियों का यहां पर इस वास्तु-शास्त्र में लक्षण कहूंगा। क्योंकि चित्र में रस के आधीन ही भाव-व्यक्ति होती है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और वीभत्स तथा अद्भुत और शान्त—ये ग्यारह रस, चित्र-विशादों के द्वारा बताये गये हैं। अब इन सब रसों का क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

शृंगारः—भ्रू कम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित शृंगार रस बताया गया है और इस रस में अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती हैं ॥४॥

हास्यः—अपांग आदि को ललित एवं विकसित करने वाला तथा अधरों को स्फुरित करने वाला, मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य-रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

करुणः—आंसुओं से कपोल-प्रदेश को क्लिन्न करने वाला, शोक से आंखों को संकुचित करने वाला और चित्त को संताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्रः—जिस रस से ललाट-प्रदेश निर्मार्जित हो जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं, अधरोष्ठ दातों से काटे जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते हैं ॥७॥

प्रेमा-रसः—अर्थ-लाभ, पुत्र-उत्पत्ति, प्रिय-जनों का समागम और दर्शन, जात-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानकः—शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एवं सम्भ्रम से लोचनों को उद्भ्रान्त करने वाला और हृदय को संक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीरः—धैर्य, पराक्रम एवं बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि०:—यहां पर वीर के बाद अन्य दो रसों का लोप हो गया है। ग्रन्थ भृष्ट एवं गलित है।

अद्भुत-रसः—दो तारकाओं को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्भुत-रस की संज्ञा से प्रसिद्ध होता है ॥११॥

शान्त-रसः—विना विकारों के शान्त एवं प्रसन्न भ्रू नेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्त-रस के नाम से प्रथित होता है ॥१२।

इस प्रकार चित्र-संयोग में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-सम्बन्ध-पुरस्सर सब सत्वों अर्थात प्राणियों में इनको नियोजित करना चाहिये ॥१३॥

चित्र-रस-दृष्टियां:—अब रस-दृष्टियों का वर्णन करता हूँ। ये अठारह बताई गई हैं :—

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता, (५) भ्रुकुटि, (६) विभ्रमा, (७) संकुचिता, (८) छविता (?) (९) ऊर्ध्वगता, (१०) योगिनी, (११) दीना, (१२) दृष्टा, (१३) विह्वला, (१४) शंकिता, (१५) विविख्या, (?), (१६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एवं, (१८) स्थिरा—ये अठारह दृष्टियां होती हैं। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१४ १६॥

ललिताः—विकसित-मुखाब्ज, कटाक्ष-विक्षेप वाली श्रृंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ॥१७॥

हृष्टाः—प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूर्ववत रोमाञ्च करने वाली तथा अपांगों को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ॥१८॥

विकासिताः—नयन-प्रान्तों को विकसित करने वाली तथा अपाँगों, नयनों एवं गण्ड-स्थलों को विकसित करने वाली क्रीडा-चापल्य-युत हास्य-रस में विकासिता दृष्टि होती है ॥१९॥

विकृताः—भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं, उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है॥२०॥

भ्रुकुटि :—दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दर्शना तथा ऊर्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया हे ॥२१॥

विभ्रमा :—सत्व-स्था, दृढ़-लक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एवं उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रुमा नाम से बताई गई हैं ॥२२॥

संकुचिता :—मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श-रस से उन्मीलित, दोनों अक्षि-पुटों वाली, सुरतानन्द से युक्त संकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती हैं ॥२३॥

योगिनी :–निर्विकारा, कहीं पर नासिका के अग्र भाग को देखने वाली अर्थात् ध्यानावस्थित चित्त के तत्व में रममाणा योगिनी नाम की दृष्टि होती है ।।२४।।

दीना:–अर्ध-स्रस्तोत्तर-पुटा अर्थात् ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहें हों, पुन: कुछ संरुद्ध–तारका, मन्द-सञ्चारिणी, शोक में आसुओं से युक्ता, दीना नाम की दृष्टि कही गई हैं ।२५।।

दृष्टा:—जिसकी तारकायें स्थिर हों और जिसकी दृष्टि स्थिर एवं विकसित प्रतीत हो रही हों, वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली दृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ।।२६।।

विह्वला :—भ्रू-पुट तथा पक्ष्मों को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओं से आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई हैं ।।२७।।

शँकिता :—कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई; कुछ टेढ़ी-मेढ़ी और चकित-तारा दृष्टि को शंकिता नाम से पुकारते हैं २८।।

जिह्मा :—जिसके मुखाङ्ग सभी पुट लम्बित हो रहे हों, दृष्टि टेढ़ी तथा रुक्षा दिखाई पड़ रही हो, ऐसी निगूढ़ा और मूढ़-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ।।२९–३०।।

मध्यस्था:—सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग-रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दृष्टि कहलाती है ।।३१।।

स्थिरा :—सम-तारा, सम-पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागों से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ।।३२।।

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन से सजीव सा जो प्रतीत हो अर्थात जो नाट्य में अनिवार्य एवं आवश्यक अंग है, वही चित्र में भी अनिवार्य है ।।३३–३४।।

इस प्रकार से यहां पर रसों का तथा दृष्टियों का संक्षेप से लक्षण कहा गया । लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत् ज्ञान-सम्पादन करके कभी संशय को नहीं प्राप्त होता है ।।३५।।

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

१. प्रतिमा एवं चित्र के द्रव्य
२. प्रतिमा एवं चित्र में चित्र्य देवादिकों के रूप एवं प्रहरण आदि लाञ्छन
३. प्रतिमा एवं चित्र के दोष-गुण
४. प्रतिमा एवं चित्र की आदर्श आकृतियां (Models) एवं उनके मान
५. प्रतिमा एवं चित्र में मुद्रायें :—
   (अ) शरीर-मुद्रायें
   (ब) पाद-मुद्रायें
   (स) हस्त मुद्रायें

अध्याय ५६
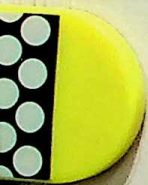
प्रतिमा-लक्षण

अब प्रतिमाओं—चित्रों का लक्षण कहता हूं। उनके सात निर्माण-द्रव्य प्रकीर्तित किये गये हैं—वे हैं सुवर्ण (सोना), रजत (चांदी), ताम्र (तांबा), अश्मा (पाषाण-पत्थर), दारु (लकड़ी), लेप्य अर्थात् मृत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मार्तिक और ताण्डुल आदि तथा अलेख्य अर्थात चित्र। ये सब शकृयानुसार विहित एवं निर्माण्य बताये गये हैं।। पूजा-चित्रों में इस प्रकार से ये प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं। सुवर्ण पुष्टि-प्रदायक माना गया है, रजत कीर्ति-वर्धन-कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि-कारक, शैलेय अर्थात पाषाण, भूज या वह कांस्य-द्रव्य आयुष्य-कारक और लेप्य तथा अलेख्य ये दोनों धन प्राप्ति-कारक कहे गये है ॥ १—३ ॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्थपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र-कर्म-प्रारम्भ करना चाहिये। वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात् पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहां पर लाना प्रासंगिक माना गया है। अतः वह यहां पर संयोज्य है:—

"मुख का भाग से विधान है। ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है। आयामानुरूप केशान्त पूर्ण मुख द्वादशांगुल विस्तारानुरुप परिकल्प्य है। दोनों भौहों का प्रमाण त्रिभाग से विहित है। नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है। उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है। ऊंचाई में तीन के बराबर मुख कहा गया है। दोनों आंखें दो अगुल के प्रमाण में होती हैं। उसका विस्तार आधा कहा गया है। अक्षि-तारका आंख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है। पुनः इन दोनो तारकाओं के मध्य में ज्योति (आंख की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है। इसी प्रकार इन अखिल मुखांगों का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½–१०½

पांच अक्ष के प्रमाण से ... (?) दोनों का मध्य बनाना चाहिये। नेत्रों और कानों का मध्य पांच अंगुल का होता है। ऊंचाई से दुगने

आयत वाले दोनों कान आंख के समान समझने चाहियें। कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपांग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। वह खींचे हुए धनुष की आकृति-वाली अरोम-प्रभवा समझनी चाहिये । इसी प्रमाण से इन का कर्ण-पृष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०½—१४॥

ऊर्ध्व-बंध से कर्ण-मूल-समाश्रित अधोबंध वह होता है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे से इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहिये । उसका आयाम एक अंगुल का और विस्तार चार यवों का होना चाहिये। पिप्पली के नीचे लाकर मध्य में लकार 'ल' इसकी संज्ञा लकार दी गयी है, इसका आयाम आधे अंगुल का और विस्तार पूरे अंगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवों के निम्न से होता है। पिप्पली के मूल में चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो स्तूतिका की संज्ञा पीयूषी गोलाकार बतायी गयी है, वह आधे अंगुल से आयत और दो यवों के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवर्त (परदा) के मध्य में उसको पीयूषी के नाम से पुकारते हैं। वह दो अंगुल के आयाम वाली और डेढ़ अंगुल के विस्तार वाली होती है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवर्त कहते है। वह छै अंगुल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अंश आधे अंगुल का बनाना चाहिये और क्रमशः मध्य में दो यव का। फिर आगे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्धात के नाम से पुकारा जाता है। ऊपर से गोलक से दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य में दुगुना नाल और मूल में छै यवों से इन दोनों समुदायों के प्रमाण से आयामादि विहित हैं। इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं। पश्चिम नाल एक अँगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा दो सुकोमल नाल दो कलाओं के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥५१-२१॥

चिबुक (ठोड़ी) अंगुल के आयाम से बनाया जाता है। उसके आधे से कन्धर बताया गया है, फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होता है और भाजी आधे अंगुल की उंचाई से बनायी जाती है। ओठों के चतुर्थ भाग से दोनों नासा-पुट समझने चाहिये । उनके दोनों प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने

तारकान्त-सम ही स्टवकणी कही गयी है । चार अंगुल के प्रमाण से आयात नासिका होती है। पुट के प्रान्त पर नासिका का अग्र-भाग दो अगुल से विस्तृत होता है। आठ अंगुल से विस्तृत चार अंगुल से आयत ललाट बताया गया है। चिबुक (ठोड़ी) से प्रारम्भ कर केशों के अन्त तक तथा गंड तक पूरे शिर का प्रमाण बत्तीस अंगुल का होता है। पुनः दोनों कानों के बीच का विस्तार-प्रमाण अठारह अंगुल होना है । चौबीस अंगुलों का परीणाह होता है। गर्दन ग्रीवा से वक्ष-स्थल, पुनः वक्षःस्थल से नाभि होती है। नाभि से मेढ़, फिर दो जंघायें, फिर उरुओं के समान दो जंघायें, दो घुटने चार अंगुल वाले होते हैं । चौदह अंगुल के आयाम प्रमाण से दोनों पैर (पाद) बताये गये हैं और उनका विस्तार छै अंगुल का होना चाहिये और ऊंचाई चार अंगुल की। पांच अंगुल की मोटाई में और तीन अंगुल की लम्बाई से दोनों अंगूठे होते हैं। अंगूठे की लम्बाई के समान ही प्रदेशिनी (पहिली अगुली) है। उसके सोलह भाग से हीन बीच की अंगुली, बीच की अगुली के आठवें भाग से हीन अनामिका को समझना चाहिये। फिर उसके आठवें भाग से हीन कनिष्ठिका अंगुली समझनी चाहिये। विद्वान को पादकम एक अँगुल के प्रमाण से अँगूठे का नख बनाना चाहिये और अँगुलियों के नखों को आठ अंशों के प्रमाण से बनाना चाहिये। अंगूठे की ऊंचाई एक अंगुल एवं तीन यवों के प्रमाण से बनाना चाहिये। प्रदेशनी एक अंगुल की ऊंचाई से हीन, शेष क्रमशः । जंघा के मध्य में अठारह अंगुल का परीणाह होता है और जानु के मध्य का परीणाह इक्कीस अंगुल का होता है। उसी के सातवें भाग को जानु-कपालक समझना चाहिये। दोनों ऊरूवों के मध्य का परीणाह बत्तीस अगुल का होना चाहिये। वृषण पर स्थित मेढ़ का परीणाह छै अंगुल का होता है और कोष तो चार अंगुल वाला तथा अठारह अंगुल के विस्तार से कटि होती है ॥२२-३८॥

जहां तक स्त्री-प्रतिमाओं के निर्माण का विषय है, वहां उसके विशिष्ट (पुरुष-प्रतिमा-व्यतिरिक्त) अग शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। नाभि के मध्य में छियालीस अंगुलों का परीणाह होता है। स्तनों का अन्तर बारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। दोनों स्तनों के ऊपर तो दोनों कक्ष-प्रान्त छै अंगुल के प्रमाण से बनाये जाते हैं। ऊंचाई से चौबीस अंगुलों से युक्त पृष्ठ-विस्तार होता है और वक्षस्थल का परीणाह पृष्ठ के साथ बताया गया है। जहां तक स्त्री-प्रतिमाओं की अंगुलियों के मान की बात है वह भी शास्त्रानुकूल है। बत्तीस अंगुलों के परीणाह से विस्तृत ग्रीवा बनानी चाहिये। छियालीस अंगुल के प्रमाण

से भुजा की लंबाई बतायी गयी है। बाहु के पहिले की पर्व अठारह अंगुल से और दूसरी पर्व तो सोलह अंगुल से बतायी गयी है। बाहु मध्य में परीणाह १८ अंगुल का होता है और प्रबाहु का परीणाह बारह अंगुल से और तल भी बारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। अंगुली-रहित, बुद्धिमानों के द्वारा उसे सप्तांगुल बताया गया है। पाँच अंगुल से विस्तीर्ण लेखा-लक्षण से लक्षित पांच अंगुल के प्रमाण से मध्यमा अंगुली बनानी चाहिए। मध्म के पर्व के आधे से आगे हीन प्रदेशिनी अंगुली समझनी चाहिए और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका विहित है। फिर आधे पर्व के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका बनानी चाहिए। पर्व के आधे प्रमाण से अंगुलियों के सब नाखून बनाने चाहियें। इनका परीणाह आयाम-मात्र बताया गया है। अंगूठ का दैर्घ्य चार अंगुलों का होता है। स्पष्ट, चारु अर्थात् सुन्दर यवांकित पञ्चांगुल इसका परीणाह विहित है। ऊंचाई के अनुकूल ही मान-पर्यन्त से कुछ हीन नख बताये गये हैं। अंगुष्ठ और प्रदेशिनी का अन्तर दो अंगुल का होता है ॥३९–५१॥

स्त्रियों का इसी प्रकार से स्तन, उरु, जघन अधिक होता है। तीन, चार, चार तीन, अथवा केवल चार अधिक होता है। ग्यारह, अथवा दस अथवा तेईस तेईस—यह सब स्त्रियों का कनिष्ठ मान बताया गया है और मध्य-मान ग्यारह अंश का होता है। आठ कला का मान उत्तम प्रमाण बताया गया है। उनके वक्षःस्थल का विस्तार अठारह अंगुल से करना चाहिए और कटि का विस्तार चौबीस अंगुल में करना चाहिये ॥५२–५५॥

प्रतिमाओं का यह संक्षेप प्रमाण बताया गया है ॥५६½॥

सकल देवों की पूजाओं में क्रमशः यह प्रमाण निर्दिष्ट किया गया। अतः शिल्पियों को सावधानी से यथोचित द्रव्य-संयोग से इन प्रतिमाओं का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओं के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हूं और उसी प्रकार दैत्यों के, यक्षों के, गन्धर्वों, नागों और राक्षसों के तथा विद्याधरों और पिशाचों के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ।।१½।।

ब्रह्मा :- अग्नि की ज्वालाओं के सदृश, महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलांग, श्वेत-पुष्प धारण किये हुए, श्वेत-वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग-चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व-वस्त्र) धोती के रूप में धारण किए हुए सफेद कपडों की ड्रेस में चार मुख वाले बनाने चाहियें । इनके दोनों वाम हस्तों में दण्ड और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए, उसी प्रकार उन्हें मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए, और दक्षिण हाथ से संसार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए । इस प्रकार बनाने पर संसार में सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओं से बढ़ते हैं, इसमें कोई शक नहीं । जब विरुग, दीना कृशा, रौद्रा, कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह कल्याण-कारक नहीं होती है । रौद्र-मूर्ति, बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है । कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कुरुपा अनपत्यता को प्रदान करती है । इस लिये इन दोषों को छोड़ कर यह प्रतिमा ब्राह्म-प्रतिमा-निर्माण-कुशल शिल्पियों द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ।।१½-९।।

शिव :— प्रथम यौवन में स्थित, चन्द्रांकित-जटा-धारी श्रीमान्, संयमी, नीलकंठ, विचित्र-मुकुट, निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भगवान् शंभु की प्रतिमा बनानी चाहिये । दो हाथों से, चार हाथों से अथवा आठ हाथों से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए । पट्टिश अस्त्र से व्यग्र-हस्त, सर्पों और मृग-चर्म से युक्त, सर्व-लक्षण-संपूर्ण तथा तीन नेत्रों से भूषित इस प्रकार के गुणों से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान् शिव बनाये जाते हैं, वहां पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ।।१०-१३½।।

जब जंगल में अथवा श्मशान में महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है तो

वहां भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेकर आकृति एवं हस्त-संयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए, गणों से घिरे हुये, सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप में धारण किये, तीक्ष्ण दष्ट्रा के समान आगे के दाँत वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अंकित मस्तक वाले, श्रीमान, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान-स्थित भद्र-मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३½-१७½॥

दो भुजा वाले राजधानी में और पत्तन (शहर) में चतुर्भुज तथा श्मशान और जंगल के बीच में बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७½-१८½॥

यद्यपि भगवान भद्र (शिव) एक ही हैं, स्थान-भेद से वे भिन्न-भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान् सूर्य उदय-काल में सौम्य-दर्शन होते हुये भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य में स्थित वे भगवान् शंकर नित्य ही रौद्र हो जाते हैं। वही फिर सौम्य स्थान में व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इन सब स्थानों का जानकर किम्पुरुष आदि प्रमथों के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहियें। इस प्रकार से त्रिपुर-शत्रु भगवान् शंकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८½-२२॥

कार्तिकेय :—अब इस समय कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरूण-सूर्य-सदृश, रक्त-वस्त्र धारण किये हुये, अग्नि के समान तेजस्वी, कुछ बालाकृति धारण किये हुए, सुन्दर, मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन, प्रसन्न-वदन, श्रीमान, ओज और तेज से युक्त विषेशकर चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता-मणियों से विभूषित छै मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर में बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये, खेटक में छै भुजाओं की विहित है। कल्याण चाहने वालों को ग्राम में दो भुजाओं वाली प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग, मुसृण्ठी और मुदगर—ये पांचों आयुध इनके दक्षिण हाथों में दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका,

घंटा खेट, और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan बोध्य है)–ये पांच आयुध बांयें हाथ में बताये गये हैं। तो छठा हाथ वहां पर संवर्धनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होता है। इस प्रकार से आयुधों से सम्पन्न, संग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। छाग (बकरा), कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान् स्कन्द का शत्रुओं पर विजय करने की इच्छा करने वालों को सदा नगरों में बनाना चाहिये। खेटक में तो षण्मुख, ज्वलन-प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधों से युक्त और पुष्प-मालाओं से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम में भी कान्ति और द्युति से युक्त उन्हें दो भुजा वाला बनाना चाहिये। दक्षिण हाथ में तो शक्ति होती है और वाम-हस्त में कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र-पक्ष बड़े महान तथा सुन्दर विनिर्मेय हैं। पुर में, खेटक में और ग्राम में इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान् मंगलकारी कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते हैं। अविरुद्ध कार्यों में खेट, ग्राम तथा उत्तम पुर में कार्तिकेय का यह सँस्थान प्रयत्न-पूर्वक करवाना चाहिये ॥२३-३५॥

बलरामः–बलराम तो सुन्दर भुजाओं वाले तालकेतु धारण किये हुए महाद्युति, बन-माला-कुल-वक्षस्थल वाले, चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले, हल और मुसल धारण करने वाले, महान् घमंडी चतुर्भुज, सौम्य-मुख, नीलाम्बर-वस्त्र-धारी, मुकुटों एवं अलँकारों से तथा चन्दन से विभूषित रेवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निर्माण करना चाहिय ॥३६-३८॥

विष्णुः—विष्णु वैदूर्य-मणि के सदृश पीताम्बर धारण किये हुए, लक्ष्मी के साथ, वाराह-रूप में, वामन-रूप में अथवा भयानक नृसिंह-रूप में अथवा दाशरथि राम-रूप में, वीर्यवान जामदग्नि के रूप में, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिन्दम, शंख, चक्र, गदा को हाथ में लिये हुये ओजस्वी कान्तिमान् नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य हैं। इस प्रकार से सुरों और असुरों से अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए ॥३९-४२½॥

इन्द्रः–देवाधीश इन्द्र, वज्र धारण किये हुये, सुन्दर हाथों वाले, बलवान किरीट-धारी गदा-सहित श्रीमान् श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि-सूत्र से मण्डित, दिव्याभरणों से विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिये ॥४२½-४४½॥

यम :–वैवस्वत यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये । तेज में सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर-वस्त्र-धारी और शुभ-दर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरांगद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४½-४६½॥

ऋषि–गण:-तेज से सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें । दक्ष आदि आर्ष प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६½-४७॥

अग्नि:—ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये । उसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८½॥

राक्षसादि:—ये रुद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काले, नाना आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८½-४९॥

लक्ष्मी:—पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, बिम्बोष्ठी, चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलँकारों से विभूषिता, कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एवं पद्म लिये हुये दक्षिग हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहिये ॥५०-५२½॥

कौशिकी:—शूल, परिघ, पट्टिश, पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मों से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये । पुनः उसके हाथों में खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये । वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है । उसके वस्त्र पीत एवं कौशेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहिये ॥५२½–५४½॥

अष्ट दिग्पाल:—आठों दिग्पाल—शुल्काम्बर-धारी, मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिग्पालों का निर्माण करना चाहिये॥५४½-५५½॥

अश्विनौ:—संसार के कल्याण-कारी दोनों अश्विनियों को एक ही समान बनाना चाहिये । वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं ॥५५½-५६½॥

पिशाच एवं भूत-गण :–इनके दांत भयंकर तथा विचित्र होते हैं । इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं । इनका वर्ण वैदूर्य-संकाश होना चाहिये इनकी मूछें हरी परिकल्प्य हैं । रंग रोहित एवं आकृति भयावह, लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयंकर भी प्रदर्श्य हैं । इनके शिरों पर सर्पों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है । इनके वस्त्र भी अनेक-वर्ण हो सकते हैं । इनके रूप भयंकर, कद छोटे भी ये

ये परूष, असत्य-वादी, भयंकर आदि रूपों में निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतों की प्रतिमाओं में वैशिष्टय यह है कि वे भी बड़े भयंकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विकृतानन, संघ-रूप में, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचों को लिये हुए तथा शाटिकाओं से शोभ्य ऐसे भूतों तथा उनके गणों को बनाना चाहिये ।।५६½-६०।।

अब जो सुर और असुर नहीं बताये गये हैं, उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसों और यक्षों, गन्धर्वों और नागों का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्राय: पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधों से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहियें । उनसे भी कुछ छोटे और गुणों से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहियें । दैत्यों से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगों का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगों और उनसे हीन नागों को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षों से हीन देह-धारी बताये गये हैं। चित्र-विचित्र माला एवं वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारों और चमड़ों को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रुप भूत-संघ होते हैं । वे पिशाचों से भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ।। ६१—६७ ।।

विशेष संकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणों की प्रतिमाओं में यह परिकल्पन आवश्यक है ।।६८½।।

टि० अन्तिम श्लोक अर्धमात्र एवं गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पांच पुरुषों और दण्डिनी-प्रभृति पांचों स्त्रियों के देह-बन्धाधिक का वर्णन करता हूं। हंस, शश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पांच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उनमें हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अंगुलों का बताया गया है। अन्य चार पुरुषों का आयाम क्रमशः दो दो अंगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अंगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अंगुलों के प्रमाण का होता है। ऊरू बीस अंगुल और जंघा तीन अंगुल और जानु पांच अंगुल और दो अंगुल का शिर। केशान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अंगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हंस के हाथों का विस्तार बारह अंगुल का होता है। दोनों प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से विहित हैं। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं ॥२-८॥

शशः—हंस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश-रूप विहित है। तथैव उसके अंग निर्मेय हैं। शास्त्रानुकूल तीन अंगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अंगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ़् का अन्तर दश अंगुल होता है। दोनों ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी हैं और दोनों जानु बीस अंगुल की और दोनों जंघा बीस मात्रा की। दोनों गुल्फ तीन अंगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अंगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षःस्थल बाईस अंगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हंस के समान शश के भी होते हैं। समयानुसार एवं स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानों ने बताया है ॥१४॥

रुचकः—रुचक-नामक पुरुष का मुखायाम साढ़े दश अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल के प्रमाण से बतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अंगुल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ़ का अन्तर दश अंगुल का बताया गया है। ऊरू बीस अंगुल और जानु तीन अंगुल और उनकी दोनों जघाओं का आयाम बीस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनों गुल्फ और शिर तीन अंगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अंगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अंगुल का और इसकी दोनों भुजायें और प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनों हाथ ग्यारह अंगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्रः—भद्र के मस्तक का आयाम तीन अंगुल से होता है।(?) ग्यारह अँगुल से और ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद-सहित ग्यारह अंगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ़ का अन्तर साढ़े दश अंगुल से समझना चाहिए। दोनों ऊरूवों का आयाम पाद-सहित बीस अँगुल का समझना चाहिए। दोनों जंघाओं का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ९४ अंगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनों बाहु ११ अंगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि०—लेखक (Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अंश दूसरे अध्याय में प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अतः इस परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण में यथा-स्थान उसको (प्रक्षिप्तांश दे० स० सू० मूल अध्याय ७९. ८४½-९६) यहां पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० सं० ५८. २६-३८) में लाया गया है। अतएव इसका अब यहां अनुवाद दिया जा रहा है।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एवं श्रोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य हैं। उसके बाहु गोल एवं सुसंस्कृत निर्मेय हैं, अतएव वह वास्तव में भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्यः—इस मालव्य नामक पांचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अंगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्षः, नाभि, मेढ़ एवं ऊपर आदि के अंग भी शास्त्र-मानानुरूप परिकल्प्य है। दोनों ऊरु इसकी

अठारह अगुल की हों, जंघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अंग जैसे जानु आदि वे चार अंगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अंगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओं का होता है। बाहु एवं प्रबाहु इन दोनों का १६ मात्राओं से विहित है। पार्ष्णि दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण में परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनांस (पीन-स्कन्ध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एवं कृशोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महा-पुरुषों की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जंघा सभी गोल होने चाहियें। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७--३१½॥

हंसादि पांचों पुरुषों की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हंस का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एवं आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एवं लम्बाई में भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एवं गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप में प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहां पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हंसादि के समान इनके नाम हैं: वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा......(?)

टि०:—परन्तु यहां पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः प्रक्षिप्तांश भी यह गलितांश है।

वृत्ताः—नारी मांसल-शरीरा, मांसल-ग्रीवा मांसलायत-शाखा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषीः—नारी पृथु-वक्त्रा, कटी-ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी):—नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, लघु-शाखा, कृशाङ्गी, अल्प-ब्रह्म-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुनः इस की परिभाषा में स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-संपर्क से वह कुमारावस्था में जब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है। ॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहां पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत् जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है ॥३९॥

अध्याय ५९

दोष-गुण-निरूपण

अब अर्च्य चित्रों-मूर्तियों अर्थात् प्रतिमाओं आदि कर्मों में वर्ज्य (त्याज्य)—रूपों का वर्णन करता हूं, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियों तथा शास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थिनता-- इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३–४ ॥

अश्लिष्ट-संधि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है । उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग । इसमें संशय नहीं । काक-जंघा देशान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारुण भय समझना चाहिये । अधो-मुखा से शिर का रोग —इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५-९½ ॥

इन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूं । उद्बद्ध-पिण्डिता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुक्षिगता ? दुर्भिक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है । पार्श्व-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दर्शिनी होती है । जो प्रतिमा नाना काष्ठों से युक्त तथा लौह-पिण्डिता और सन्धियों से बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है । लौह से अथवा कदाचित् त्रपु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है । पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धियां भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिएं ।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लौह से अथवा सोने और चांदी से बांधना चाहिए । इसलिए सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥९½-१७½॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-संधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रुपवती एवं प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहां तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलांग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

संपूर्ण गुणों को समझ कर और संपूर्ण दोषों को ध्यान में रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणों से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की और लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशँसा करते हैं ॥१९॥

अध्याय ६०

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय में अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूं। संपात एवं विपात से स्थानक प्रतिमाओं में ये नौ वृत्तियां उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव में मुद्राओं के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा। इस अध्याय में शरीर-मुद्राओं—नौ मुद्राओं का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष--ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओं का कीर्तन करते हैं। उनमें भी ये ही परावृत-पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं : ऋज्वागत परावृत्त, अधर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवीं शरीर-मुद्रा, यतःपरावलम्वी है अतः इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्तिक-विग्रह है ।।१-४।।

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यतः चतुर्धा है, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुन; नवम पार्श्वागत के रूप में वर्णित किया गया हैं । अब इनके व्यन्तरों की संख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनों के मध्य में व्यन्तर चार बनते हैं ;

(ii) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन बनते हैं ;

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य में केवल दो व्यन्तर बनते हैं ;

(iv) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है ;

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य में दस व्यन्तर बनते हैं ;

(vi) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवों को दृष्टि में रखकर जैसे अर्धापांग,

अर्धपुट, अर्धसाचीकृत-मुद्रा, स्वस्तिक-मुद्रा आदि इन व्यन्तरों से चित्र-शास्त्र-विशारदों ने व्यस्त-मार्ग से इनकी संख्या इकतीस कही है। पुनश्च जिस प्रकार परावृत्त, उसी प्रकार व्यन्तर भी यथाक्रम विभाव्य हैं। वास्तव में भित्तिक में कोई वैचित्र्य नहीं परिकल्प्य है वह सब चित्राश्रित ही है ॥ ५-१३॥

दोनों पादों में सुप्रतिष्ठित वैतस्त्य के अन्तर की स्थापना करना चाहिये। हिक्का में दोनों पादों की निकट-भूमि पर लम्ब प्रतिष्ठित होने पर ऋज्वागत प्रमाण जैसा पहले निरूपित किया गया है और बताया गया है तदनन्तर अर्धर्ज्वागत का यह प्रमाण समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र को मुख का मध्यगामी बनाना चाहिये। नेत्र-रेखा-समत्व से ही टेढ़े तल प्रमाण से मुख निर्मेय है। अपांग का, अक्षिकूट का और कान का क्षय विहित होता है; दूसरे स्थान पर कर्ण का मान आधे अंगुल से माना गया है। दूसरे अक्षि-सूत्र पर ब्रह्म-लेखा का विधान है, जो शास्त्रानुकूल निर्मेय है।

अक्षि का श्वेत भाग तीन यव के प्रमाण से और तारा पूर्व-प्रतिपादित प्रमाण से निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वेत भाग और करवीर भी पूर्वोक्त प्रमाण से बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से करवीर होता है। उसका दूसरा अंग तो एक अंगुल के प्रमाण से संगम होता है। कर्ण और आंख का अन्तर एक कला और आधे अगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से और कपोल से २ अंगुल के प्रमाण से पुट होता है। पहले और दूसरे में मात्रा के आर्ध प्रमाण से पुट होता है और शेष जैसा पहले बताया गया है वही कर्तव्य है। दो यव अधिक एक अंगुल के प्रमाण से दूसरा अंग होता हैं। पर भाग में अधर तो छै यव के प्रमाण से बनाया जाता है। गण्ड भी यथोचित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर हनु पर-भाग में १$\frac{1}{2}$ अंगुल के प्रमाण से होता है और फिर मुख-लेखा एक अँगुल के प्रमाण से विहित है। अन्य अङ्गों के भी प्रमाण समझ बूझकर बनाना चाहिए। इन अंगोपांगों के निर्माण में सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि से बहुत ही अनिवार्य है। कक्षाधर दूसरे भाग में सूत्र से पांच गोलों वाला और पूर्वभाग में उसे छै गोलों के प्रमाण से समझना चाहिये। मध्य में सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओं के प्रमाण से वक्ष-स्थल से मध्यम-सूत्र से कक्षा ९ भाग वाली होती है।

इसी प्रकार वक्ष-स्थल के अन्य अंगों एवं उपांगों जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कर्म (योग) के अनुसार बनाना चाहिये।

उसी प्रकार से पूर्व-हस्त का भी यथोचित प्रकल्पन होता है। मापनादि-क्रिया भी वैसी ही दक्षिण हाथ में भी होती है। पर मध्य में बाहर के सूत्र से छै अँगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य में बाह्य-लेखा आठ मात्राओं के प्रमाण से होती है। नाभि-देश के पर भाग में यह बाह्य-लेखा सात मात्राओं की होती है। कला-मात्र के प्रमाण से नाभि होती है। उसको पहली ९ अंगुल के प्रमाण से होती है। पर भाग में कटि ७ मात्रा की और १० मात्रा की पूर्व भाग में। हृदय-रेखा पर-भाग में मुख-मान के मध्य से विकल्प्य एवं निर्मेय है।

पर नलक की लेखा एक अंगुल के अन्तर में होती है। उसी प्रकार पर भाग की लेखा षष्ठांश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। तदनन्तर अंगुष्ठ ½ अंगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण से। अंगूठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पांच मात्राओं के प्रमाण से और तलवा टेढ़ा पांच अंगुल के प्रमाण से बताया गया है।

अंगूठा का अग्र-भाग तीन कलाओं के प्रमाण से; सब अँगुलियां अंगूठे से क्रमशः पर पर प्रमाणानुरूप विहित बताई गयी हैं। इस प्रकार सन्निवेश एवं अवसाद से ये सब नौ अंगुल वाला प्रमाण होता है। जानु जैसे पहले बताई गई है वैसी होती है और सूत्र से चार अंगुल में विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दोनों नलक तीन अंगुल के अन्तर पर। इसी प्रकार आगे के प्रमाण भी शास्त्र से अनुमोदित भूमि-सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अगूठा एक कला के प्रमाण से होता है; दूसरा अंगूठा और अंगुलियां ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बताई गयी हैं।

इस प्रकार से कहे गये प्रमाण से युक्ति से समझकर करना चाहिये। इस प्रकार अर्ध-ऋज्वागत-नामक इस श्रेष्ठ स्थान का वर्णन किया गया ॥१४-४४½॥

साचीकृत-विशेषः – अब साचीकृत-स्थान का लक्षण कहता हूँ। स्थान-ज्ञान की सिद्धि के लिये पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिये। पर भाग में ललाट, केश लेखा और कला होती है। पर भाग में भ्रू-लेखा का यथाशास्त्र-प्रमाण विहित है, उसी प्रकार अन्य प्रमाग होते हैं। ज्योति के परभाग में एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पड़ती है। तदनन्तर ज्योति यव-मात्र और फिर उससे दो यवों के प्रमाण से तारा होती है। श्वेत और करवीर तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्मेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग में दो ऊर्ध्व गोले होते हैं। वहां पर अपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर में समझना चाहिये। तब एक भाग के

प्रमाण से कर्ण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कर्ण होता है। दो यव से कम एक कला के प्रमाण से व्यावृत्ति से बढ़ाई गई आंख होती है। पूर्व के करवीर के साथ सफेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफेदी, आँख, तारा का प्रस्तार पूर्व प्रमाण से प्रतिपादित की गयी है। कपाल-लेखा परत: एक कला होती है। ब्रह्म-सूत्र से दूसरे में नासिका का अग्रभाग सात यवों के प्रमाण से बताया गया है। पूर्वभाग में नासा-पुट एक यव अधिक एक अंगुल के प्रमाण से विहित है। पूर्व भाग में उसके निकट गोजी बनाई जाती है। पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अर्ध मात्रा के प्रमाण से बताया गया है। अधरोष्ठ तीन यव के प्रमाण से। शेष से उन दोनों का चाप-चय होता है। पाली के मध्य में सूत्र होता है और पाली के परे चिबुक होता है। हनु-पर्यन्त रेखा-सूत्र से आधे अंगुल पर होती है। हनु के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र परिमंडल कहलाता है। एक ही सूत्र के साथ दूसरी आंख तक परिस्फुटा ठोढ़ी के ऊपर मुख-पर्यन्ता लेखा बनानी चाहिये। इन लेखाओं से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा आदि अन्य अंगोंपांगों का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है। पूर्वभाग में सूत्र से आधे अंगुल के प्रमाण से हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है। बाह्य-लेखा उस सूत्र से आठ अंगुल के प्रमाण से परभाग में स्थित होती है। हिक्का-सूत्र से लेकर हृदय-भाग आगे होता है। उसी मात्रा में अन्य अत्रत्य प्रदेश परिकल्प्य हैं। हिक्का-सूत्र से पांच अंगुल प्रमाण वाले परभाग में स्तन होते हैं। रेखा का अन्त सूचन करने वाला मंडल डेढ़ अंगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा से निर्दिष्ट करना चाहिये और हिक्का-सूत्र से लेकर स्तन-पर्यन्त यह छै अंगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है। कक्षा के नीचे दो कलाओं के प्रमाण से बाह्यलेखा बनायी जाती है। भीतर की बाह्य-लेखा स्तन से पांच अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है और ब्रह्म-सूत्र से एकभाग से मध्यभाग में अन्य अंग बताया गया है। —(?) टेढ़ा विभाजित किया जाता है। पूर्वभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अंगुल वाला होता है। ब्रह्म-सूत्र से नाभि–प्रदेश टेढ़ा होता है। चार यवों से अधिक चार अंगुल के प्रमाण से वह बनाया जाता है। पूर्वभाग में वह ग्यारह अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। मध्य से दूसरे के दोनों ऊरुवों का अभ्यन्तराश्रित सूत्र जाता है और अपर भाग से पहले की एक कला से वह जाता है। जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव से बनता है। जंघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक-प्रसक्त होता है पुन: चार से सूत्र इष्ट होता

है। इसी प्रकार से बाहरी लेखायें बनायी जाती हैं। ब्रह्म-सूत्र से पाँच अंगुल के परभाग में कटि-प्रदेश निवेश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ़ आदि एवं ऊरू-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं।

सूत्र के अपर भाग से उरू के मध्य में दो कलाओं के प्रमाण से रेखा बनायी जाती है और सूत्र से पूर्व उरू का मूल, पूर्व से एक कला के प्रमाण से होता है। पूर्व के जानु से दो कलाओं के प्रमाण से रेखा समझनी चाहिए। जानु डेढ़ अंगुल और एक यव के प्रमाण से और उसका पार्श्व आधे अंगुल से बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रेखा विभाजित की जाती है। आदि-मध्य-अन्त—इन तीनों रेखाओं को साची-सूत्र में उदाहृत किया गया है। प्राक्-भाग से अमलक से पांच अंगुलों से प्रान्त होता है। परभाग स्थित उरू और जँघा इन दोनों का आधे अंगुल के प्रमाण से क्षय बनाना चाहिए। पराक्षि-मध्य-गामी सूत्र लम्ब-भूमि प्रतिष्ठित होने पर पर-पाद-तलान्त से पूर्वभाग से एक अंगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वपाद का तल आठ अंगुल से होता है। दोनों तलों के नीचे सूक्ष्मा लेखा अठारह अँगुल के प्रमाण से बनायी जाती है। अंगुष्ठ-प्रान्त से प्रदेशिनी एक अँगुल से अधिक बनती है। पुनःअंगुष्ठ-मूलागम से अन्य अंगुलियां विहित हैं। यहाँ से जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अंगुल से उसके ऊपर पर का पार्ष्णि विहित है। पूर्वपाद के अनुसार अंगुष्ठ में अंगुली का पात होता है। पुनः उप-प्रदेशिनी-मान से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अन्य सब अंगुलियां क्रमशः प्रकल्पित वहां होती हैं। इस प्रकार से इस साचीकृत-नामक स्थान का यथार्थ वर्णन किया गया ॥४४½ - ८२॥

अध्यर्धाक्ष-स्थान-मुद्रा-विशेष—अध्यर्धाक्ष-स्थान का अब वर्णन करता हूं। ब्रह्मसूत्र को मुख में रखकर के यहांपर मान किया जाता है। केशान्त-लेखा सूत्र से यव-सहित एक मात्रा की होती है।

टि० स० सू० के इस मूलाध्याय में—स० सू० के ८१वें अध्याय (पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) का अंश प्रक्षिप्त था अतः उसे परमार्जित कर यथास्थान तत्रैव न्यासित किया गया।

भ्रू-प्रदेश को दो यव मात्राओं से लिखे। कुशयवाङ्गल वाली यहां भ्रू-लेखा विहित है। अक्षि, तारा आदि अर्ध-प्रमाण से विहित हैं। कपोत-रेखा पर भाग से पर्व-हीन एक अंगुल से बनती है सूत्र-पूर्व-पटान्त अर्धांगुल इष्ट है। यथ च

नासिकान्त एक अंगुल सूत्र से परे करना चाहिये । पुनः मूल में नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा से गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ होता है वह ब्रह्म–सूत्र से लगा कर दो यव के प्रमाण से समझना चाहिए। पर में तो नासिका के नीचे रेखा आधे आधे अंगुल से होनी चाहिए। अधरोष्ठ के परभाग में प्रमाण यव बताया गया है। हनु तक लेखा के मध्य में सूत्र प्रतिष्ठित होता है । सूत्र से पहले करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अंगुल का होता है और वह आधे यव के प्रमाण से दिखायी पड़ता है। तदनन्तर सफेदी डेढ यव के प्रमाण से बतायी गयी है। तारा तीन यव के प्रमाण से समझनी चाहिए। शेष पूर्वोक्त-प्रमाण से। कान के परदे के नीचे कर्ण-मध्य-भागीय दो अंगुल के प्रमाण से कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परदे से चार यव के प्रमाण में शिरः-पृष्ठ-लेखा होती है। यह समझकर जैसा बताया गया है वैसा करना चाहिए। कर्ण-सूत्र से बाहर एक अंगुल के प्रमाण से ग्रीवा बनानी चाहिए। गल, ग्रीवा, हिक्का, प्रागङ्गलोत्तर विहित है। हिक्का-सूत्र से ऊपर अंस-लेखा अर्थात् स्कन्ध-लेखा उसी प्रकार से एक अंगुल के प्रमाण में होती है। ब्रह्मसूत्र से अंगुल सम्मित पर भाग में अंस अर्थात् कंधा होता है। --(?) कक्षा–सूत्र से पहिले स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र से, कक्षा से तीन कलाओं तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजायें यथा-शास्त्र-प्रमाणनुरूप विहित हैं । प्रासाद–मध्य सूत्र ग्यारह अंगुल का होता है । सूत्र से तीन अंगुल के प्रमाण से परभाग-मध्य विहित है। पर भाग में सूत्र से एक अंगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की उदर-लेखा तो तीन अंगुल समझनी चाहिए। दोनों नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश नाभि-प्रदेश से विहित है। ब्रह्मसूत्र से पूर्व भाग में तीन भाग वाली और पर में तीन अंगुल वाली कटि अर्थात् कमर विहित है। ब्रह्म-सूत्राश्रित तत्र में मेढ्र-स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य-रेखा-सूत्र के प्रत्यंगुल अन्तर में उसे बनाना चाहिये और उसी की मूल-रेखा सूत्र से पहिले दो अंगुल के अन्तर पर बनायी जाती है। पर की दोनों उरूवों की मूल-रेखा-सूत्र से दो कलाओ के अन्तर पर होती है। अब जहां तक जानुओं का प्रश्न है वे भी इन्ही भाग-प्रमाण में विहित हैं। जानु के मध्य में गयी हुई लेखा बाह्य-लेखाश्रित होती है। आधे २ मात्रा की जानु होती है और उसकी अधोलेखा तो जो होती है वह सूत्र से पूर्व की ओर अंगुल के प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से परे परांगुष्ठ-मूल पादक में एक अंगुल

के प्रमाण से बनाया जाता है और मूल से अँगुष्ठ का अग्र-भाग साढ़े तीन अँगुलों का होता है। सूत्र से परे जंघा की लेखा चार अँगुल में होती है और पूर्व जंघा की लेखा तो दो अंगुल में होती है। पूर्व जानु एक कला के प्रमाण से और शेष यथोक्त प्रमाण से। परपाद के तल में —? जो टेढ़ा सुप्रतिष्ठित होता है —? वह डेढ़ कला के प्रमाण से बनता है। अथ च पाद की अँगुलियों का न्यास एवं प्रमाण भी शास्त्रानुकूल अनुमेय एवं निर्मेय हैं। जो परांगुष्ठ मूल से उत्थित लंब-सूत्र बनता है उसका सम्बन्ध अंगुष्ठाश्रित है। पूर्व पार्ष्णि-तल के ऊपर तीन अंगुल में बनाना चाहिए और पार्ष्णि के परपाद का पूर्व पाद तिरस्कृत होता है। इस प्रकार अध्यर्धाक्ष-नामक स्थान का यथा-शास्त्र इस प्रकार से आलेखन करना चाहिए ॥८३-?११½॥

पार्श्वागत स्थानक-मुद्रा-विशेष:—अब पार्श्वागत नामक पांचवें स्थान का वर्णन किया जाता है। व्यावर्तित मुख के अन्त में ब्रह्मसूत्र का विधान किया जाता है। सूत्र से स्पृ ललाट की बायीं रेखा को दिखाना चाहिए। सूत्र से नासिका-वंश दो अंशों के मान से विहित है, पुनः अपाँग दो कलाओं से और सूत्र से कान भी दो कलाओं के अंश से विनिर्मेय हैं। तदनन्तर इसका मध्यगत सूत्र इसके आधे से स्थापित करना चाहिए। एक अंगुल में चिबुक-सूत्र से हनुमध्य चार यव वाला होता है। डेढ़ अंगुल से नतग्रीवा बनाना चहिये। एक अंगुल से तदनन्तर हिक्का और चार से ब्रह्मसूत्र से मस्तक तथा श्रवणपाली विहित है। ग्रीवा के अंगुल से ही मध्य सूत्र कहा जाता है। हिक्का के मध्य सूत्र से अंड-मूल दो कला वाले भाग में होता है। आठ मात्रा में पीठ और इसी प्रकार से हृदय-लेखा। स्तन-मंडल फिर उसी से एक अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है और पूर्व भाग में कक्षा-सूत्र से तीन भाग से और तीन मात्रा से अपर भाग में कक्षा बनाई जाती है। दोनों अन्तों का मध्य अंगुल के प्रमाण से विद्वान् लोग बताते हैं। मध्य-सूत्र से पर्यन्त-मध्य दस अंगुल से बनाया जाता है। मध्य-पृष्ठ चार से और नाभि—पृष्ठ पांच से, नाभि की अन्त रेखा नौ से और तीन कलाओं से कटि-पृष्ठ होता है तथा उदर की प्रान्त-लेखा दस अंगुलों से समझनी चाहिए। आठ मात्राओं से स्फिक् का मध्य कहा जाता है। वस्ति-शीर्ष नौ से स्फिक्-गन्त और आठ अंगुलों के प्रमाण से विहित है। आठ से मेढ्र का मूल होता है और उरू का मध्य सात से विहित है। दोनों ऊरुवों का पाश्चात्य मूल भाग पांच अंगुलों के प्रमाण से बनाया जाता है। पीछे से कर का मध्य

साढ़े चार अंगुलों और वही आगे से साढे पांच अंगुलों का बताया गया है। कर-मध्यांगुल मध्य-सूत्र मध्य में बनाया जाता है। जानु के आधे में मध्य-सूत्र होता है। भाग और लेखा जानु से सूत्र के दोनों तरफ होती है और जंघा मध्य में बतायी गयी है। छै अंगुल वाली जंघा और नलक के मध्य में सूत्र कहा गया है। दोनों पार्श्वों पर दो अंगुल के प्रमाण से नल बनाने चाहिएं। मध्य—सूत्र से चार अंगुल के प्रमाण से पार्ष्णि बनायी जाती है। पूर्वोक्त प्रमाण से अंगुलियां और पादतल होता है। इस प्रकार से यह भित्तिक-संज्ञक पार्श्वगत-नामक स्थान बताया गया है ॥११९½—१२६½॥

परावृत्त-स्थानक-मुद्रा-विशेषः—अब इसके उपरान्त परावृत्त स्थानों का वर्णन करता हूं। वहां पर पहले ऋज्वागत परावृत्त स्थान का वर्णन किया जाता है। वहां पर दो अंगुल के प्रमाण से दो कर्ण अलग २ बनाने चाहिए तथा पार्ष्णि और पर्यन्त इन दोनों का मध्य भाग सात अंगुल होता है। साढ़े तीन अंगुल से दो पार्ष्णि अलग २ बनाने चाहिए। कनिष्ठा, अनामिका और मध्य में अंगुलियां चार अंगुल दिखानी चाहिए। अंगुष्ठ (अंगूठा), अनामिका, मध्या और कनिष्ठा बाह्यलेखा से सूत्रय हैं। यह परावृत्त स्थान होता है। शेष ऋज्वागत के समान आदेश किया गया। अध्यर्धाक्ष आदि जो स्थान उनमें होते हैं जिसका जो परावृत्त स्थान हो उसके अनुसार उसका वह स्थान बनाना चाहिए। जो जो प्रमुख स्थानक-मुद्रायें हैं उनकी दृश्यादृश्य सभी परावृत्त तथैव कल्प्य हैं, ये बताये हुए स्थान जीवों में, द्विपदों में और निर्जीवों भी तथा यान, आसन, गृह आदि में समझना चाहिए। वस्तुतः मूलरूप ये नौ (९) ही स्थान हैं और जो बीस में विभक्त बताये गये हैं व उनके भेदों को ही समझना चाहिए ॥१२६½—१३९½॥

ऋज्वागतदि जो स्थान दृष्टि-पथ के पथिक बनते हैं उनके स्थानों का जो मान होता है वह यहां भी बताया जाता है। अठारह से विस्तृत और उसके दुगुनी आयति से वह प्रमाण विहित है। और आयाम के अर्धदेश में इसका आगे का विस्तार आठ से विहित है। —(?) उसके मध्यगामी सूत्र में न्यसित की जाती है। विभिन्न अंगों एवं उपांगों का भी यथा-शास्त्र निर्माण है। स्तन का गर्भ गर्भसूत्र से विस्तार में छै अँगुल वाला होता हैं और छै अंगुलों से दोनों स्तनों का तिरछा विनिर्गम होता है। गर्भ से तिरछे पृष्ठ पक्ष दोनों स्फिज् भी दश अंगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। पुनः पृष्ठ-वंश स्फिजांगुलानुसार विहित है।

जो नवांगुल विहित है और स्फिक् से सात अंगुल परे होता है। कक्षा का मूल, आयाम और गर्भ से दस अंगुल वाला होता है। आगे उसका निर्गम एक अंगुल से और पीछे से सात अंगुल से। गर्भसूत्र से तदनन्तर तिरछा पादांश अठारह अँगुल वाला होता है। गर्भ से. . . प्रदेश पांच अंगुलों से बनाया जाता है। जठर-गर्भ दोनों पार्श्वों पर और सामने भी अंगुल से पेट का प्रदेश, पीठ पश्चात् सात अंगुलों से, साढ़े बारह अंगुलों से ऊरुवों का मूल बताया गया है। पांच अंगुल के प्रमाण से इसका पहले का निर्गम और पीछे का निर्गम सात अंगुल से। उरु-मूल के पीछे से तो दोनों स्फिज् तीन अगुल के प्रमाण से निर्गत होते हैं। आगे तदनन्तर मेढ़ गर्भ-सूत्र से छै अंगुल का समझना चाहिए। टेढ़े सूत्र से जानु-पार्श्व साढ़े नौ अंगुलों से समझना चाहिये। और आयाम-सूत्र से जान्वन्त पीठ से आगे चार अंगुल का होना चाहिये। गर्भ से टेढ़ा इसका नल छै अंगुल वाला और पृष्ठ भाग से वह नौ अगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अंगुल-पर्यन्त साढ़े छै अँगुलों से यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी तथैव शास्त्रानुसार परिकल्प्य है। दैर्ध्य से यहां पर चौदह अंगुलों का पाद बताया गया। गर्भ से आगे छै अंगुल वाला और पीछे से छै अंगुल वाला होता है। जानुओं एवं अन्य प्रदेशों का अन्तर अगुल-मात्र है। इस प्रकार से ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत मध्य सूत्र से बताया गया है। इस प्रकार इन सब के शेष परावृत्तों एवं व्यन्तरों का भी प्रबन्धन तथैव विहित है ॥१३९$\frac{१}{२}$–१५५॥

ऋज्वागत, अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष एवं पार्श्वगत नामक स्थानों का वर्णन किया गया। उनके चार परावृत्त और बीस अन्तर भी बताये गये ॥१५६॥

अध्याय ६१

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अब इसके बाद अनेक अन्य चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विशारद मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड्-स्थान :—वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों का लक्षण करना चाहिए ॥२॥

वैष्णव-स्थान :—टि० इस तीसरे श्लोक का पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनों का एक समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार का यह वैष्णव-स्थान बनता है और यहां पर भगवान् विष्णु अधिदेवता परिकल्पित किये गये हैं ॥३–५½॥

समपाद-स्थान: समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहां पर अधिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥५½-६½॥

वैशाख-स्थान :—दोनों पादों का अन्तर साढ़े तीन ताल का होता है। पहला पाद अभ्र तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख-संज्ञा वाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान् विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥६½-८½॥

मण्डल-स्थान :—इन्द्र-सम्बन्धी मंडल-नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। तिकोनी और पक्ष-स्थिति स काट जानु के समान होती है ॥८½-९½॥

आलीढ :—पांच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और वहां के देवता भगवान् रुद्र होते हैं ॥९½-१०½॥

प्रत्यालीढ :—दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के परिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½-११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन में तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। वहां पर पहली में दक्षिण तो बराबर, दूसरे में अर्थात् वाम में त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा में कटि समुन्नत वाम इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थ के नाम से, दूसरी...?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदर्श्य होता है तो उसकी संज्ञा अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा... ? तीसरी चक्रान्त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कहीं कहीं पुरुषों के भी होते हैं ॥११½—१३॥

कटि के पार्श्व-भाग में दो हाथ, मुख, वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानों में क्रियानुसार कार्य करना चाहिए। क्रियायें अनन्त हैं। उनका संपूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहां पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४-१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा संस्थान हो वह ब्रह्म-सूत्र ऋज्वागत-स्थान में होता है ॥१६-१७½॥

इन मुद्राओं में अवयव-विभाग भी होता है, उसका क्रमशः अब वर्णन करता हूं ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटों में और अन्य नाना अगों में जैसे सृक्कणी, नाभि आदि तथा पीछे ऊरू के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त में त्रिभंग-नामक स्थान में सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभंग-नामक स्थान में एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छत्तीस अंगुल भागीय स्थान के मध्य में ऐसा निर्माण विहित है ॥१८-२०॥

त्रिविध-गतियां:—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियों का अनुवाद असंभव है, यतः पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एवं भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानों में संस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रों की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-३४॥

टि० इन मुद्राओं में दृष्टि एवं हस्तादि के विन्यासों का विवेचन अनिवार्य है।

दृष्टियों, हस्तों आदि के विनिवेश से इन चार स्थानों का छन्दानुकीर्तन होता है ॥३५॥

सूत्र-विन्यास-क्रियाः–और भी बहुत सी जो मनुष्यों की क्रियायें होती हैं वे अंकित करने योग्य होती हैं। उनका शिष्यों के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पातन करना चाहिए। ब्रह्म-सूत्र-गत सूत्र में और जो पार्श्व से सम्बन्धित वहां पर उन स्थानों में ऊपर तीन सूत्र हैं वे पूर्णरूप से बोधव्य है। उनमें मध्य में जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं। भित्ति के फिर अन्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व में स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनों पार्श्वों पर से मेय है उसकी भी संज्ञा पार्श्व-सूत्र ही है। प्रदेशावयवों की पूर्ण निष्पत्ति के लिये विधान-पूर्वक जो जो अभीप्सित कार्य सम्पादित करना है उसमें इन तीनों ऊर्ध्व-सूत्रों का विन्यास अनिवार्य है। इन के मान तिर्यङ्-मानानुसार ही वे ज्ञेय हैं ॥३६-४२॥

वैष्णव प्रभृति स्थानों का वर्णन ठीक तरह से किया गया। गमनादि तीनों गतियां भी बतायी गयी हैं। सूत्र की पातन-विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्थपति शिल्पियों में श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओं एवं स्थानक-मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तों के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१. पताक	९. कपित्थ	१७. चतुर
२. त्रिपताक	१०. खटकामुख	१८. भ्रमर
३. कर्तरीमुख	११. शूच्यास्य	१९. हंसास्य
४. अर्धचन्द्र	१२. पद्मकोष	२०. हंसपक्ष
५. अराल	१३. अहिशीर्ष	२१. संदंश
६. शुकतुण्ड	१४. मृगशीर्ष	२२. मुकुल
७. मुष्टि	१५. कांगूल	२३. ऊर्णनाभ
८. शिखर	१६. कालपक्ष	२४. ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२–५॥

पताक-हस्त:—जिसकी प्रसारित अग्र-भाग-सहित अंगुलियां होती हैं और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषों के सम्बन्ध में यह सूच्य है कि वक्षः स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और कुछ भृकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आंखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करें। पुनः प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविकृत मुखाकृति से कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भृकुटियों को आकुञ्चित भौवों के द्वारा यह हस्त साक्षात् गर्व-प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हूं) चित्र-शास्त्र विशारदों के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ हैं उनमें उसको संयुत करे। दूसरा हाथ इसमें विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वर्षद्धारा-निकर का दर्शन करावे तथा पुष्प-

वृष्टि का दृश्य उपस्थित करे। दोनों हाथ टेढ़े होवें। पुनः एक को स्वस्तिक-रूप प्रदान करे। पुनः उसकी विच्युति करे और पल्लवाकृति में दिखावे। इसी प्रकार अन्य सब अङ्गों एवं उपांगो में ये मुद्रायें प्रस्फोटच हैं, इसमें सदैव अविकृत मुख दिखाना चाहिए। हस्त-पाली को संछन्न एव संसक्त प्रदर्शित करे। तलवों को अधोमुख कर के कुछ मस्तक नीचे झुका कर निविड़ से निविड़, बिना विकार के मुख-रूपी कमल वक्षःस्थल के आगे तथा ऊपर परवृत्त होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। गुप्त वाम से गोप्य तथा कुछ विनत मस्तक होकर और कुछ बाई भौं को आकुंचित कर के दिखाना चाहिए। पार्श्वस्थ पताका से दोनों पाणि-पद्मों को उससे युक्त करना चाहिये। अविकृत मुख से वायु का सा अभिनय करना चाहिए। अथच नाटच-शास्त्र में इस हस्त की मुद्रा जिस प्रकार समुद्र-वेला वायु एवं लहरों से क्षोभ्य है, उसी प्रकार बुद्धिमान को इन दोनों हाथों से दिखाना चाहिए। पुर-स्थित वाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ सर्पण करता हुआ और दूसरा कुछ शिर को हटाता हुआ ऐसा मनुष्य वेग का प्रदर्शन करता हुआ और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रदर्श्य है। दोनों हाथों में से चलते हुए दूसरे हाथ से तो और तदनुसार विकृतानन होकर वह हस्त नाट्य में निपुण क्षोभ का अभिनय करे। कुछ भृकुटी को चढ़ा कर पताका से अभिनय करना चाहिए। पार्श्व में व्यवस्थित ऊपर चलती हुई अंगुली से बार बार गर्दन को लचा कर उत्साह कराना चाहिये। तिरछे विस्फारित नेत्रों से अभिनीत इस प्रकार दोनों पार्श्वों पर व्यवस्थित अंगुलि से बड़ा भारी अभिनय करना चाहिए। भ्रान्त एवं उत्तानित अविकारी मुख से पताक-नामक पाणि से ही रूपण करना चाहिए और इधर उधर चलते हुए हाथ से पुष्कर-ताडन दिखाना चाहिए। पुनः अन्य अंगों जैसे मुख आदि से भी नाना अभिनय-क्रियायें प्रदर्श्य हैं। विकृत मुख से नित्य पक्षोत्क्षेप-क्रिया करणीय है। पुनः उत्तानित एवं विधृत दूसरे हाथ से भी यह करणीय है। भृकुटि आदि नेत्र-प्रान्त भी महान भयंकर एवं वीर-गुणान्वित रस से प्रदर्श्य हैं। ऐसा मानों साक्षात् शैलेन्द्र—पर्वत-राज को उठा रहा हो। धीरे धीरे भ्रू-लतिका को कुछ समुत्क्षिप्त कर दिखाना चाहिए। परस्परासक्त एवं सम्मुख उससे शैल-धारण दिखाना चाहिए। तदनन्तर बनावटी भृकुटी से दोनों पार्श्वों का अधोभाग प्रविष्ट कराकर उसी प्रकार शैल-प्रोत्पाटन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश में स्थित तथा दूर से उत्तानित ऊंची भौं से पर्वत की उद्धरण-क्रिया दिखानी चाहिए॥६—३९॥

त्रिपताक-हस्त-मुद्रा:- पताक-हस्त में जब अनामिका अंगुली टेढ़ी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमें अंगुलियां—मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हों। कुछ नत-मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण-क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसपर्ण करता हुआ इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुनः प्राङ्मुख होकर अथवा भृकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनों अंगुन्लियों के उत्क्षेपण से तथा इसके तानने से और अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व में नत मस्तकों से प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अंगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनों का निदर्शन एवं अनामिका आदि अंगुलियों से सूचन-पुरस्सर मांगलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङ्मुख तथा शिर-प्रदेश में सर्पण करते हुये इस हाथ से शिर-सन्निवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनों तरफ से केश के निकटवर्ती दोनों हाथों से साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बंद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौवों से तथा ऊपर स्थित दो अगुली वाले उस हाथ से दोनों अंगुलियों से अधोमुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनों अंगुलियों से षट्पदों को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनों हाथों से छोटे २ पक्षियों को दिखाना चाहिए और पवन-प्रभृतियों को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अंगुलियों वाले अधोनत दोनों हाथों से अथवा अधोमुख से आगे सर्पण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सूत्र-सदृशाकार दूसरे हाथ से गंगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसर्पण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सर्प का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोनों अंगुलियों से उस विनतानन व्यक्ति का अश्रुप्रमार्जन दिखाना चाहिए। नीचे २ सर्पण करती हुई भाल-देश तक जाती हुई भृकुटी को धीरे धीरे लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशेष रूप से विहित है। और उसी से अलकों का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हास करना चाहिए। मुख के आगे टेढ़ी २ दो अंगुलियों के चालन से और वक्षःस्थल के अग्र-भाग से दो अंगुलियों

के चलाने से मयूर, सारिका, काक और कोकिल को दिखाना चाहिए । इसी प्रकार मानों पूरे तीनों लोकों का अभिनय प्रदर्श्य है ।।४० - ६२।।

कर्तरीमुख-हस्तः–त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलोकनी तर्जनी होती है तब यह कर्तरीमुख नाम से पुकारा जाता है । झुके हुए, नमे हुए पैर से सञ्चरण प्रदर्श्य है तथा अन्य भंगियां भी अधोमुख से इसी भंगी से रंगण करना चाहिए । मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश-संयुत उप से श्रृंग दिखाना चाहिए । ऊंची उठी हुई तथा तनी हुई भौं दिखाये । पुनः कुछ नीचे झुके हुए उससे अधःपतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए । शक्ति विक्षेपण-रहित हस्त से, पुनः कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकाते हुए चलते हुए अन्य भंगिया प्रदर्श्य एवं अभिनेय हैं ।।६३–६६½।।

अर्धचन्द्र-हस्त-मुद्राः–जिसकी अंगुलियां अंगूठे के साथ धनुष के समान खिंची हुई होती हैं उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है । अब उसके कर्म का वर्णन किया जाता है । भौं को ऊंचा कर के एक हाथ से शशि-लेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपन्यस्त उसी प्रकार निर्घाटन करना चाहिए । मोटे तथा छोटे पौधे, शंख, कलश कंकण इन सब को संयुत हस्त से दिखाना चाहिए । रशना, कुंडल आदि के तथा तलपत्र के तद्देशवर्ती उससे कमर और जांघों का भी अभिनय दिखाना चाहिए । इसी से अनुगता दृष्टि अन्य अभिनयों में भी प्रदर्श्य है ।।६६½-७३।।

अराल-हस्त-मुद्राः–पहली अंगुली धनुष के समान विनत बनानी चाहिए और अंगूठा कुंचित होना चाहिए और शेष अंगुलियां अराल नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बतायी गयी हैं । आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्त्व (बल), शौडीर्य (शौर्य), गांभीर्य, धर्म और कान्ति दिखाना चाहिए । और भी जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकृतानन भौहों को उठाये हुए उस नर्तक की इसी भांति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए । स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग कर निर्वर्णन जो किया जाता है तथा उत्कर्षण भी यह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू-प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण-गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए । विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अंगुली के आगे समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल–संस्थान, महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हों उन सबको दिखाना चाहिए। दान, वारण (निषेध), आह्वान अर्थात् आवाहन (बुलाना), वचन अर्थात् उपदेशादि इस असंयुत एवं चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने को हटाना और सूंघना चाहिए। नृत्र-कोविदों के द्वारा उस प्रदेश में प्रवृत्त हस्त से स्त्रियों के विषय में भी वही हाथ प्रायः प्रयोग में लाया जाता है। इन सब कर्मों को यह अराल-नामक हस्त त्रिपाक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नहीं, यह मुद्रा पूर्वोक्त प्रदर्श्य है ॥७४-८५½॥

शुक-तुण्ड-हस्त-मुद्रा:—अराल-नामक हस्त की जब अनामिका अंगुली टेढ़ी होती है तब उस हाथ को शुक-तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता हैं। 'तुम इस तिरछे हस्त से अपने को मत दिखाना'—यह निर्देश है। पुनः पुनः प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण, पुनः विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त-मुद्रा में दिखाना चाहिये। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं भ्रू भी अनुगत प्रदर्श्य है ॥८५½—८९॥

मुष्ठि-हस्त-मुद्रा:—जिस हाथ के तल-मध्य में अंगुलियां अग्र-संस्थित होती हैं और अंगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि-नामक हस्त कहते हैं। यह भृकुटि चढ़ाये हुए मुखों सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और निर्गम में तो पार्श्व में स्थित दोनों हाथों से बनाया जाता है ॥९०-९१॥

शिखर-हस्त-मुद्रा:—छड़ी तथा तलवार के ग्रहण में, स्तन-पीडन में, गात्र-मर्दन में, असंयुत मुद्रा में इस हस्त को करना चाहिए; पुनः इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अंगूठा प्रयुक्त होता है तब इस पाथ को प्रयोग करने वालों को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश, रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण में इसे वाम बनाना चाहिए। जहां तक श्रोणि अर्थात् नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनों हस्तों को व्यप्टे तक करना चाहिये शक्ति, तोमर आदि आयुधों के मोचन में तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है; पाद और ओंठ के रंजन मे चलितागुष्ठक होता है। वालों के समुत्क्षेपण में उसी प्रदेश में स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनों भ्रुवों को अनुगत बनाना चाहिय ॥ ९२—९६ ॥

कपित्थ-हस्त-मुद्रा :—इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अंगुली दो अंगूठों से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है । इसी हाथ से विद्वान को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति, वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रों के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधों के विक्षेपावसर दृष्टियों एवं भ्रू-चालनों का भी संयोग अपेक्षित है ।।९७ ९९।।

खटकामुख हस्त-मुद्रा :—कनिष्ठा अंगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अंगुली उच्छ्रित एवं वक्रा होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र, हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनों हाथों से छत्र-ग्रहण तथा छत्राकर्षण द्रष्टव्य है। एक से आदर्श (शीशा) पकड़ना और पंखा चलाना, दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना, फिर खण्डन करना, घूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बड़े दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुस, केश-कलाप आदि के पकड़ने में तथा माला आदि के सग्रह में दृष्टि एवं भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ।।१००-१०४।।

सूचीमुख-हस्त-मुद्रा :—सूचीमुख खटक-संज्ञक हस्त में जब तर्जनी-नामक अंगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-शास्त्रियों को समझना चाहिए। इसकी प्रदेशिनी नामक अगुली का ही प्रायः व्यापार होना। यह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्वेलित, लोल्लद् एवं वाहित विभ्रमों से प्रदर्श्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन, एवं जृम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप, पुष्प, माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य हैं। इस में टेढ़ा गमन भी अभिनेय है। वालसर्पों को भी यहां दिखाना आवश्यक है। पुनः छोटे मयूरों, मंडल और नयनों (जो ऊपर से चंचल हो रहे हों) उनकी तारकाओं को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड-यष्टियों को दिखाना चाहिए; मुखासक्त, आगे विनत इससे दाढ़ी दिखाना चाहिए ओर टेढ़े मंडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। लंबे और वड़े दिवस में इसे उन्नत करना चाहिए। अपराह्ण-वेला में भौ को झुकती और मुख के निकट उसको कुंचिता विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व को जानने वालों के द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण में इस प्रकार की उस अंगुली का प्रयोग करना चाहिए, जिससे हाथ फैला हुआ हो, अंगुलियां कंप रही हों, विशेष कर गुस्से में पुनः हाथ को उठा कर फैला कर यह अभिनय प्रदर्श्य है। कुंतल , अंगद, गण्ड एवं कुण्डलों के रूपण में तद्देश-वर्तिनी, उस अंगुली को बार बार चलाना चाहिए। पुनः उसे ललाट में संवृत एवं उद्वृत्त रूपा 'मुझे इस प्रकार अभिनय में लाओ'—इस

प्रकार अभिनय में लाओ, इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठा कर दिखाना चाहिये। और उग्र-कोप-प्रदर्शन इस अंगुली से 'कौन है'--इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कंपती हुई प्रदर्श्य है। पुन. कान खजुआने में, शब्द सुनने में भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अँगुलियों को सम्मुख संयुक्त करके वियोग में विघटित और लड़ाई में स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर-निपीडन में भी इनको ऊपर उठाते हुए एवं ऊर्ध्वाग्र चलिता प्रदर्श्य हैं। पुनः आंख भी तथा दोनों भौवें को भी हस्तानुगत अभिनेय हैं ॥१०५-१२२½॥

पद्मकोशक-हस्त-मुद्रा:—जिसकी अंगुलियां अंगूठे के सहित विरली और कुंचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग संयत यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-संज्ञक कहलाता है। और उस हाथ के द्वारा श्रीफल अथवा कपित्थ का ग्रहण-रूपण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रभृति प्रधान फलों का तथा अन्य फलों का भी उन उन फलों के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर उस हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए। मुंह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को इस हाथ कें अनुगत बनानी चाहिए ॥११२½-१२५॥

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा :—जिस हाथ की सब अंगुलियां अंगूठे के सहित संहत अर्थात् सटी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्प-शिर् नाम से पुकारा जाता है। सींचने और पानी देने में उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति में तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन-क्रिया कही गयी है। फिर भौं चढ़ाकर इस प्रकार से टेढ़ा शिर करके सम्मुख अधोमुख से हाथी का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए ॥१२६-१३०½॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा :—अधोमुख तीनों अंगुलियों की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अंगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्षक के नाम से पुकारा जाता है। "यहां पर इस समय यह है—आज यहां पर है"—इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए। शस्त्र के आलम्भन में, अक्ष-पातन में, और स्वेदापनयन में टेढ़ी मुद्रा से उस में तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए। पुनः उसकी क्रोध-मुद्रा प्रदर्श्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनों भौवों को भी वैसा ही करना चाहिए ॥१३०½-१३३॥

कांगूल-हस्त-मुद्रा :—त्रेताग्नि-संस्थिता मध्यमा एवं तर्जनी के सहित अंगुष्ठ प्रदर्श्य हैं। कांगूल में अनामिका नामक अंगुली टेढ़ी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उस को उत्तानित करके करकंधू-प्रभृति प्रकृतियों को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हों तथा और कोई जो कुछ छोटी बड़ी वस्तु हो, अंगुली नचाकर स्त्रियों के रोष-वचनों का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन का इसी हाथ से प्रदर्शन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहों का दृष्टि-पुरस्सर अभिनय पूर्ववत् अनिवार्य है ॥१३४-१३७$\frac{1}{2}$॥

अलपद्म-हस्त-मुद्रा :—जिसकी अगुलियां हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास में पाश्र्वगिता विकीर्ण होती हैं, उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिशोधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा रखना चाहिए। "तुम किस की हो"—नहीं है—इस वाक्य के शून्य उत्तर में बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रियों के सन्देश में यह मुद्रा अभिनेय है। पुनः दृष्टि एवं दोनों भोंहें उसी प्रकार इस हस्त-मुद्रा की अनुगत प्रदश्र्य हैं ॥१३७$\frac{1}{2}$-१४०$\frac{1}{2}$ ॥

चतुर-हस्त-मुद्रा :—जहां पर तीन अंगुलियां फैली हुई हों और कनिष्ठा ऊंची उठी हो और उन चारों के मध्य में अंगुष्ठ बैठा हो, उसको चतुर बताया गया है। विनय में और नम में यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य में शिर को उन्नत कर पुनः सत्व अर्थात बल में ऊंची भौं कर के पुनः नियम में इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिला भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन में भृकुटी से टेढ़ा शिर बनाना चाहिए। पुनः उत्तानित हस्त से बलपूर्वक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछे फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य-मुद्रा से सत्य में तथा अनुमिति में भी यह प्रदर्श्य है। इसी प्रकार से युक्त पथ्य में, शम में और यम में इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चातिए। दो से अथवा एक से थोड़ा मंडलाव-स्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए; और इसी प्रकार लज्जित तथा निर्लज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहां पर भौहों को नीचे करके अविकृत (अविकार्य) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरतः स्थित अधोमुख से वहां भी अविकृत मुख तथा अभ्युन्नत दोनों भौंहें प्रदर्श्य हैं और शिर बायें से नत प्रदर्श्य है। दोनों आंखों से मृग-कर्ण-प्रदर्शन करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा तद्देशवर्ति दोनों हाथों से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदर्श्य है। पुनः उत्तान-युत-हस्त उससे तदनन्तर पत्राकार-प्रदर्शन करना चाहिए। इस चतुर-

संज्ञक हस्त से भौं को थोड़ा सा लचा कर लीला, रति, स्मृति बुद्धि, मुर्छा, संगत, प्रणय, शौच, माधुर्य, भाव, अक्षम, पुष्टि, सचिव, शील, चातुर्य, मार्दव सुख, प्रश्न-वार्ता, वेष और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन में, विभव और अविभव तथा कुछ सुरत, शाद्वल, मृदु, गुण, अगुण, घर स्त्री, नाना-विध आश्रय वाले वर्ण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुला तथा जिस २ अर्थ की जैसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शीर्ष में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात् इस मुद्रा में सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमंडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए कौर स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५९ ॥

भ्रमर-हस्त-मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्देशाकृति में और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनों अंगुलियां जहां पर प्रकीर्ण हों उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण—अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर उस हाथ को रख कर बनाना चाहिए। और उनके अभिनय में दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हंसवक्त्र-हस्त-मुद्रा :— हंसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनों अंगुलियां अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अंगूठा भी त्रेताग्नि में स्थित सा प्रदर्शन विहित है। शेष दोनों अंगुलियां फैली हुई अभिनेय हैं। कुछ स्पन्द करते हुए अंगूठे वाले इस हाथ से दोनों भौंहों को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय में दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६५½ ॥

हंसपक्ष—हस्त-मुद्रा :—पहली तीनों अंगुलियां फैली हुईं और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अंगूठा जिसमें कुंचित हो उस हाथ को हंसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गण्ड के रूप का गण्ड-वर्तन और भोजन में तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति में इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पूत कार्यों में इसे करना चाहिए। दोनों के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी वनना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पार्श्व में

ही दोनों हाथों से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। वाएं हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियों अर्थात् प्रियाओं के संवाहन में और अनुलेपन में तथा स्पर्श में साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम में भी स्तनान्तस्थ-रसास्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण में अधस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहों को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५½-१७२½॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा :—जब अराल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्दंश-संज्ञक इस हस्त में भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दंश बताया गया है। वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनों भेदों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन में प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणों तथा पत्रों के ग्रहण में और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण में तो अग्रदंशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण में तथा खींचने में भी और वृन्त से पुष्प को उखाड़ने में और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण में भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष में तथा धिक्कार के वाक्य में बाहर के भाग से प्रसर्पण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा वाण के लक्ष्य-निरूपण, ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय में तो हृदय के सम्मुख संयुत करना चाहिए। निन्दा, असूया, कोमल और दोषयुक्त वचनों में विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ दिधन्ति सा संप्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना में, वर्तिका के ग्रहण में, नेत्र-रंजन में और आलेख्य में तथा आलक्तक-पीडन में भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२½-१८२½॥

मुकल-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हंस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अगुलियां समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहां पर मुकुलों तथा कमलों आदि में इसे संघत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट-चुम्बक होता हैं ॥१८२½-१८४½॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा :—पद्मकोष-नामक हस्त की अंगुलियां जब कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशगृह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है । चोरी और केश-गृह में इस हाथ को अधोमुख करना चाहिए । शिर को खुजलाने में मस्तक के प्रदेश में बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक् बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण में इसे टेढ़ा बनाना चाहिए ।. . . सिंह और व्याघ्रादि के अभिनय में इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से संयुक्त बनाना चाहिए । यहां पर भी दृष्टि और भ्रू का कर्म पहले के समान ही बनाया जाता है ॥१८४½-१८८½॥

ताम्रचूड-हस्त मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्दंश के समान जहां पर हों और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनों अंगुलियां तलस्थ कर्तव्य हैं । मृग, व्याल आदि के डराने में तथा बाल-संधारण में इस हाथ को भर्त्सना में भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए । सिंह एवं व्याघ्र आदि के योग में विच्युत हो कर शब्द करता है । दृष्टि एवं भ्रू इस हस्त की सदैव अनुग विहित हैं । दूसरों के द्वारा इसकी दूसरी सज्ञा भी दी गयी है ।१८८½-१९१½॥

अभी तक असंयुत चौबीस हस्तों का वर्णन किया गया । अब तेरह संयुत हस्तों के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है :—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्संग, निषध, डोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्तक, अवहित्थ और दूसरा वर्धमान —ये संयुत-संज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं ॥१९१½-१९५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा :—दो पताक हस्तों के संश्लेष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मृत किया गया है । वहां पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए । निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रों का और स्त्रियों का यथेच्छ विहित है ॥१९५½-१९७½॥

कपोत-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथों से परस्पर पार्श्व-संग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन अब किया जाएगा । शिरोनमन से एवं वक्षःस्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए । विनयाभ्युपगम में भी यही विहित है । अंगुलि से संघृष्यमाण मुक्त पाणि से "यह नहीं करना चाहिए, ऐसा ही करना चाहिए"—आदि अभिनेय हैं ॥१९७½-२००॥

कर्कट-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की अंगुलियां अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती हैं, उस को कर्कट समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है । शिर को उठाकर तथा भौहों को लचाकर कामातुरों का

जृम्भण (जमुहाई लेना) तथा अंग-मर्दन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१–२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा :—मणिबन्धन में विन्यस्त अराल दोनों हस्तों को स्त्रियों के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। चारों तरफ ऊपर प्रदर्श्य एवं विस्तीर्ण रूप में वनों, मेघों, गगन आदि प्राकृतिक दृश्य अभिनेय हैं ॥२०३½–२०४॥

खटकावर्धमान-हस्त-मुद्रा :—खटक में खटक न्यस्त खटकावर्धमानक-संज्ञक यह हस्त बताया जाता है। श्रृंगार आदि रसों के अर्थ में इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत-प्रभेद भी विहित है ॥२०४½-२०५॥

उत्संग-हस्त-मुद्रा:–दोनों अराल हस्त विपर्यस्त और ऊंचे उठे हुए वर्धमानक जब हों तो स्पर्श में एवं ग्रहण में इसकी संज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्संग नाम वाले ये दोनों हाथ होते हैं। अब उनका कर्म बताया जाता है। उन दोनों का विशेष प्रहरण अथवा हरण में विनियोग करना चाहिए और इन दोनों हाथों को स्त्रियों की ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बायें हाथ को कूर्पर के मध्य में न्यास करना चाहिए ॥२०६-२०८॥

निषध हस्त-मुद्रा :–यह लक्षण गलित एवं लुप्त है।

दोल–हस्त–मुद्रा: जहां दोनों पताक हस्तों के अभिनय में कंधे प्रशिथिल, मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड़ रहे हों, एसे करण में दोल की संज्ञा हुई ॥२०९॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा:—जो सर्पशिर-नामक हस्त बताया गया है उसका अंगुल संसक्त हो तथा जो दूसरा हाथ पार्श्व–संश्लिष्ट हस्त होता तो यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जलपान आदि हैं ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा :— जब दोनों पताक-हस्त के अंगूठा उठाकर अधोमुख ऊपर ऊपर विन्यसित होते हैं तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा :—कूर्पर में दोनों हाथ जब सर्पशीर्षक संधित होते हैं तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा :—शुक की चोंच के समान दोनों हाथों को बनाकर वक्षःस्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखाविद्धाभिनय से उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वर्धमान-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथ हंस-पक्ष की मुद्रा में जब हों और वे

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हों तो इस को वर्धमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है अतः अनुवादानपेक्ष्य ।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) संयुत हस्त-मुद्राओं एवं त्रयोदश (१३) असंयुत हस्त-मुद्राओं के वर्णन के उपरान्त अब एकोनत्रिंशद (२९) नृत्य-हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जाता है। इन नृत्य-हस्तों में इस मूल में केवल अट्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहें हैं, उनसे दहुतों के लक्षण भ्रष्ट हैं, गलित भी है तथा अव्यवस्थित भी हैं, अतः मुनि की दिशा से अर्थात् नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरत-मुनि के नाटय-शास्त्र की दिशा से यत्र-तत्र आवश्यक व्यवस्था का भी प्रयत्न किया गया है।

ये ही संयुत-असंयुत दोनों हस्त-मुद्रायें नृत्य-हस्त-मुद्राओं में भी प्रयोग में लाई जा सकती हैं। चेष्टा, अग—जैसे हस्त से, उसी प्रकार सात्विक विकार जो गंड, ओष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु, पाद, आदि गतियों एवं आक्षेप-विक्षेपों से जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है, उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओं में विहित है ॥२१८-२१९॥

नृत्त-हस्त :—अब इन नृत्त-हस्तों का वर्णन किया जाता है। पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है :—

(१) चतुरश्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मंडली
(२) डद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त'	(२२) पार्श्व-मंडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-वन्ध	(२२) उरो-मंडली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उरः पार्श्वार्धमंडल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि-हस्त	(२४) मुण्टिक-स्वस्तिक
(६) अराल-खटकामुख	(१६) पक्ष-वंचित	(२५) नलिनी-पद्मकोषक
(७) आविद्ध-वक्ल	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(३६) हस्तावलपल्लव—कोल्बण
(८) सूची—मुख	(१८) गरुड़—पक्षक	(२७) ललित
(९) रेचित	(१९) दड—पक्ष	(२८) वलित
(१०) अर्ध-रेचित ।		

टि० :—संकेत २९ नृत-हस्तों का है परन्तु प्रदर्शित क्रम से केवल २८ ही संख्या मिलती है ॥२२०—२२७॥

चतुरश्र :- जब वक्षःस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित, सम्मुख-खटकामुख, पुनः समान कूर्परांश—ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य-हस्त-विशारदों के द्वारा इस नृत्य-हस्त की संज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२९½॥

टि० । – यहां पर इस मूल में उद्वृत्त एवं स्वस्तिक इन दोनों नृत्य-हस्त-मुद्राओं का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण :—हंस-पक्ष की आख्या वाले दोनों हस्त जब व्यावृत्ति एवं परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति में लाए जाते हैं, पुनः मणि-बंधन से च्यावित अर्थात् हटा दिए जाते हैं, तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदों ने विप्रकीर्ण की संज्ञा दी है ॥२२९½—२३०॥

पद्मकोश :—वे ही दोनों हंस-पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमें व्यावर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर, अल-पल्लवता की आकृति में परिवर्तित कर इन दोनों हस्तों को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की संज्ञा पद्मकोशक बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल-खटकामुख :—विवर्तन एवं परावर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं से दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख में स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते हैं ॥२३२½-२३३॥

आविद्धवक्त्रक :—भुजाएं, कंधे और कूर्परों के साथ जब बाएं और दाएं ये दोनों हाथ कुटिलावर्तन-क्रिया में अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एवं विनत इन क्रियाओं से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहां इस मुद्रा की आविद्ध-वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा-संज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा में गदा-वेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख :—जब सर्प-शिर की मुद्रा में तलस्थ अंगुष्ठक वाले दोनों हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है, उसमें इस नृत्य-हस्त की संज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित :—मणिबंधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद में व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हंसपक्ष की मुद्रा में लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुनः इनको द्रुत-भ्रम की गति में लाकर दोनों बगलों में धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदों ने रेचित कहा है ॥२३७-२३८½॥

अर्द्धरेचित :—पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्रक और परिवृत्ति इन दोनों मुद्राओं से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की मुद्रा

में आ जाता है। पुनः बांया हाथ रेचित मुद्रा में आ जाता है। तो विद्वानों ने इसे अर्द्धरेचित की संज्ञा दी है ॥२३९½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित – दोनों हाथों को चतुरश्र के समान व्यावृत्ति एवं परिवृत्ति से वर्तित कर पुनः कूर्पर एवं अंस में अंचित कर जब इस प्रक्रिया में ये दोनों हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनों हाथ त्र्यश्रस्थिति (तिकोनी) में आश्रित होते हैं तो इनकी संज्ञा उत्तानवञ्चितनृत्य-हस्त हो जाती है ।२४१½-२४२½॥

पल्लव-हस्त : इस मुद्रा में या तो बाहु-वर्तन अथवा शीर्ष एवं बाहु दोनों के वर्तन से, इस क्रिया से अभ्यर्णागत दोनों हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-संज्ञा कही गयी है ॥२४२½-२४४½॥

केश-बन्ध :—मस्तक पर दोनों हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एवं सरणि से शिर के दोनों बगलों पर जब पल्लव-संस्थानाकृति में दोनों हाथ दिखाई पड़ते हैं। तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा केश-बंध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता-हस्त :—... .... ? जब ये दोनों हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनों बगलों पर पल्लव-हस्त की आकृति में दिखाई पड़ते हैं तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की संज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त —इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति में परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की संज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वंचितक :—उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनों हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुनः करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½—२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक :—जब ये दोनों हाथ त्रिपताक हाथों के समान कटिशीर्ष-सन्निविष्टाग्र दिखाई पड़ते है; पुनः विवर्तन एवं परावर्तन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा वन जाती है ॥२४८½—२४९½॥

गरुड-पक्षक :-अधोमुख-तलाविद्ध ये दोनों हस्त प्रदर्श्य हैं, पुनः इन दोनों हस्त-मुद्राओं को त्रिपताकाकार-वैशिष्टय विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक :—व्यावृत्ति एवं परावर्तन मुद्रा से दोनों हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन :—इस नृत्य-मुद्रा में हाथों का ऊर्ध्वदेश-विवर्तन से दर्शनीय होता है ॥२५१$\frac{१}{२}$॥

पार्श्वमण्डलिन :—इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है । २५१॥

ऊरोमण्डलिन :—दोनों हाथों में से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रदर्श्य है, पुनः वक्षःस्थल-स्थान से उन्हें भ्रमित प्रदर्श्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शेष नृत्य-हस्त-मुद्राओं — उरःपार्श्वार्धमण्डलिन, मुष्टिक-स्वस्तिक, नलिनी-पद्मकोषक, हस्तावलपल्लव-कोल्बण, ललित तथा वलित—इन छहों के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

शब्दानुक्रमणी

अ

: ख :

: ग :

: ख :

: ज :

: भ्र ।

: आ :

: ण :

: त :

: थ :

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।

प्राक्कथनम्

भारतीय-संस्कृतौ भौतिक-विलासः विशेषतः शिल्पकलानाम्

भारतीय-संस्कृतेः आध्यात्मिकं पक्षमेव सर्वातिशायिनं मन्वानाः जनाः (वैदेशिकाः स्वदेशीया अपि) तस्याः भौतिकं पक्षं प्रविरलविषयमविषयं वा स्वीकुर्वाणा अद्यत्वेऽखिलेष्वपि भौतिकेषु क्षेत्रेषु पाश्चात्यानामनुकरणं कुर्वन्त-स्स्वीयं भौतिकं विलासं विस्मृतवन्त इव दृष्टिपथे पथिकायन्ते। एतेन मन्ये भारतीय-संस्कृतेर्नेदं यशोगानं विकत्थनमेव। यस्यां संस्कृतौ वेदाः प्रादुरभूवन् तस्यामेवोपवेदा अपि निबद्धा बभूवुः। वेदानां किं रहस्यं किञ्च तेषां श्रेयः अत्र विषये विदुषां सम्मतं मतमेव नास्य कोऽपि विशेषस्स्फारोऽत्रापेक्षते। परमुपवेदा अस्माकं विज्ञानानि पारिभाषिकाणि शास्त्राणि कलाप्रबन्धाश्चे-त्यस्माकमस्ति कापि विज्ञप्तिः। चतुः प्रकारं स्थापत्यम्, अष्टधा च चिकि-त्सितम्, सप्तांगो धनुर्वेदः, स्वरग-पदग-लयग-अवधानात्मकं संगीतम्, घन-वितत-तत-सुषिरात्मकं वाद्यम्, लास्य-ताण्डवादिनृत्तनृत्यात्मकं नाट्यम्, चतुष्षष्टिकलाश्चेति सर्वं विद्या-विज्ञान-कलापारम्पर्यं कुतः प्रादुर्भूतमित्यत्र जिज्ञासायामुपवेदा एवास्माकं शरणामिति श्रीमन्तः विदाकुर्वन्तु।

वेदा सर्वज्ञानमया नात्राहं विवदे। संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उप-निषदादिसंवलितो वेदभागः प्रायेणोपासनपरः यत्र देवता-विज्ञानं, यज्ञसंस्था आत्मज्ञानं ब्रह्मविज्ञानं वा विशेषेण प्रस्तूयते। वेदाश्च त्रयीति नाम्ना प्रथन्ते इति कृत्वाऽथर्ववेदात् शिक्षाकल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिषछन्दोभिधियेभ्यः वेदांगेभ्यः गान्धर्वायुर्वेदधनुर्वेदार्थस्थापत्याद्युपवेदेभ्यश्च भौतिकानां विज्ञा-नानां पारिभाषिकाणां शास्त्राणां कलाकौशलानां च पन्थाः प्रवर्तितो बभूव। वेदेभ्य ऐवोपवेदा उत्पन्नाः। वेदानामुपवेदाः **आसन्**—तथाहि आयुर्वेदः ऋग्वेद-स्योपवेदः, धनुर्वेदः यजुर्वेदस्योपवेदः गान्धर्ववेदः, सामवेदस्योपवेदः, स्थापत्य-वेदः, अथर्ववेदस्योपवेदः, इत्यस्माकं पुराविदो वदन्ति। एतेनेदं सिद्धं भवति यदस्माकं संस्कृतौ परोक्षस्य प्रत्क्षस्य च, अध्यात्म-वादस्य भौतिक-वादस्य च, ब्रह्मज्ञानस्य जगद्विज्ञानस्य च द्वयोरपि समाना सनातना सरणिः सुतरां

चकास्तेस्मात्राज्ञानमस्माकं भ्रान्तमेव धारणम्। अतएव महनीयेयं संस्कृतिर्या सर्वाभ्यः संस्कृतिभ्यस्सर्वतो ज्येष्ठा, वरिष्ठा, गरिष्ठा, सर्वोत्कर्षेण विराजमानाद्यापि सन्तिष्ठते तस्यां संस्कृतौ पक्षस्यैकस्य महिमानं कीर्तयन्त अपरस्याभ.वं ख्यापयन्तः जनाः किं भ्रान्ताः अभ्रान्ताः वेति भवन्तो विपश्चित एव प्रमाणम्। नैतत्तिरोहितं श्रीमतां यद्भारतीय-संस्कृतेः प्राणाः धर्म एवासीत्। अथातो धर्मजिज्ञासायाम् तत्राचार्यपादैः "यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः" इति यद् धर्मलक्षणं दत्तं तेनास्माकं संस्कृतौ भौतिकाध्यात्मिकपक्ष-द्वयस्यापि समानो विलास इति दृढ़ं सिध्यति। अभ्युदयेनेह लौकिकानां विज्ञानकलाधीनानां सुखानां निःश्रेयसा च ब्रह्मविज्ञानाधीनमोक्षापरनाम्नः पारलौकिकस्य मानवजीवनचरमोत्कर्षस्य परामर्श इति तु श्रीमन्तोः विपश्चितो जानन्त्येव।

उपनिषदां सन्दोहे षड्दर्शनीसमारोहे प्रभूते च एतद्विषयकसाहित्यप्रबन्धे निःश्रेयसमधिकृत्य बहुविचारस्तस्य नात्रावसरः। सांसरिकमभ्युदयंचावलम्ब्य कानि विज्ञानानि कानि कानि च पारिभाषिकाणि शास्त्राणि के के च कला-प्रबन्धाश्च प्रवर्तिता— अत्रपाठकानां श्रीमतां तत्रैवाधानं दीयमानमभ्यर्थये।

आयुर्वेदे आधुनिककैमिष्ट्रीविज्ञानस्य समावेशः, ऐतिह्येषु पृथ्वादिवृत्तान्तेषु पुराणेषु ज्यौतिषे च फीज़िक्स-जियोलोजी-जियोग्राफीप्रभृतीनां नानाधुनिक-विज्ञानानां भौतिकशास्त्राणां च विलासः, धनुर्वेदे मिलीटरीसाइन्सेत्यभिधाया अद्यतनी-युद्ध-विद्याया विजृम्भणम्, गान्धर्ववेदे तौर्यत्रिकोपलक्षितानां संगीतनृत्यट्यादीनां समेषां प्रमोदविद्यानां समावेशः। अथर्ववेदे दण्डाचार-प्रचार-प्रभृतीनां सर्वासां नीतीनामाधुनिक-राजनीत्यर्थनीति-वाणिज्यादि-शास्त्राणान्तत्र गतार्थत्वम्। स्थापत्यवेदे नगरनिर्माणजनभवन-राजभवन-देवभवनानाञ्च निर्माणन्तु सर्वे जानन्ति परं तत्रैव शय्यासनरचनाभूषणायुधत्रिकल्पाः नाना-वर्गीयप्रतिमा-प्रकल्पनाः अनेकजातिक-चित्रनिर्माणं बहुविधयन्त्ररचनाचातुरीत्यादि, बहुविधं स्थापत्यकौशलं विजृम्भते। इदं सर्वं भारतीयवास्तुशास्त्रमिति सामान्यविषयमुपजीव्य तेषु तेषु ग्रन्थेषु यथामति विचारितं प्रेक्षावतां श्रीमतामिति विदितप्रायमेव। वास्तुशास्त्रं स्थापत्यशास्त्र वा शिल्पशास्त्रमपि संकीर्त्यते।

शिल्पानां शिल्पिनांच बहुसंख्या बहुकोटयश्च। अतः प्रथमं शिल्पाणि कला वा संकीर्तनीयास्सन्ति। संस्कृते कला-विषयकाणि प्राधान्येन त्रीण्येव शास्त्राणि वास्तुशास्त्रं शिल्पशास्त्रं चित्रशास्त्रं च, यानि वास्तु-शास्त्रं स्थापत्यशास्त्रं वेति नाम्ना प्रथन्ते। मानसारमयमत-शिल्परत्नादिषु द्राविड़ेषु विश्वकर्मवास्तुशास्त्रसमराङ्गणसूत्रधार-वास्तुशास्त्रापराजित-पृच्छादिषु च नागरेषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेष्वयमेव विलासः। यद्यप्यासीदेकः कालः यदास्माकं देशे चतुष्षष्टिकलानामेकः प्रौढ़ः सम्प्रदायः प्रभूततमश्च प्रोल्लासो जार्गतिस्म। वात्स्यायनकामशास्त्रेप्ययमुन्मेषः लब्धप्रतिष्ठस्य तत्रभवतः यशोधरस्यापीयं मनीषा शुक्राचार्यस्यापीदमेव समर्थनम्। तथापि कालक्रमेण परिवर्तमानायामस्यां संस्कृतौइमान्येव शास्त्राणि प्राधान्येना-चार्यैः प्रतिपादितानि शास्त्रप्रबन्धैश्च दृढ़ीकृतानि।

अस्तु, प्रथमं शिल्पानि संकीर्त्यताम्। शिल्पानां बहवो भेदाः सन्ति। वात्स्यायनकाम-शास्त्रे चतुष्षष्टिकलात्मकानि यानि शिल्पानि स्वीकृतानि तान्यत्र संक्षेपेण संकीर्तनीयानि तथाहि :—

१. गीतम्
२. वाद्यम्
३. नृत्यम्
४. आलेख्यम्
५. विशेषकच्छेद्यम्
६. तण्डुलकुसुमवलिविकाराः
७. पुष्पास्तरणम्
८. दशनवासनांगरागः
९. मणिभूमिकाकर्म
१०. शयनरचनम्
११. उदकवाद्यम्
१२. उदकाघातः
१३. चित्रयोगाः
१४. माल्यग्रथने विकल्पाः
१५. शेखरकापीडयोजनम्
१६. नेपथ्यप्रयोगाः
१७. कर्णपत्रभङ्गाः
१८. गन्ध-युक्तिः
१९. भूषणयोजनम्
२०. ऐन्द्रजालयोगाः
२१. कौचमारयोगाः
२२. हस्तलाघम्
२३. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारा-क्रियापानकरसरागासवयोजनम्
२४. सूचीवायकर्माणि
२५. सूत्रक्रीडा
२६. वीणाडमरुकवाद्यानि
२७. प्रहेलिका
२८. प्रतिमाला

२९. देवार्चकयोगाः
३०. पुस्तकवाचनम्
३१. नाटकाख्यायिकादर्शनम्
३२. काव्यसमस्यापूरणम्
३३. पट्टिकावेत्रवान-विकल्पाः
३४. तर्ककर्माणि
३५. तक्षणम्
३६. वास्तुविद्या
३७. रूप्यरत्नपरीक्षा
३८. धातुवादः
३९. मणिरागाकरज्ञानम्
४०. वृक्षायुर्वेदयोगाः
५१. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः
४२. शुकसारिकाप्रलापनम्
४३. उत्सादन-संवाहनकेशमर्दनकौशलम्
४४. अक्षरमुष्टिकाकथनम्
४५. म्लेच्छितविकल्पाः
४६. देशभाषाविज्ञानम्
४७. पुष्पशकटिका
४८. निमित्तज्ञानम्
४९. यन्त्रमातृका
५०. धारणमातृका
५१. संपाद्यम्
५२. मानसी
५३. काव्यक्रिया
५४. अभिधानकोषः
५५. छन्दोज्ञानम्
५६. क्रियाकल्पः
५७. छलितकयोगाः
५८. वस्त्रगोपनानि
५९. द्यूतविशेषाः
६०. अक्षक्रीडा
६१. बालक्रीडनकानि
६२. वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम्
६३. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्
६४. व्यायामिकानां विद्यानां ज्ञानम्

चतुष्षष्ठिकलानामेष संवादः न केवलं लोकायतिकदर्शनदृष्टिप्रवरेषु कामशास्त्रेषु श्रूयते। धार्मिकेषु ब्राह्मणबौद्धजैनग्रन्थेष्वपि भूयान् सन्निवेश-स्सन्दृश्यचे। तथाहि श्रीगद्भागवतटीकाकृता श्रीधरेणाथ जीवगोस्वा-मिना चाप्येवं विवृतम्। विष्णुपुराणे तथा हरिवंशे, बौद्धानां ललितविस्तरे जैनानामुत्तराध्यानसूत्रे, तथा च कल्पसूत्रे तथैव समर्थनम्। लौकिक-संस्कृतकाव्यग्रन्थेष्वपि यत्र तत्र सर्वत्रैवायं प्रसारस्तथाहि दशकुमारचरिते कादम्बर्यां क्षेमेन्द्रस्य कलाविलासे, समावायसूत्रे विदर्भराजस्य रामचन्द्रकृत-टीकायां ललितासहस्रनाम्नो नारायणकृतटीकायां तथा च भास्कर-राज-टीकायां शिल्पानां सुदीर्घा नामावली द्रष्टव्या।

अलं विस्तरेण। अमीषु शिल्पेष्वेव **वास्तुविद्या**, **तक्षणं**, **प्रतिमाला**, यन्त्रमातृका, आलेख्यं चेति वास्तुशास्त्रस्य प्रवराः विषया विराजमानाः ये जानीमहे कालक्रमेण जनानुरागाद्वा, प्रचुरप्रचाराद्वा अनल्पोपयोगाद्वा-

द्यापि सन्तिष्ठन्ते। अपरे च साम्प्रतं नाम्नैव श्रूयन्ते ग्रन्थेष्वेव पठ्यन्ते अथवा विलासिषु विलासिनीषु वा यासु कासुचिद् शरण्या स्वप्यन्ते।

वास्तुशास्त्रस्य को विस्तारः के च तस्य विषयाः किं स्थापत्यं किं च स्थपतिलक्षणम् काश्च स्थपतिकोटयः कश्चोपोद्घातः शास्त्रस्य कश्च पन्थाः का च सरणिः किं च तत्र वैचक्षण्यं भवनरचनायां, नगर-रचनायां वा प्रासाद-निवेशे प्रतिमाप्रकल्पने वा, आलेख्यकर्मणि यन्त्रनिर्माणे वेति सर्वं वैदुष्यकलानैपुण्यञ्च वास्तुशास्त्रीय-ग्रन्थानां परिशीलनेन विज्ञायते। अस्माकमेतन्महद्गौरवं यदहं पारिभाषिके वैज्ञानिके चास्मिन् शास्त्रे अनुसन्धानार्थी प्रवृत्तः। शास्त्रमिदमतिकठिनम्। न कुत्रापि प्राचीनानि प्रस्थानानि न कोऽपि प्राचीनः एतद्विषयकवास्तुकोषः न कापि परम्परागता सरणिः। शापदुर्विदग्धानां विश्वकर्मीयाणां घोरागतिरेवात्र किं निदानं यद्वास्तुवैदुष्यं विलुप्तम्। समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तुशास्त्रस्याध्ययनेन प्रथमं ग्रन्थस्यैकस्य गरिमाणं पुनश्चास्य शास्त्रस्य प्रायः समेषामेव ग्रन्थानां महिमानं पुराणागमतन्त्रप्रतिष्ठापद्धतीनां नानाग्रन्थानां प्रथिमानं च दर्शं दर्शम् उदरंभरिः ब्राह्मण इव अशेषशास्त्रालोडनकृतमतिः वास्तुशास्त्रानुसन्धाने प्रवृत्तः अभवम्। तदधिकृत्याहं ब्रवीमि—

> अप्रज्ञेयं दुरालोकं गूढार्थं बहुविस्तरम्।
> प्रज्ञापोतं समारुह्य प्राज्ञो वास्तुनिधिं तरेत्॥

इति वचनानुसारेण प्रज्ञापोतं विनैव भगवत्याः सर्वमंगलायाः कृपाकणेनैव किमपि कर्तुं पारये।

वास्तु-शास्त्रे शिल्प-शास्त्रे वा त्रय एव प्रधानाः विषयाः—वास्तु (भवनम्), शिल्पं (तक्षणम्), चित्रञ्च (आलेख्यम्), अतः अस्मिन् खण्डे शिल्पं चित्रञ्चाधिकृत्य किमपि वक्तव्यमस्ति। शिल्पानां चित्राणाञ्च राजनिवेशेन साकं या संगतिस्सन्तिष्ठते तत्राग्रे किमपि सूच्यं भविष्यति। प्रथमं तावदत्र राज-निवेशं प्रति द्वित्राः शब्दाः प्रोक्तव्याः।

राज-निवेशः

राजभवनविन्यासे कापि विलक्षणा परम्परासीत् या न केवलं शिल्पशास्त्रेषु एव निबद्धा किन्तु रामायण-महाभारतादिप्राचीनैतिह्येषु प्रायस्सर्वेषु

काव्यनाटकादिलौकिकग्रन्थेष्वपि तथैव परिपुष्टा प्रत्यक्षीक्रियते। विशिष्टा राज-भवन-रचना। अत्र वितानानि लुमाश्च (वितानेषु पुष्पालंकरणानि) दृष्ट्वाद्ययुगीनाः कला-विशारदाः पारसीककलाऽनुकरणं कथयन्ति, नैतत् समीचीनं यतोहि अस्माकं शिल्पेषु इदं सर्वरचनावैभवं सम्यक् प्रतिपादितमस्ति। राज-भवनान्येव साहित्यसंगीतकलानामासीदाश्रयः इति कृत्वा बहूनानुपभवनानां संगीत-नाट्य-पुस्तक-चित्र-प्रभृतीनां तत्रैव निवेशाः आवश्यकाः वभूवुः। सभा-न्यायशाला-आयुधशाला-कोषागार-गज-शालाश्व-शालादीनामपि बहुविजृम्भणम्। अन्यच्च राजभवन-निवेशे विविधानां यन्त्राणां निर्माणमपि आपतति। यतोहि दासयन्त्र-योधयन्त्र-द्वारपालयन्त्र-विनोदयन्त्राणान्तु वैलक्षण्यं समरांगणवास्तु-शास्त्रे प्रथितं दृश्यते। प्रवर्षण-प्रणालादिधारागृहयन्त्राणां वसन्तमदननिवासादीनां दोला-गृहयन्त्राणां चापि भूयानभिनिवेशस्तत्रैव दृश्यते। अतः यन्त्रमधिकृत्य तत्र वैज्ञानिकं प्रवचनं प्रस्तूयते—तथाहि यन्त्रवीजाः, यन्त्रकोटयः, यन्त्रकर्माणि, यन्त्रगुणाः, यन्त्राणां विधा यन्त्रेषु विनोद धारा-दोलायन्त्रैस्साकं विमान-यन्त्रं वारियन्त्रं संग्रामयन्त्रं चेति बहवो भेदा उपवर्णितास्सन्ति। शयनासन-रचनापि प्रकृष्टासीत् यत्र च साधारणभवनमधिकृत्य राजभवनं वाधिकृत्य भवनोपयोगिनां नानावर्गीयाणां शयनासनमञ्जूषाप्रभृतीनां भवनसज्जानां वर्णनमस्ति।

प्रतिमा-स्थापत्यम्

अथ प्रतिमा-स्थापत्यमपि किमपि प्रतिपादनीयम्। प्रतिमास्थापत्यें प्रतिमा-कला देशस्यास्य विशदा, वरिष्ठा गरिष्ठा, सर्वश्रेष्ठा च कला वर्तते। प्रतिमा-पूजैव स्थापत्यस्य जननी। अज्ञानां भावनाय प्रतिमाः परिकल्पताः, इयमुक्तिर्नैव समीचीना। वेदवादरतां षङ्दर्शनीसमारोहे विचरतां दार्शनिकानां प्रज्ञावतां वेदान्तिनामपि कृते देव-पूजा तथैवासीदुपजीव्या यथा तथाकथितानामज्ञानाम्। परमपरिव्राजकैः अद्वैतब्रह्म-दर्शनसंस्थापकै भगवत्पादैः शंकराचार्यैः देशस्यास्य चतुर्ष्वपि कोणेषु प्रासादाः संस्थापिताः ऐतेन पूर्वाकूतो मदीयः स्थिरतां प्रयाति। यतोहि नाना उपासना-सम्प्रदायाः विकसिताः तथैव नाना प्रतिमावर्गा अपि समुद्भाविताः वभूवुः। अतएव ब्राह्म-प्रतिमा-लक्षणमर्थात् त्रिमूर्ति-पंचमूर्ति-प्रभृतीनां प्रतिमा-शास्त्रेषु स्थापत्येषु च समुद्घाटिताः इतस्ततश्च दृष्टिपथे पथिकायन्ते। अयन्तावत्

प्रथमो वर्गः। द्वितीयोवर्गः वैष्णव-प्रतिमा-लक्षणम् वैष्णवप्रतिमा-लक्षणे दशावताराः,चतुर्विंशतिमूर्तयः आयुधपुरुषाः वासुदेव-प्रभृति-असाधारणाः प्रतिमाः महता समारम्भेण आगमेषु पुराणेषु शिल्पग्रन्थेषु वर्णिताः स्थापत्येऽपि विलसन्तितराम्। तृतीयो वर्गः शैवप्रतिमा-लक्षणम् यत्र लिङ्गप्रतिमाः स्वरूप-प्रतिमाः द्वेधा वर्ग्यीयन्ते। चलाचलप्रभेदेन द्रव्यभेदेन फलप्रदर्शनपुरस्सरं क्षणिक-लिंग-अचल-लिंगभेदेषु मानुषादिविविधा भेदा उपश्लोक्यन्ते। रूपप्रतिमाप्रकल्पने शिल्परत्नेऽष्टादशभेदाः वर्णिताः तथाहिः—

सुखासनं तु प्रथमं स्कन्दोमासहितं ततः।
तृतीयं चन्द्रमूर्धानं चतुर्थं वृषवाहनम्॥
पंचमं नृत्तमूर्तिस्तु गंगाधरमतः परम्।
सप्तमं त्रिपुरारिः स्यात् तथा कल्याणसुन्दरम्॥
अर्धनारीश्वरं पश्चाद् दशमं गजहा तथा।
एकादशं पाशुपतं कंकालं द्वादशं स्मृतम्॥
अर्धनारायणं पश्चाद् भिक्षाटनमतः परम्।
ततः कालारिमूर्तिश्च लिंगमष्टादशं स्मृतम्।
एवं लिंगोद्भवः पूर्वैः प्रोक्तं शैवपरायणैः।

भवन्तो विपश्चितः विदाङ्कुर्वन्तु यन्मया निजे—**Vastusastra Vol. II Hindu Canons of Iconography & Painting.**—ग्रन्थे तत्र यः एकः नवीनः पन्थाः प्रतिमा-वर्गीकरणे उद्भावितः नवनवोन्मेषाः संस्थापिताः ते तत्रैव परिशीलनीयाः। तथाहि साधारणाः असाधारणाः अनुग्रहमूर्तयः विष्णवनुग्रहप्रभृतयः, नृत्तमूर्तयः अष्टशत-विधाः याः भरतनाट्यशास्त्रमनुवर्त्य स्थापत्यानुकूलं प्रकल्पिताः, दक्षिणामूर्तयः ज्ञान-योग-व्याख्यान-वीणाधरादयः, उग्रमूतर्यः संहारादयः अन्याश्च सर्वाः साकल्येन प्रतिपादिताः।

चतुर्थः वर्गः गाणपत्यप्रतिमालक्षणम् यत्र गणपति—गणेशस्य सेनापतेः कार्तिकेयस्य नानारूपाः प्रतिपादिताः स्थापत्येऽपि च संकाशन्ते। पञ्चमः वर्गः देवीप्रतिमालक्षणम् यत्र शाक्तानां कृते बहु विजृम्भणं वर्तते। महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वतीतित्रिविधानां महादेवीनां नानारूपाः

उद्भाव्यन्ते सर्वत्रैव नि र्दिश्यन्ते च विशेषतः पाषाणेषु ताम्रेषु रजतेषु स्वर्णेषु अपि। षष्ठो वर्गः सौरप्रतिमा-लक्षणम् यत्र द्वादशादित्याः सूर्यादयः दिक्पालाः लोकपालाश्च उपवर्ण्यन्ते। सप्तमः वर्गः यत्र यक्ष-विद्याधर-भक्त-मुनि-वसु-मरूद्गणपितृगणादीनां प्रतिमा-लक्षणं प्रस्तूयते। अन्तिमश्च वर्गः ब्राह्मणेतरवर्गमुपजीव्यमानः सन्तिष्ठते यत्र जैनप्रतिमालक्षणं बौद्धप्रतिमा-लक्षणं च साकल्येन संकीर्त्यते निदर्शनेषु च चकासते।

अत्र प्रतिमालक्षणमिदमल्पीयसा संकीर्तनेनैतद्विवेचनं नैव पारं प्रयातुं कामयते यतोहि प्रतिमा-निर्माण-कौशलं प्रति कोऽपि संकेतः अपेक्ष्यते। इदं तु प्रतिमा-विज्ञानं वर्तते। तथाहि:—

१. प्रतिमा-निर्माणोपक्रमविधि :
२. प्रतिमाप्रकाराणि—बिम्बभेदाः
३. द्रव्यभेदेन बिम्बभेदाः—प्रतिमा-द्रव्याणि तत्फलभेदाश्च
४. प्रतिमा-मान-लक्षणम्
५. प्रतिमानिर्माणे मानाधाराणां पञ्च पुरुष-स्त्री-लक्षणम्
६. तालमानं तालनियमाश्च
७. मानभेदपूर्वकं प्रतिमा-विधानम् (प्रलम्बलक्षणमूर्ध्वासना-र्चादियश्च)
८. प्रतिमा-विधाने मधूच्छिष्ट-विधानम्
९. प्रतिमा-विधाने दोषाः तत्फलं च
१०. प्रतिमारूप-संयोगः
   (अ) आसनानि
   (ब) वाहनानि —हंसगरुडवृषभाः
   (स) आयुधाः—षट्त्रिंशदायुधाः
   (द) आभूषणानि
   (१) मौलि-लक्षणम्
   (२) भूषण-लक्षणम्
   (३) षोडशाभरणानां लक्षणम्
   (४) किरीटादिलक्षणम् (आभूषणानि वस्त्राणि च)
   (य) प्रतिमा-मुद्राः

(१) असंयुत-संयुत-नृत्य-हस्त-प्रभेदैः ६४ हस्त-मुद्राः
(२) वैष्णवादि-नव-स्थानक-मुद्राः
(३) ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षणम्

११. प्रतिमा-निष्पत्तिः (नयनोन्मीलनम्)
१२. प्रतिमायां रसोन्मेषः
१३. प्रतिमा-प्रतिष्ठापनम्

इदं पूर्वसंकतिते ग्रन्थे साकल्येन वर्णितं वर्तते ।

चित्र-स्थापत्यम्

अथ किमपि चित्रस्थापत्यं प्रति निगदनीयं भवति यतोहि स्थापत्ये मुख्यानि तावत् त्रीणि अंगानि—वास्तु, शिल्पं, चित्रञ्चेति । चित्रं विना स्थापत्यं न मनोज्ञं भवति । प्रतिमा-स्थापत्यं चित्रमेव । चित्र-शास्त्रं प्रतिमा-शास्त्रम् अर्ध- नारीश्वरमिव दीप्यमानं विभाव्यते । शिल्परत्ने लिखितमेव :—

एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैः विचित्रितम् ॥ शिल्प०

मूलस्य परिशिष्टे चित्र-लक्षणे चित्र-विषयानुक्रमणी महतानन्द-सन्दोहेन विलोक्यमानास्ति

अन्याः कलाः—

यथा—'षडङ्गो वेदः षड् दर्शनानि तथैव षट् कलाः' मुखपृष्ठे समुल्लेख्य सर्वासां कलानां यशोगानं कृतमेव वर्तते तथाहिः—

१. संगीतम् २. नाट्यं नृत्यञ्च ३. काव्यम् ४. वास्तु ५. शिल्पं ६. चित्रञ्च सर्वाः एताः कलाः तत्र आंग्लभषा-निबन्धेऽस्मिन् प्रबन्धे परिशिष्ट-भागे पठन्तु पाठकाः ।

प्रकृतमनुसरामः

वास्तु-शिल्प-ग्रन्थेषु प्रकृष्टतमस्यास्य समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रस्य अध्ययनपुरस्सरं यन्नवीनं संस्करणं कृतं तस्य यः अनुवादः कृतः तस्य च कोषस्य (पदावल्याः) निर्माणं कृतं तत्सर्वं त्रिषु भागेषु सम्पन्नतां नीतम् ।

समरांगणीय-भवन-निवेशः पूर्वमेव प्रकाशितः तस्याध्ययनेन परिशीलनेन च अवश्यमेव अस्माकं पूर्वजानां महर्षीणां वास्तुशास्त्रोपदेशकानाम् इदं पारिभाषिकं विज्ञानं, वरेण्या विभूतिः, अनुकूला च पद्धतिः–इदं सर्वं कियत् प्रकृष्टमासीत् तत् सर्वमधीत्य आधुनिकाः स्थपतयः कलाकोविदाः गद्गद्-स्वरेण प्रसन्नाः स्वस्थाश्च भविष्यन्तीति मे कामना। द्वितीयस्य भागस्य यद् नवीनं संस्करणं कृतं तदधिकृत्य किञ्चित् वक्तुमिच्छामि। अस्य महाग्रन्थस्य योजनायां भवन-निवेशः प्रथमः भागः, प्रासाद-निवेशः द्वितीयः भागः, राज-निवेशेन साकं ग्रन्थस्यास्य तृतीये भागे यन्त्र-चित्र-प्रतिमा-भागः प्रस्तावितः। पुनश्च एकः नवीनः उन्मेषः प्रादुर्बभूव। प्रासाद-स्थापत्यं भारतीय-स्थापत्यस्य मौलिमालायानं मूर्धन्यं चरमं सोपानम्। अतः अस्य अध्ययनस्य चरमः विभागः प्रासाद-निवेशे विभावितः। अतएव अयम् समरांगणीयः द्वितीय भागः राजनिवेशेन साकं यन्त्र-विधानं, चित्र-विधानं (आलेख्य-कर्म), प्रतिमादि-कौशलम् (तक्षण-कौशलम्), चित्र-प्रतिमादि-सामान्य विधानं सर्वमिदं द्वितीयेऽस्मिन् भागे परिमार्जितम् संस्कृतं कृत्वा सर्वं वास्तु शिल्प-चित्र-जातमत्र खण्डे निवेशितम्।

विद्वांसः पाठकाः भारतीय-कला-कोविदाः सर्वे जानन्त्येव यद् अस्माकम् देशे राज्य-संरक्षणमेव साहित्य-कला-संगीतादीनां विकासाय प्रमुखो हेतुः। विक्रमादित्यादि– भूपालानां भोजादि-नृप-पुगंवानाम् वदान्यतेव कलानां विकासाय प्रोल्लासाय एकमात्रं कारणमासीत्।

इतिहास - पटवः जानन्त्येव यत् प्राचीने भारते उत्तर–मध्य-कालीने भारते राज्य-दरवारे शिल्पाणि दैनंदिनम् अभ्यसन्ते, परिवर्धन्ते विलसन्ति तरां च; अतएव चित्रादि-शिल्पाणां राजनिवेशेन साकं संगति-र्ध्रुवं चकास्ते।

अस्मिन् खण्डे समरांगण-सूत्रधारस्य विशेषतः वास्तु-शिल्प–चित्र-दिशा त्रय एव विषया :—

(अ) राजनिवेशः

(ब) चित्र-कला

(स) चित्र-प्रतिमा-सामान्यांगानि।

राज-निवेशेमधिकृत्य मया केवलं निम्नाः समरांगणीया अध्यायाः विषय-वैशिष्ट्य-पुरस्सरं विभाविताः—

टि० यथापूर्वं मया उपोद्घातितं तदधिकृत्यास्मिन्नेव खण्डे चित्रस्थापत्यास्यापि निवेशः समीचीन एव। सर्वमेतत् वैज्ञानिकं पाद्धतिकं मुहुः मुहुः विलसतुतराम्। चित्रपदम् आलेख्यमात्रस्यैव न बोधकम्। पाठकाः विद्वांसः कला-कोविदाः परिशीलयन्तु मदीयम् अध्ययन-खण्डं यत्र चित्र-पदस्य व्युत्पत्तिः विधा च या दत्तमाना वर्तते, तत्र चित्रं नाम व्यक्ता प्रतिमा, चित्रार्धं नाम अव्यक्ता प्रतिमा, चित्राभास एव आलेख्य-कर्म। अतएव

अनयैव दृष्ट्या चित्रेण साकं समरांगणीयः प्रतिमा-खण्डोऽपि अत्रैव न्यसितः तदधिकृत्य विभावयन्तु श्रीमन्तः इमाम् नवीनाम् संस्करण-परिपाटीं ग्रन्थस्यास्य ।

पञ्चमः पटलः

चित्रलक्षणम्

षष्ठः पटलः

आलेख्यस्य तक्षणस्य च द्वयोरपि सामान्यांङ्गानि

विषयानुक्रमणी

भर्तृगृहपरिसरे तन्निवेशने स्थाननियमाः, अश्वशालाविधानम्, शालायामश्वानां स्थानकल्पना, यवसस्थानकल्पना, खादनकोष्ठकल्पना, पादबन्धनकीलककल्पना, शालानिर्माणाङ्गबलिहोमादिकरणकथनम्, प्रत्यर्तु शालासंस्करणविशेषाः, बहूनां तुरगाणामवस्थापननियमाः, अश्वरक्षाद्यर्थानामुपकरणानां संग्रहः, प्राङ्मुखायां शालायां तुरगबन्धनस्थानम्, अश्वानां प्राच्याभिमुख्येन बन्धनस्य सर्वसमृद्धिहेतुत्वस्थापनम्, स्नानानाधिवासनादिकरणे दिङ्नियमः, दक्षिणाभिमुखायामुत्तराभिमुखायां च शालायामश्वबन्धनस्थानादिकम्, सन्नाह्यादीनामश्वानां दक्षिणपश्चिमाग्नेयीनैर्ऋत्यामिमुख्येन बन्धनस्य निषेधः, वायव्यैशान्याभिमुख्येन बन्धनस्य निषेधः, ब्राह्मयां दिश्यनुवशस्थाने च तद्बन्धननिषेधः, रुग्णानामितरेषां च बन्धने नियमाः, भेषजतदुपकरणारिष्टव्याधिताश्वमन्दिराणां स्थानानि, चिकित्सोपकरणानि च उक्तानां चतुर्णां मन्दिराणां सामान्यविधिः

४७ **नृपायतन-निवेश-लक्षणम्** ३३-३४

उत्तमादिभेदेन त्रिधा भिन्नस्य नृपायतनस्य मानं विन्यासश्च, नृपानुजीविनृपपत्नीगृहाणां देवधिष्ण्यानां च दिग्भागादिकम्, मन्त्रिसेनानीप्रतीहारपुरोधःप्रासादानां दिग्भागादिकम्, राजमातृस्वसृमातुलकुमारप्रासादानां दिग्भागादिकम्, द्विजमुख्यसामन्तकुञ्जरारोहभटपौरजनगृहाणां दिग्भागादिकम्, सर्वेषां गृहाणां सामान्यविधिः, इतरेषां गृहाणां भूषणादिभिः राजगृहैः साम्यमाधिक्यं च परिहरेदिति वचनम्, अवशिष्टस्य भूभागस्य विनियोगः

तृतीयः पटलः

वर्धकिकौशलम्

४८ **शयनासन-लक्षणम्** ३७-४०

शयनासनकर्मारम्भसमयः, शयनासननिर्माणार्थं विहिता वृक्षाः, हेमादिनद्धानां शयनासनानां श्रेष्ठत्वकथनम्, शयनासनाद्यर्थकवृक्षादाने तत्कर्मारम्भे च लक्षणीयानि निमित्तानि, नृपादीनां शय्यायाः प्रमाणम्, शय्याङ्गानां विधानम्, एकद्रव्यजायाः शय्यायाः श्रेष्ठत्वं, मिश्रद्रव्यजायाः द्विदार्वादिश्च तस्या निन्द्यत्वं च, शय्यादारुसन्धानविधिः, मध्यव्रणाद्युपलक्षितस्य शयनासनस्य दुष्टत्वम्, सुश्लिष्टत्वादिगुणयुक्तत्वेन तेषां निर्मितेरावश्यकता, निष्कुटादीनां षण्णां

छिद्राणां लक्षणं फलं च, शयनासनद्रव्यसामान्यविधिः, आसनक्लृप्तौ शय्योक्तदारूणामतिदेशः आसनाङ्गानां विधानम्, तेषां द्रव्योपाधिकृतोत्तमादिता, आसनालंकाराः पादुकासंग्रहादीनां मानम्

चतुर्थः पटलः

यन्त्र-विज्ञानम्

४९ **यन्त्र-विधान-लक्षणम्** ४३-५८

इष्टदेवतावन्दनमध्यायोपक्रमप्रतिज्ञा च, यन्त्रशब्दनिर्वचनम्, यन्त्रबीजानि, तत्र पक्षान्तरप्रदर्शनं, तत्खण्डनं, स्वमतस्थापनं च, बीजशक्तिस्वभावसूत्रणम्, तज्ज्ञानस्य सर्वार्थसाधकता, पार्थिवादीनां पदार्थानां बीजानि, तत्तत्पदार्थेषु बीजभूतानां कार्याणि, बीजबीजिभावविकल्पानां नानात्वम्, क्रियानिष्पादनाधिष्ठानम्, यन्त्रगुणाः, तेषूत्कृष्टा गुणाः, यन्त्रसाध्याः: क्रियादयस्तद्विवरणं च, प्रकृतग्रन्थोक्तादिशा युक्त्या सम्यङ्निष्पादितैर्यन्त्रैः साध्यानां विचित्राणां दिङ्मात्रप्रदर्शनपरो निर्देशः, यन्त्रप्रकाराः तत्र विलासयन्त्रेषु तत्र प्रथमभूमिकात उपरिभूमिकासु पञ्चसु कल्पितासु प्रतिप्रहरमेकैकभूमिकां प्रति यन्त्रेण शय्यायाः प्रसर्पणम्, पुत्रिकया नाडीप्रबोधनम्, तोये वह्निदर्शनादीन्यत्यद्भुतानि यन्त्रकार्याणि, सूर्यादिग्रहगतिप्रदर्शनपरं गोलभ्रमणम्, दारवस्य पुरुषस्यैकनाडिकयैकयोजनगमनम्, तालगत्यनुसारेण नृत्यन्त्या पुत्रिकया दीपे क्षीण-क्षीणतैलप्रक्षेपः, यन्त्रहस्तिनः प्रदीयमानभूरिवारिपानम्, यन्त्रशुकानां तालगत्या गाननर्तनादीनि, पुत्रिकाणां गजानां तुरगादीनां च तालगत्या वलनवर्तननर्तनादीनि, उपकारकयन्त्रेषु वापीकूपादितः क्षेत्रेषु यन्त्रेण जलानयनापनयनवैचित्र्यम्, कृत्रिमाणां गजादिरूपाणां यथेच्छं निर्गमनधावनयुद्धकरणादिकाश्चेष्टाः, स्वबुद्धिपरिकल्पितानामुक्तानामेषामन्येषां च यन्त्राणां घटनारीतिप्रदर्शनं प्रति ग्रन्थकर्तुरप्रवृतौ कारणम्, पुरातनोक्तदिशा वक्ष्यमाणानां यन्त्राणां सुग्रहाय बीजभूतानां पुनः स्मारणम्, एतादृशविचित्रनानायन्त्रनिर्माणप्रावीण्यसामग्री, स्वनोद्गारियन्त्रद्वयघटना, पटहमुरजादिस्वनोद्गारियन्त्राणां तत्वम्, अम्बरचारिविमानघटना, दुष्टगजोच्चाटनाय रसयन्त्रेण सिंहनादवि[illegible], दासादिपरिजनवर्गैर्विना तत्कृत्यानां सर्वेषां

पञ्चमः पटलः

चित्रलक्षणम्

राज-निवेशन साकं

शयनासनादि-यन्त्र-चित्र-खण्डः

प्रथमः पटलः

प्रारम्भिका

वेदी-लक्षणम्

वेद्यश्चतस्रो विज्ञेया याः पुरा ब्रह्मणोदिताः ।
वयं ताः संप्रवक्ष्यामो नामसंस्थानमानतः ॥१॥
प्रथमा चतुरश्रा स्यात् सुभद्रा च द्वितीयका ।
तृतीया श्रीधरी नाम चतुर्थी पद्मिनी स्मृता ॥२॥
यज्ञकाले तथोद्वाहे देवतास्थापनेषु च ।
नीराजनेषु सर्वेषु वह्निहोमे च नित्यशः ॥३॥
नृपाभिषेचने चैव शक्रध्वजनिवेशने ।
नृपयोग्या भवन्त्येता वर्णानामनुपूर्वशः ॥४॥
चतुरश्रा तु या वेदी नवहस्ता समन्ततः ।
अष्टहस्ता प्रमाणेन सर्वभद्रा प्रकीर्तिता ॥५॥
श्रीधरी सप्त विज्ञेया हस्तान् मानेन वेदिका ।
षड्ढस्ता चैव शास्त्रज्ञैर्नलिनीह विधीयते ॥६॥
चतुरश्रा तु कर्तव्या चतुरश्रा समन्ततः ।
भद्रैस्तु सर्वतोभद्रा भूषणीया चतुर्दिशम् ॥७॥
श्रीधरी चापि विज्ञेया कोणविंशतिसंयुता ।
नलिनीति च विज्ञेया पद्मसंस्थानधारिणी ॥८॥
कर्तव्याः स्वस्वविस्तारादुच्छ्रयेण त्रिभागिकाः ।
कुर्यान्मन्त्रवतीभिस्ता इष्टकाभिस्तु चा (य ? यि) ताः ॥९॥
चतुरश्रा यज्ञकाले विवाहे श्रीधरी स्मृता ।
देवतास्थापने वेदीं सर्वभद्रां निवेशयेत् ॥१०॥
नीराजने साग्निकार्ये तथा राजाभिषेचने ।
वेदी पद्मावती या च तथा शक्रध्वजोच्छ्रये ॥११॥
चतुर्मुखा तु कर्तव्या सोपानैश्च चतुर्दिशम् ।
प्रतीहारसमायुक्ता चार्धचन्द्रोपशोभिता ॥१२॥
चतुःस्तम्भसमायुक्ता चतुष्कुम्भविराजिता ।

काञ्चनै राजतैस्ताम्रैर्मृन्मयैः कलशैस्तथा ॥१३॥
कोणेकोणे तु विन्यस्तैर्वल्गुवानरभूषितैः ।
स्तम्भप्रमाणं वेदीनां कार्यं छाद्यवशेन च ॥१४॥
एकेन द्वित्रिभिर्वापिच्छाद्यैः सामलसारिकैः ।
स्तम्भमूलानि चाभ्यज्य गुडेन मधुसर्पिणा ॥१५॥
सरसान्नेन वाभ्यज्य तान् विन्यस्येद् यथातथम् ।
देवताः पूजयित्वा तु ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत् ॥१६॥
चतुर्विधमितीरितं यदिह वेदिकालक्षणं
समग्रमपि वर्तते मनसि यस्य तच्छिल्पिनः ।
स याति भुवि पूज्यतामवनिभोक्तुराप्नोति च
श्रियं स्थपतिसंसदि स्फुरति चास्य शुभ्रं यशः ॥१७॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारापरनाम्नि
वास्तुशास्त्रे—वेदीलक्षणं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ।

पीठ-मान-लक्षणम्

देवानां मनुजानां च पीठमानमथोच्यते ।
पीठं कनीयो भागं च सार्धभागं तु मध्यमम् ॥१॥
द्विभागमुत्तमं तत् स्यादेषा पीठसमुच्छ्रितिः ।
महेश्वरस्य विष्णोश्च ब्रह्मणश्चोत्तमं भवेत् ॥२॥
इतरेषां च देवानां कर्तव्यं तत्र धीमता ।
ईश्वरस्य यथाकामं पीठं कार्यं विचक्षणैः ॥३॥
यस्मिन् स्थाने विधातव्यो ब्रह्मा विष्णुस्तथैव च ।
ईश्वरः सर्वतः कार्यो न दोषस्तत्र विद्यते ॥४॥
इतरेषां तु देवानां पीठं भागं समुच्छ्रितम् ।
यस्य येन विभागेन वास्तुमानं विधीयते ॥५॥
तस्य तेनैव भागेन पीठोच्छ्रायो विधीयते ।
मनुजानां च पीठानि वेश्मनां देवपीठकैः ॥६॥
तुल्यानि कुर्यादुपरि कृता वृद्धिकराःसुराः ।
पुरमध्ये तु कर्तव्यं ब्रह्मणो गृहमुत्तमम् ॥७॥
चतुर्मुखं च तत् कार्यं यथा पश्यति तत्पुरम् ।
अधिकं सर्ववेश्मभ्यस्तथा राजगृहादपि ॥८॥
राजवेश्माधिकमपि शस्यतेऽन्यसुरालयात् ।
पञ्चमो लोकपालनां राजा श्रेष्ठतमो यतः ॥९॥
एवमेतानि देवानां पीठान्युक्तान्यशेषतः ।
चातुर्वर्ण्यस्य पीठानि ब्रूमो विप्राद्यनुक्रमात् ॥१०॥
षट्त्रिंशदङ्गुलोत्सेधं पीठं विप्रस्य शस्यते ।
इतरेषां तु वर्णानां ह्रस्वं स्याच्चतुरङ्गुलम् ॥११॥
चातुर्वर्ण्यस्य पीठानि भुङ्क्ते विप्रो गृहाणि च ।
त्रयाणां क्षत्त्रियो वैश्यो द्वयोःशूद्रः क्रमात् स्वकम् ॥१२॥
एवं विभागं पीठानां स्थपतिः परिकल्पयेत् ।

हितं कारयितुर्वाञ्छन् नृपतेश्च समृद्धये ॥१३॥
प्रमाणे स्थापिता देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति हि ॥१४॥

प्रमाणं पीठानामिदमभिहितं ब्रह्ममुरजि-
त्पुरारीणामत्रापरदिविषदां यच्च नियतम् ।
ततो विप्रादीनामपि निगदितं यत् तदखिलं
यथौचित्यायोज्यं श्रियमभिलषद्भिस्थपतिभिः ॥१५॥

त महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तु
शास्त्रे पीठमानं नामैक चत्वारिंशोऽध्यायः ।

द्वितीयः पटलः

राज-निवेशः

राज-निवेश-लक्षणम्

कृते पुरनिवेशेऽथ चतुष्षष्टिपदाश्रये ।
नियुक्तपरिखासालगोपुराट्टालकेऽपि च ॥१॥
विभक्तरथ्ये परितः प्रविभाजितचत्वरे ।
क्रमादन्तर्वहिः क्लृप्तदेवतायतनस्थितौ ॥२॥
प्रागुदक्प्रवणे देशे प्राग्द्वाराभ्युन्नतेऽथवा ।
यशः श्रीविजयाधायि मैत्रं पदमधिष्ठितम् ॥३॥
यथावर्णक्रमायातं चतुरश्रं समं शुभम् ।
पुरमध्यादपरतोदिक्स्थं कुर्यान्नृपालयम् ॥४॥
दुर्गेषु भूवशात् कार्यं यद्वा दिक्ष्वपरास्वपि ।
विवस्वद्भूधरार्यम्णां कार्यमन्यतमे पदे ॥५॥
त्रिचत्वारिंशता युक्ते ज्येष्ठं स्याद् द्वे धनुः शते ।
मध्यं शतं तु द्वाषष्टिः शतं साष्टकमन्तिमम् ॥६॥
ज्येष्ठे पुरे विधातव्यं ज्येष्ठ राजनिवेशनम् ।
मध्यमे मध्यमं कार्यं कनिष्ठं च कनीयसि ॥७॥
प्राकारपरिखागुप्तं चारूकान्ति समन्ततः ।
तमङ्गभ्रमनिर्यूहसुदृढाट्टालकान्वितम् ॥८॥
एकाशीत्या पदैर्भक्तं विधेयं नृपमन्दिरम् ।
राजमार्गं समाश्रित्य वास्तुद्वारमुदङ्मुखम् ॥९॥
युक्त्यानयैव कर्तव्यमन्यदिक्संश्रयेऽपि च ।
भल्लाटपदवर्त्यस्य गोपुरद्वारमिष्यते ॥१०॥
तत्पुरद्वारविस्तारोच्छ्रायसम्मितमिष्टदम् ।
महेन्द्रद्वारमिच्छन्ति निविष्टस्य महीधरे ॥११॥
वैवस्वते पुष्पदन्तमर्यम्णि च गृहक्षतम् ।
अन्येष्वेषामपरतः प्रदक्षिणपदेष्वथ ॥१२॥

अन्यान्यपि स्वासु दिक्षु द्वाराण्येवं प्रकल्पयेत् ।
आभिमुख्ये च सर्वेषां शस्तानि गोपुराणि च ॥१३॥
तदीयनगरद्वाराद् विंशत्यंशोज्झितानि वा ।
पक्षद्वाराणि सुग्रीवे जयन्ते मुख्यनाम्नि च ॥१४॥
वितथेऽथ भ्रमांस्तद्व विदधीत प्रदक्षिणान् ।
वास्तौ विभक्ते पुरवत् क्लृप्तेऽमरपदव्रजैः ॥१५॥
तत्र मैत्रपदस्थाने निवेशायावनीपतेः ।
प्रासादः प्राङ्मुखः कार्यो यथावत् पृथिवीजयः ॥१६॥
श्रीवृक्षं सर्वतोभद्रं मुक्तकोणमथापरम् ।
यमिच्छेन्नृपतिः कुर्यात् प्रासादं शुभलक्षणम् ॥१७॥
शालापरिक्रमोपेतकर्मान्तैरपि चान्वितम् ।
तत्र प्राच्यां भवेद् गेहमादित्यपदसंश्रितम् ॥१८॥
धर्माधिकरणं सत्ये व्यवहारेक्षणाय च ।
भृशे च कोष्ठागारं स्यादम्बरे मृगपक्षिणाम् ॥१९॥
अग्नेः कुकुभमाश्रित्य कार्यं वायोर्महानसम् ।
सभाजनाश्रयं पूष्णि विदध्याद् भोजनास्पदम् ॥२०॥
सावित्रे वाद्यशाला स्यात् सवितृस्थाश्च वन्दिनः ।
चर्माणि वितथे कुर्यात् तद्योग्यान्यायुधानि च ॥२१॥
स्वर्णरूप्यादिकर्मान्तान् दिदधीत गृहक्षते ।
याम्ये दक्षिणतो गुप्ति कोष्ठागारञ्च कल्पयेत् ॥२२॥
प्रेक्षासंगीतकानि स्युर्गन्धर्वे वासवेश्म च ।
कार्या वैवस्वते शाला रथानां दन्तिनां तथा ॥२३॥
पश्चिमोत्तरभागस्थां वापीमपि च कारयेत् ।
वा (यौ?यु) सुग्रीवपदयोर्गन्धर्वस्य च बाह्यतः ॥२४॥
कुर्यादन्तःपुरस्थानं प्राकारवलयावृतम् ।
कुर्यात् तद्गोपुरद्वारमुदगास्यं जयाभिधे ॥२५॥
कार्यः स्थपतिनां च प्रासादश्चपराङ्मुखः ।
क्रीडादोलालयान् भृङ्गे कुमारीभवनं तथा ॥२६॥
नृपान्तःपुरमिच्छन्ति मृगे पित्र्येऽवस्करम् ।
नृपस्त्रीणामुपस्थानगृहमिन्द्रपदे विदुः ॥२७॥

सुग्रीवपदसंसक्तमरिष्टागारमिष्टदम् ।
द्वास्थसुग्रीवपि (त्र्यं? त्र्यां) शपश्चाद्भागे मनोहरा ॥२८॥
विधेयाशोकवनिका स्नानधारागृहाणि च ।
लतामण्डपसंयुक्ताः स्युरत्रैव लतागृहाः ॥२९॥
दारूशैलाश्च वाप्यश्च पुष्पवीथ्यः सुकल्पिताः ।
पुष्पदन्ते भवेद् य (त्त?न्त्र) कर्मान्तः पुष्पवेश्म च ॥३०॥
वरूणस्य पदे कुर्याद् वापीपानगृहाणि च ।
स्यात् कोष्ठागारमसुरे शोषेऽप्यायुधमन्दिरम् ॥३१॥
भाण्डागारं नु रौद्राख्ये विदध्यात् स्थपतिः श्रिये ।
उलूखलशिलायन्त्रभवनं पापयक्ष्मणि ॥३२॥
दारूकर्मान्तमप्याहुः श्रेयसे राजयक्ष्मणि ।
स्यादोषधेरधिष्ठानं रोगे दिशि नभस्वतः ॥३३॥
नागानां शस्यते स्थानं पदे नागस्य सूरिभिः ।
भवन्ति मुख्ये व्यायामनाट्यचित्रगृहाणि च ॥३४॥
गवां स्थानं तथा क्षीरगृहं भल्लाटनामनि ।
उदक्प्रदेशे सौम्यस्य पुरोधःस्थानमिष्यते ॥३५॥
राज्ञोऽभिषेचनं चात्र दानाध्ययनशान्तयः ।
चामरच्छत्रधाम स्यान्मन्त्रवेश्म च भूधरे ॥३६॥
कर्मिणां चात्र कार्याणि स्थितः पश्येन्नराधिपः ।
विधेया मन्दुराश्वानामुत्तरं पार्श्वमाश्रिता ॥३७॥
महीधरपदस्यैव यथावद् दक्षिणामुखी ।
कार्या सर्वत्र चाश्वानां शाला राज्ञो यथागृहम् ॥३८॥
विशतो दक्षिणेन स्याद वामेन च . . . . ।
वेश्मानि राजपुत्राणां विदध्याच्चरकाभिधे ॥३९॥
अत्रैव विद्याधिगमशालाश्चैषां निवेशयेत ।
नृपस्य मातुरदितिस्थाने कुर्यान्निवेशनम् ॥४०॥
पृथगत्रैव शिविकाशय्यासनगृहं विदुः ।
नृपद्विपानां शस्ता स्यादापे सदनकल्पना ॥४१॥
अधिषेचनकं स्थानमिहैव स्याद् विषाणिनाम् ।
आपवत्सपदे हसंक्रौञ्चसारसनादिताः ॥४२॥

स्युः फुल्लाब्जवनाः स्वच्छसलिलाः सलिलाशयाः ।
पितृव्यमातुलादीनां कार्यं दितिपदे गृहम् ।४३।
अन्येषामपि चात्रैव सामन्तानां महीपतेः ।
ऐशान्यामनलस्थाने वोच्छ्रितस्तम्भवेदिकम् ।४४।
कार्यं देवकुलं चारु सुश्लिष्टमणिकुट्टिमम् ।
पर्जन्यस्य पदे होराज्योतिर्विद्गृहमिष्यते ।४५।
जये सेनापतेर्वेश्म विधेयं विजयप्रदम् ।
द्वारं प्राकारमाश्रित्य पदेऽर्यम्णः प्रशस्यते ।४६।
प्राग्दक्षिणाश्रितं शस्त्रकर्मान्तं शस्त्रमत्र च ।
विमुचेद् ब्रह्मणः स्थानामिन्द्रध्वजयुतं नृणाम् ।४७।
तत्राशुभानि वेश्मानि निवेशाश्चासुखावहाः ।
गवाक्षस्तम्भशोभिन्यो विधेयाश्चानुकामतः ।४८।
सभा यथादिक्प्रभवा नृपवेश्माभिगुप्तये ।

सर्वत्र नृपतेः सौधान् नृपसौधस्य सम्मुखा ।४९।
पश्चाद्भागाश्रिता यद्वा शाला कार्या विषाणिनाम् ।५०½।
इत्यास्पदं सुरपदास्पदकल्पमाद्य
मेतद् तथावदनुतिष्ठति यः सदैव ।
सूक्ष्मामिमां भुजबलक्षपितारिपक्षः
सप्ताम्बुराशिरशनां नृपतिः प्रशास्ति ।।५१।।

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारापरनाम्नि
वास्तु-शास्त्रे राज-निवेशो नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

राज - गृह - लक्षणम्

अष्टोत्तरशतं ज्येष्ठं मध्ये स्यान्नवतिं करान् ।
जघन्यं सप्ततिकरान् राजवेश्म प्रशस्यते ॥१॥
अतो हीनं न कर्तव्यं महतीं श्रियमिच्छता ।
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे दशधा प्रविभाजिते ॥२॥
भागार्धं शस्यते भित्तिरादिकोणसमाश्रिता ।
चतुष्को भागिको मध्ये चतुःस्तम्भसमन्वितः ॥३॥
अलिन्दस्तद्बहिः कार्यः स्तम्भैर्द्वादशभिर्वृतः ।
विंशत्या स्याद् धरैर्युक्तो द्वितीयोऽलिन्दकस्ततः ॥४॥
स्यादष्टाविंशतिस्तम्भस्तृतीयश्चाप्यलिन्दकः ।
षट्त्रिंशता चतुर्थश्च स्तम्भानां परिकीर्तितः ॥५॥
एवं स्तम्भशतं मध्ये प्रोक्त पृथ्वीजये बुधैः ।
द्वाराणि चास्य चत्वारि पञ्चशाखानि जायते (?) ॥६॥
चत्वारो निर्गमास्तस्य प्रोक्ताः सर्वे विभागिकाः ।
दिक्षु सर्वासु कर्तव्यमेवं भद्रनिवेशनम् ॥७॥
अर्धेन मध्यभित्तेस्तु भित्तिर्भद्र (स्त्र?त्र) ये भवेत् ।
भद्रे भद्रे धराणां स्याद् विंशतिश्चाष्टभिर्युता ॥८॥
मुखभद्रं भवेद् युक्तं वेदिकामत्तवारणैः ।
क्षेत्रमार्गोदयाद्या भूराभूमिफलकान्तरम् ॥९॥
आदिभूम्युदयार्धेन पीठं चास्य प्रकल्पयेत् ।
भागान् नवोदयं कृत्वा भागेननैकेन कुम्भिका ॥१०॥
कर्तव्याष्टांशयुक्तेन स्तम्भो भागचतुष्टये ।
पादयुक्तं विधातव्यो भागेनोत्कलकं तथा ॥११॥
हीरग्रहणकं कार्यं भागं पादविवर्जि(तः?तम्) ।
सपादभागिकः पट्टः स्तम्भकेन समन्वितः ॥१२॥
पट्टार्धेन जयन्त्यः स्युर्भूमौ भूमावयं क्रमः ।

क्लृप्तभागोदयादर्धं भूमिष्वन्यासु हीयते ॥१३॥
पञ्चभागप्रमाणं तु सच्छाद्यं नवमं तलम् ।
वेदिकाया अधश्छाद्यं सार्धभागत्रयोन्मितम् ॥१४॥
कण्ठेन युक्तं कर्तव्यं वेदिका पिहिता यथा ।
तस्याः क(ण्ठे?ण्ठो) विधातव्यस्तन्मध्ये सार्धभागिकः ॥१५॥
वेदिकाविस्तरः कार्यो भागांस्तत्रार्धसप्तमान् ।
वेदिकोपरि घण्टा च सार्धभागाश्चतुर्दश ॥१६॥
भागद्वयं सपादं तु कण्ठः पट्टं तु पञ्चभिः ।
चतुर्भिश्च द्वितीयं च तृतीयं च त्रिभिस्ततः ॥१७॥
सद्मशीर्षश्च दातव्यो यथाशोभं यथारुचि ।
क्षेत्रभागसमः कार्यः कलशश्चूलिकावधेः ॥१८॥
उदयार्धेन भूमेः स्युरन्तराणि तलानि च ।
यथाशोभं तु कर्तवयं पीठं तस्य सुशोभितम् ॥१९॥
सार्धभागद्वयं चास्य कार्या खुरघरण्डिका ।
जङ्घा भागचतुष्कं च ततश्छाद्यं प्रयोजयेत् ॥२०॥
भागद्वयं च पादोनं छाद्यपिण्डः प्रकीर्तितः ।
निर्गमोऽस्य चतुर्भागो हंसाख्यस्तस्य चोपरि ॥२१॥
पादोनभाग कर्तव्य ततश्छाद्यं द्वितीयकम् ।
जङ्घा भूमिचतुष्केण प्रासादस्य प्रकल्पयेत् ॥२२॥
चतुर्थभूमिकामूर्ध्न ततो मुण्डा (न्) निवेश्येत् ।
क्षणक्षणप्रवेशेन कार्याः शेषास्तु भूमिकाः ॥२३॥
वेदिका च यथोक्ता स्यात् सघण्टा कलशान्विता ।
रेखाशुद्ध्या च कर्तव्या मुण्डाः सर्वे यथायथम् ॥२४॥
अर्धोदयं त्रिधा कृत्वा तृतीयं दशधा भजेत् ।
वामनश्चातपत्रश्च कुबेरो भ्रमरावली ॥२५॥
हंसपृष्ठो महाभोगी नारदः शम्बुको जयः ।
अनन्तो दशमस्तेषां विधायकवशादमी ॥२६॥
विधातव्याः स्थपतिभिर्मुण्डरेखाप्रसिद्धये ।
तसङ्गवेदिकाजालमत्तवारणशोभितम् ॥२७।
वितर्दिनिर्यूहयुतं चन्द्रशालाविभूषितम् ।

प्रासादाश्च महान्तो ये विधेयास्ते समोदयाः ।
अर्धोदयेन लघवो ह्यवा (को?क्को) णादयं क्रमः ॥२९॥
भूम्यष्टकादभ्युदयः क्षेत्रविस्तारसम्मितः ।
यतस्तव वधे प्रोक्तः प्रासादोऽन्यद् विभूषणम्(?) ॥३०॥
वहचो निकरा येषु प्राङ्गणं तेषु दीयते ।
रेखायां प्रथमायां वा द्वितीयायामथापि वा ॥३१॥
तृतीयायां वा रेखायां तत्र संवरणाः स्मृताः ।
अयं भूम्युदयः कार्यः क्षेत्रे दशविभागिके ॥३२॥
न्यूनाधिकविभक्ते तु कार्यः स्यादनुसारतः ।
मुक्तकोणस्य लक्ष्माथ प्रक्रमागतमुच्यते ॥३३॥
चतुरश्रीकते क्षेत्रे भागद्वादशकाङ्किते ।
भागश्चतु (ष्टो?ष्को) मध्येऽस्य चतु(र्द्वा?र्ध) रविभूषितः ॥३४॥
भागेन च ततोऽलिन्दो धरद्वादशकान्वितः ।
तद्वद द्वितीयालिन्दोऽपि विंशत्या धारितो धरैः ॥३५॥
तृतीयश्च धरैरष्टाविंशत्यालिन्दको भवेत् ।
षट्त्रिंशता धरैर्युक्तः कार्योऽलिन्दश्चतुर्थकः ॥३६॥
चतुश्चत्वारिंशता स्याद् धरैर्युक्तश्च पञ्चमः ।
भागार्धं कारयेद् भित्तिं सार्धं भागं विमुच्य तु ॥३७॥
भागत्रयं ततः कुर्यात् प्राग्ग्रीवं दैर्घ्यविस्तृतौ ।
विस्तृतौ निर्गमे चैषां भद्रं भागेन कल्पयेत् ॥३८॥
भागिकं निर्गतं तस्मान्मध्येऽन्यद् भद्रमस्य हि ।
भागनिर्गमविस्तारं दिक्षु सर्वास्वयं विधिः ॥३९॥
चतुःपञ्चाशता स्तम्भैरेकैकं भद्रमन्वितम् ।
मध्ये चास्य चतुश्चत्वारिंशं स्तम्भशतं भवेत् ॥४०॥
षोडशाभ्याधिका च स्याद् भद्रस्तम्भशतद्वयी ।
एवं धराणां सर्वेषां भवेत् षष्ठं शतत्रयम् ॥४१॥
पृथ्वीजयवदत्रापि शेषनिर्माणमिष्यते ।
तृतीयभूमिकामूर्ध्नि निर्गमेष्वखिलेष्वपि ॥४२॥
प्राङ्गणानि विधेयानि विशेषोऽत्र कीर्तितः ।
सर्वतोभद्रसंज्ञेऽथ शत्रुमर्दननाम(पि?नि) ॥४३॥

अयमेव विधिः कार्यो मुण्डरेखाप्रसिद्धये ।
श्रीवत्सस्यापि मध्ये स्यात् स्तम्भाद्यं मुक्तकोणवत् ॥४४॥
सार्धं भागं परित्यज्य भागत्रितयविस्तृतम् ।
कर्णप्राग्ग्रीवमेतस्य भागेन च विनिर्गमम् ॥४५॥
भद्रं तस्यापि कर्तव्यं भागविस्तारनिर्गमम् ।
मुक्तकोणवदस्यापि मध्यभद्रं विधीयते ॥४६॥
अयं विधिः समग्रासु दिक्षु शेषं तु पूर्ववत् ।
प्रतिभद्रं धरास्त्रिंशद् भवन्त्यस्य दृढाः शुभाः ॥४७॥
शतं विंशमिदं (सर्व) धराणामिह कीर्तितम् ।
एवं समस्तस्तम्भानां चतुःषष्टं शतद्वयम् ॥४८॥
सर्वतोभद्रसंज्ञस्य लक्ष्मेदानीं प्रचक्ष्महे ।
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे चतुर्दशविभाजिते ॥४९॥
भागिकः स्याच्चतुष्कोऽस्य चतुःस्तम्भविभूषितः ।
स्तम्भैर्द्वादशभिर्युक्तः प्रथमः स्यादलिन्दकः ॥५०॥
स्तम्भविंशतिसंयुक्तो द्वितीयः स्यादलिन्दकः ।
स्यादष्टाविंशतिस्तम्भस्तृतीयः स्या(ध्य?द) लिन्दकः ॥५१॥
षट्त्रिंशता चतुर्थ स्यादलिन्दो भूषितो धरैः ।
पञ्चमः स्याच्चतुश्चत्वारिंशता भूषितो धरैः ॥५२॥
द्वापञ्चाशद्धरः षष्ठः सर्वेऽप्येतेऽस्य भागिकाः ।
भागार्धं शस्यते भित्तिः सर्वतः सुदृढा घना ॥५३॥
सार्धभागं परित्यज्य भागत्रितयविस्तृतः ।
कर्णप्राग्ग्रीवकश्च स्याद् भागमेकं च निर्गमः ॥५४॥
भद्रमस्यापि कर्तव्यं भागनिर्गमविस्तृतम् ।
मध्ये भद्रं विधातव्यं भागद्वयविनिर्गतम् ॥५५॥
अस्यापि भद्रं मध्ये स्याद् भागत्रितयविस्तृतम् ।
भागिको निर्गमश्चास्य तदन्तर्भागनिर्गतम् ॥५६॥
भागविस्तारसंयुक्तं भद्रमन्यत् प्रकल्पयेत् ।
दिक्षु सर्वास्वयं प्रोक्तो विधिर्भद्रप्रकल्पने ॥५७॥
स्तम्भानामस्य कर्तव्यं मध्ये षण्णवतं शतम् ।
भद्रेष्वेषु च सर्वेषु भवेत् षष्ट्यधिकं शतम् ॥५८॥
समेन प्रविभागेन स्तम्भानामेकसंख्यया ।

इत्थं समस्तस्तम्भानां षट्पञ्चाशं शतत्रयम् ॥५९॥
किन्तु जङ्घा भवेदस्य भूमिका त्रितयोन्मिता ।
शत्रुमर्दनसंज्ञस्य धाम्नो लक्ष्माथ कथ्यते ॥६०॥
पृथ्वीजयसमं मध्यं भित्तिश्चापि तथाविधा ।
सार्धं भागं परित्यज्य भागेनायतविस्तृतम् ॥६१॥
भद्रं विदध्यात् तन्मध्ये भागत्रितयविस्तृतम् ।
भद्रमेवं विधातव्यं भागत्रितयनिर्गतम् ॥६२॥
पार्श्वयोर्भागिकं भद्रमाय (त्यां?त्या) विस्तरेण च ।
भागत्रितयविस्तारं भागेनैकेन निर्गमम् ॥६३॥
मध्यभद्रं ततोऽपि स्याद् भागेनायतविस्तृतम् ।
क्रमोऽयं दिक्षु सर्वासु विधातव्योऽस्य सिद्धये ॥६४॥
ऊर्ध्वं पृथ्वीजयस्येव कार्यमस्यापरं पुनः ।
प्रतिभद्रं चतुश्चत्वारिंशतस्तम्भसमन्वितम् ॥६५॥
मध्ये स्तम्भशतं चास्य विधेयं सदृढं शुभम् ।
षट्सप्ततिस्तम्भशतद्वयमस्य भवेदिति ॥६६॥
पञ्चानामपि चैतेषां हस्ताष्टशतमुत्तमम ।
मानमुत्सेधविस्तारात् कर्तव्यं श्रियमिच्छता ॥६७॥
मध्यमाधमयोर्मानं कीर्तितं पृथ्वीजये ।
राज्ञः क्रीडार्थमन्यच्च कथ्यते गृहपञ्चकम् ॥६८॥
क्षोणीविभूषणं त्वाद्यं पृथिवीतिलकं परम् ।
प्रतापवर्धनं चान्यच्छ्रीनिवासं ततोऽपि च ॥६९॥
लक्ष्मीविलासंज्ञं च पंचमं परिकीर्तितम् ।
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे दशभागैर्विभाजिते ॥७०॥
चतुष्को भागविस्तीर्णो मध्ये कार्यश्चतुर्धरः ।
वहिश्च भागिकोऽलिन्दस्तदन्तेऽशत्रयायताः ॥७१॥
कर्णप्रासादकाः कार्या भागत्रितयविस्तृताः ।
तेषां षड्दारुकं मध्ये भित्तिर्भागार्धसम्मिता ॥७२॥
तद्बहिर्भागनिष्क्रान्तो भद्रे भागं च विस्तृतः ।
प्राग्ग्रीवत्रयसंयुक्तो भागिकालिन्दवेष्टितः ॥७३॥
अर्धभागिकभित्त्या च चतुष्को वेष्टितो भवेत् ।
प्रासादोऽयं मनोहारी भवेदवनिशेखरः ॥७४॥

चतुरश्रीकृते क्षेत्रे भागद्वादशभाजिते ।
चतुष्को भागिको मध्ये बाह्यालिन्दौ च भागिकौ ॥७५॥
नवकोष्ठांश्च कर्णेषु प्रासादान् विनिवेशयेत् ।
षड्दारुकं च कर्तव्यं तेषामन्तरसंश्रयम् ॥७६॥
ततोऽर्धभागिकी भित्तिः कर्तव्या सर्वतो वहिः ।
भद्रे भागायतो भागविनिष्क्रान्तश्चतुर्दिशम् ॥७७॥
चतुष्को भागिकाऽलिन्दवेष्टितश्च विधीयते ।
अस्य भद्रत्रयं कार्यं भागविस्तारनिर्गमम् ॥७८॥
अर्धभागिकभित्त्या च वेष्टितं तद् विधीयते ।
कर्णेकर्णे (स?स्य) विस्तीर्णे द्वे भद्रे भागभिर्गत ॥७९॥
प्रासादमेवं भुवनतिलकं परिचक्षते ।
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे भागद्वादशभाजिते ॥८०॥
चतुष्को भागिको मध्ये चतुःस्तम्भो विधीयते ।
तद्वहिर्भागिकोऽलिन्दो द्वितीयोऽपिच भागिकः ॥८१॥
नवकोष्ठांश्च कर्णेषु प्रासादान् विनिवेशयेत् ।
षड्दारुकं च कर्तव्यं तेषामन्तरसंश्रयम् ॥८२॥
ततोऽर्धभागिकी भित्तिः कर्तव्या सर्वतो वहिः ।
भद्रे भागायतो भद्रविनिष्क्रान्तश्चतुर्धरः ॥८३॥
चतुष्को भागिकालिन्दद्वयेन परिवेष्टितः ।
त्रिभागविस्तृतं भद्रं तद्वहिर्भागनिर्गतम् ॥८४॥
भागिकं प्रतिभद्रं च कुर्यादुभयतः समम् ।
भागार्धं वाह्यतो भित्तिर्भद्रस्य परितो भवेत् ॥८५॥
विधिरेष विधातव्यो दिक्ष्वेवं चतसृष्वपि ।
विलासस्तवको नाम प्रासादोऽयं प्रकीर्तितः ॥८६॥
कर्णप्राग्ग्रीवकौ द्वौ द्वौ शालाप्राग्ग्रीवकौ यदा ।
रयातामस्य तदा कीर्तिपताकः परिकीर्तितः ॥८७॥
अस्यैव पीठे निर्मुक्तशालाभिः परितोऽष्टभिः ।
अन्योऽन्यशालासंवद्ध यदासाव्रेव दीयते ॥८८॥
कर्णप्रासादकोपेतः कोणैः शलोञ्ज्झितैर्युतः ।
प्रासादसुन्दरो ज्ञेयस्तदा भुवनमण्डनः ॥८९॥
एते प्रोक्तास्तलच्छन्दा जङ्घासंवरणादिकम् ।

भूमिमानादिकं यच्च तत् पृथ्वीजयवद् भवेत् ॥९०॥
इदानीं कथ्यते लक्ष्म क्षोणीभूषणवेश्मनः ।
पञ्चपञ्चाशता हस्तैः कल्पिते चतुरश्रके ॥९१॥
बिभक्ते चाष्टभिर्भागैश्चतुष्को भागिकः स्मृतः ।
चतुर्भिरन्वितः स्तम्भैरलिन्दश्चास्य भागिकः ॥९२॥
युक्तो द्वादशभिः स्तम्भैर्विंशत्या च द्वितीयकः ।
स्यादष्टाविंशतिधरस्तृतीयश्चाप्यलिन्दकः ॥९३॥
भित्तेरप्यर्धभागेन सार्धं भागं विमुच्यते ।
भागपञ्चकविस्तीर्णं भद्रं भागेन निर्गतम् ॥९४॥
तन्मध्यभद्रमन्यच्च भागत्रितयविस्तृतम् ।
भागेन निर्गतं कार्यं भद्रमन्यत् ततोऽपि च ॥९५॥
भागेन विस्तृतं कार्यं भागेनापि च निर्गतम् ।
दिक्षु सर्वासु कर्तव्यो विधिरेषोऽस्य सिद्धये ॥९६॥
मध्यस्तम्भैचतुःषष्ट्या संयुक्तं सारदरुजैः ।
प्रतिभद्रं धरैः कार्यमष्टादशभिरन्वितम् ॥९७॥
षट्त्रिंशं शतमेवं स्यात् स्तम्भानामिह सर्वतः ।
चतुर्द्वारमिदं कार्यं यशः श्रीकीर्तिवर्धनम् ॥९८॥
पृथिवीतिलकस्याथ लक्षणं परिकीर्त्यते ।
चत्वारिंशत्करे क्षेत्रे भागैर्भक्तेऽर्धषष्ठके? ॥९९॥
भागिकः स्याच्चतुष्कोऽन्तश्चतुःस्तम्भविभूषितः ।
अलिन्दोऽपि च भागेन स्तम्भैर्द्वादशभिर्युतः ॥१००॥
विंशत्या च द्वितीयोऽपि भित्तिः स्यादस्य पादिका ।
कर्णे प्रासादको भागैस्त्रिभिः स्यान्निर्गतायतः ॥१०१॥
अस्य भद्रद्वयं कार्यं भागनिर्गतविस्तृतम् ।
कर्णप्रासादयोर्मध्ये भागपञ्चकविस्तृतम् ॥१०२॥
भागेन निर्गतं कार्यं भद्रं तस्यापि मध्यतः ।
भागत्रितयविस्तीर्णं भागेनैकेन निर्गतम् ॥१०३॥
भद्रमस्यापि मध्ये यद् भागेनायतनिर्गतम् ।
स्तम्भाः षट्त्रिंशदन्तः स्युर्भद्रे ष्वष्टौ शतद्वयम् ॥१०४॥
अथातः श्रीनिवासस्य लक्षणं सम्प्रचक्ष्महे ।
पृथवीतिलकवन्मध्यमेतस्य परिकीर्त्यते ॥१०५॥

सपादं भागमुत्सृज्य भागत्रितयविस्तृतम् ।
भागेन निर्गतं चास्य भद्रमाद्यं प्रकल्पयेत् ॥१०६॥
तस्यापि मध्यवर्त्यद भागनिर्गतविस्तृतम् ।
अन्वितं दशभिः स्तम्भैः सुदृढ़ैस्तद् विधीयते ॥१०७॥
सर्वास्वपि च दिक्ष्वेवं विधेया भद्रकल्पना ।
अस्य षट्सप्ततिः स्तम्भाः भवन्त्येकत्र सख्यया ॥१०८॥
प्रतापवर्धनस्याथ लक्ष्म साम्प्रतमुच्यते ।
पञ्चविंशतिहस्ताङ्के सार्धभागत्रयाङ्किते ॥१०९॥
मध्ये चतुष्को भागेन चतुर्भिः सम्भृतो धरः ।
अलिन्दो भागिकश्चास्य स्तम्भद्वादशकान्वितः ॥११०॥
पादिका भित्तिरेतस्य भद्रं चास्य प्रकल्पयेत् ।
भागनिर्गमविस्तारं चतुःस्तम्भविभूषितम् ॥१११॥
विधिरेष समग्रासु दिक्षु कार्योऽस्य सिद्धये ।
स्तम्भैर्द्वात्रिंशता युक्तो बहिरन्तरयं भवेत् ॥११२॥
धाराणां चैव सर्वेषां चतुःषष्टिः प्रकल्पना ।
अथ लक्ष्मीविलासस्य सम्यग लक्ष्माधुनोच्यते ॥११३॥
प्रतापवर्धनस्येव मध्वमस्य प्रकल्पयेत् ।
प्रतापवर्धनसमं सर्वतोऽप्येतदीरितम् ॥११४॥
किन्त्वस्य पार्श्वभद्राणि भद्राणामेव कारयेत् ।
कोणेष्वपि च भद्राणि पार्श्वयोरुभयोस्तथा ॥११५॥
भाग (स्य?श्च) निर्गमोऽप्येषां विशेषोऽस्मादयं मतः ।
भद्रमस्य दशस्तम्भैर्मध्यं षोडशभिर्धरैः ॥११६॥
चतुर्द्वारं भवेदेतदिच्छया क्षणमध्यगम् ।
द्वारमन्यद् विधातव्यं स्वपदे स्यात् सुशोभितम् ॥११७॥
भूमिभिः सार्धषष्ठीर्भिर्विधेयः क्षोणिभूषणः ।
अर्धाष्टमीभिश्च भवेत् पृथ्वीतिलकसंज्ञकः ॥११८॥
स्यात् सार्धपञ्चमीभिस्तु श्रीनिवासोऽत्र भूमिभिः ।
लक्ष्मीविलाससंज्ञोऽर्धपञ्चमीभिर्विधीयते ॥११९॥
प्रतापवर्धनाख्योऽर्धचतुर्थीभिर्विधीयते ।
राज्ञां पृथ्वीजयादीनि निवासभवनानि च ॥१२०॥
क्षोणीविभूषणादीनि विलासभवनानि च ।

यान्युक्तानि निवासाय विलासाय च भूभृताम् ॥१२१॥
तेषां पृथ्वीजयादीनां द्वारमानमथोच्यते ।
चतुः पञ्चाशदंशो यो विस्तृतः सकरत्रयः ॥१२२॥
स द्वारस्योदयः प्रोक्तस्तदर्धेनास्य विस्तृतिः ।
स्वोदयस्य त्रिभागेन पिण्डः स्तम्भेषु शस्यते ॥१२३॥
स्यात् सप्तविंशतितमः सपादः सचतुष्करः ।
गृहभागो भवेद् भूमिः प्रथमा राजवेश्मनाम् ॥१२४॥
भूच्छ्राये नवधा भक्ते तदंशकचतुष्टयम् ।
निर्गमश्छाद्यकस्यांशद्वयं पादोनमुच्छ्रयः॥१२४॥
भूच्छ्राये नवधा भक्ते तदंशकचतुष्टयम् ।
निर्गमश्छाद्यकस्यांशद्वयं पादोनमुच्छ्रयः ॥१२५॥
तथान्तरावणी कार्या छाद्यकोच्छ्रायनिर्गता ।
हीरग्रहणपिण्डार्धवाहल्या सा प्रशस्यते ॥१२६॥
तस्याः स्वमेव वाहल्यं पादोनं विस्तृतिः स्मृता ।
अन्तरावणिकातुल्यो मदलाया विनिर्गमः ॥१२७॥
स्वनिर्गमात् तथा चास्याः सपादः स्यात् समुच्छ्रयः ।
भूभ्युच्छ्रयनवांशस्य पादोऽस्याः पिण्डमिष्यते ॥१२८॥
भूनवांशस्त्रिभागोनो मदलायाश्च विस्तृतिः ।
लुमामूलस्य स्तम्भार्धं विस्तारः परिकीर्तितः १२९॥
तत्त्र्यंशादग्रविस्तीर्णा मूले साष्टांशयुग् भवेत् ।
तुम्बिनी लम्बिनी हेला शान्ता कोला मनोरमा ॥१३०॥
आध्माता चैत्यभूः प्रोक्ता लुमाः सप्त मनीषिभिः ।
ऋजुः सा लम्बिनी तासामाध्माता कर्णगा स्मृता ॥१३१॥
अन्तराले क्रमेण स्युः पञ्चान्याः परिकीर्तिताः ।
स्तम्भे निदध्यान्मदलां छाद्यं धर्तुं दृढां शुभाम् ॥१३२॥
स्तम्भाभावे पुनर्न्यस्येत् कुड्यपट्टेऽपि तां सुधीः ।
सप्त पञ्चाथवा तिस्रो मललच्छाद्ये लुमाः स्मृताः ॥१३३।
कोणोष्वेता इमाभ्योऽन्याः कर्तव्याः प्राञ्जलाः समाः ।
छाद्ये कर्णात् क्वचित् कार्या मकराननभूषिताः ॥१३४॥
तेऽपि विद्याधरोपेताः क्वचित् सगजतुण्डिकाः ।
सकुम्भिकस्य स्तम्भस्य प्रविभाज्योदयं त्रिधा ॥१३५॥

तत्र भागद्वयं कुर्याद् भागानर्धचतुर्थकान् ।
तत्र पादोनभागेन राजितासनकं भवेत् ॥१३६॥
ततः सोल्कलका वेदी सांघ्रिभागा विधीयते ।
कूटागारसमांशार्धं कार्योऽत्रासनपट्टकः ॥१३७॥
स स्यादभी (ष्टो?ष्ट) विस्तारो भागोच्चं मत्तवारणम् ।
स्वोदयस्य त्रिभागेन् तिर्यक् कार्योऽस्य निर्गमः ॥१३८॥
रूपकैः करणायाभिः(?) सुपत्रैरपि शोभितम् ।
वेदिकादिकमप्यस्य रूपपत्राचितं शुभम् ॥१३९॥
आयसीभिः शलाकाभिः कीलकैश्च दृढीकृतम् ॥१४०½॥
एतानि पञ्चदशराजनिवेशनानि
पृथ्वीजयप्रभृति यानि निरूपितानि ।
यो लक्षणेन सहितं परिमाणमेषां
जानाति तस्य नृपतिः परितोषमेति ॥१४१½॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तुशास्त्रे राजगृहंनाम त्रिचत्वारिंशोऽध्याय: ।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय:

सभाष्टक-लक्षणम्

नन्दा भद्रा जया पूर्णा सभा स्याद् भाविता तथा ।
दक्षा च प्रवरा तद्वद् विदुरा चाष्टमी मता ॥१॥
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे ततः षोढा विभाजिते ।
मध्ये पादचतुष्कं स्यात् सीमालिन्दस्तु भागिकः ॥२॥
तद्वदाद्योऽलिन्दकस्तद्वद् भवेत् प्रतिसराभिधः ।
प्राग्ग्रीवाख्यस्तृतीयश्च बहिः क्षेत्राच्चतुर्दिशम् ॥३॥
निसृष्टसौर्धयैर्वा (?) स्यादेकस्यां वा यदा दिशि ।
नन्दा भद्रा जया पूर्णा क्रमेण स्युः सभास्तदा ॥४॥
षड्भागभाजिते क्षेत्रे कर्णभित्ति निवेशयेत् ।
सभा स्याद भाविता नाम सप्राग्ग्रीवात्र पञ्चमी ॥५॥
स्तम्भान् षट्त्रिंशदेतासु पञ्चस्वपि निवेशयेत् ।
स्तम्भान् प्राग्ग्रीवसंबद्धान् पृथगेभ्यो विनिर्दिशेत् ॥६॥
दक्षेति षष्ठी परितस्तृतीयालिन्दवेष्टिता ।
प्रवरा सप्तमी द्वारैर्युक्तैषा परिकीर्तिता ॥७॥
प्राग्ग्रीवद्वारसंयुक्ता विदुरेत्यष्टमी सभा ।
सभानामिदमष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ॥८॥
इत्यष्टानां लक्ष्म सम्यक् सभानामेतत् प्रोक्तं दिग्भवालिन्दभेदात् ।
तद्वद् द्वारालिन्दसंयोगतश्च ज्ञातेऽत्र स्यात् भूभृतां स्थानयोगः ॥९॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजनेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तुशास्त्रे सभाष्टकं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।

गज-शाला-लक्षणम्

लक्षणं गजशालामिदानीमभिदध्महे ।
चतुरश्रीकृते क्षेत्रे भागैर्भक्ते ततोऽष्टभिः ॥१॥
मध्ये द्विभागविस्तारं स्थानं कुर्वीत हस्तिनः ।
कल्प्याः प्रासादवद् भागः ज्येष्ठमध्याधमाः क्रमात् ॥२॥
तद्बहिर्भागिकोऽलिन्दो बहिस्तस्यापि चापरः ।
भागेनैकेन भित्तिः स्याद् द्वितीयालिन्दकाद् बहिः ॥३॥
तस्या द्वारप्रदेशे तु कर्तव्यौ कूर्परावुभौ ।
कर्णप्रसादिका कार्या द्वितीयालिन्दसंश्रिता ॥४॥
द्वे द्वे वातायने कुर्याद् भित्तौ दिक्षु तिसृष्वपि ।
प्राग्ग्रीवोऽग्रे भवेच्छाला सुभद्रेयमुदाहृता ॥५॥
अस्या एव यदा पक्षप्राग्ग्रीवौ भवतो मुखे ।
नन्दिनी नामतः शाला तदा स्याद् गजवृद्धये ॥६॥
अस्या एव यदा स्यातां प्राग्ग्रीवौ पार्श्वयोर्द्वयोः ।
तदा सुभोगदा नाम तृतीया परिकीर्तिता ॥७॥
अस्या एव यदा पृष्ठे प्राग्रीवः क्रियतेऽपरः ।
भद्रिका नाम शाला स्यात् तदा द्विरदपुष्टिदा ॥८॥
पञ्चमी चतुरश्रा स्याद् वर्षणी नाम पूजिता ।
प्राग्ग्रीवलिन्दनिर्यूहहीना षष्ठी तथापरा ॥९॥
शाला प्रमारिका धान्यधनजीवितहारिणी ।
तदेतां वर्जयेत् कुर्यादन्याः सर्वार्थसिद्धये ॥१०॥
प्रमारिकेति प्रथितेह शाला सा प्राणसस्यद्रविणच्छिदे स्यात् ।
कुर्यादतस्तां न यथोदितास्तु कार्या परा जीवितवित्तवृद्धये ॥११॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधरा परनाम्नि वास्तुशास्त्रे गजशाला नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।

अश्व-शाला-लक्षणम्

अथ लक्ष्माश्वशालायाः प्रोच्यते विस्तरादिह ।
स्ववेश्मवास्तोः कर्तव्यं पदे गन्धर्वसंज्ञके ॥१॥
अथवा पुष्पदन्ताख्ये स्थानं वासाय वाजिनाम् ।
अरत्निशतमात्रं यज्ज्येष्ठं तत् परिकीर्तितम् ॥२॥
अशीत्यरत्निकं मध्यं षष्ठ्यरत्न्यधमं भवेत् ।
स्थलप्रदेशे विपुले गुप्ते रम्ये शुचौ तथा ॥३॥
समे च चतुरश्रेच स्थि (ते?रे) मंगल्यमेव च ।
स्थानं हयानां कर्तव्यं प्रदेशे सुपरिक्रमे ॥४॥
निम्नगुल्मद्रुमस्थाणुचैत्यायतनवेश्मभिः ।
वल्मीकशर्कराभिश्च वर्जिते तत् समाचरेत् ॥५॥
निःसंगे शल्यहीने च प्रागुदक्प्रवणे तथा ।
प्रदेशे तद् विधाव्यमालोक्य सुसमाहितैः ॥६॥
ब्राह्मणानुमते शस्ते दिने स्थपतिभिःसह ।
भूमेर्विभागलोक्य सुभगानायेद् द्रुमान् ॥७॥
न जाता ये श्मशानेषु देवतायनेषु वा ।
अन्येष्वपि निषिद्धेषु जातान् वृक्षान् विवर्जयेत् ॥८॥
वृक्षान् प्रशस्तानानीय समीपे भर्तृवेश्मनः ।
ततो भूमिं परीक्षेत प्रशस्तामथ निन्दिताम् ॥९॥
चितायतनवल्मीकग्रामधान्योखलेषु च ।
विहारेषु च कर्तव्यमश्वानां न निवेशनम् ॥१०॥
भवन्ति स्वामिनःपीडा ग्रामधान्योखलेषु च ।
श्मशाने वेश्मकरणान्नराणां मृत्युमादिशेत् ॥११॥
स्थानं विहारवल्मीकविहितं स्यादनर्थकम् ।
दैवोपघातजननं स्त्रीणां च क्षेमकारकम् ॥१२॥

विहितं पादपैश्चैत्यैर्गृहं स्याद् भूतभीतिदम् ॥१३॥
भवेद् रोगकरं भर्तुर्विहितं कण्टकिद्रुमैः ।
दीर्णायामुन्नतायां च कृतं भूमौ क्षयावहम् ॥१४॥
नतायां क्षुद्भयकरं कृतं भवति मन्दिरम् ।
तस्मात् कार्यं प्रशस्तयां भूमौ तद् वाजिवृद्धये ॥१५॥
मंगल्यरमणीये च चतुरश्रे मनोनुगे ।
शुभे च विहितं सद्म भवेत् कल्याणकारकम् ॥१६॥
निर्गच्छतो यथा वामे पार्श्वे भर्तुस्तुरंगमाः ।
भवन्ति कुर्यात् स्थपतिस्तथा वाजिनिवेशनम् ॥१७॥
अन्तःपुरप्रदेशस्य कार्यं दक्षिणतश्च तत् ।
प्रवेशे दक्षिणं तेषां हेषितं जायते यथा ॥१८॥
तथा भर्तुर्हितार्थाय कर्तव्यं सद्म वाजिनाम् ।
प्रागुदग् वा मुखं तस्य विधातव्यं सतोरणम् ॥१९॥
प्राग्ग्रीवकेण संयुक्तं चतुःशालमसंकटम् ।
दशरत्निसमुच्छ्रायमष्टरत्निप्रविस्तृतम् ॥२०॥
नागदन्तकसंशोभि पुरः कुड्यार्धसंयुतम् ।
पृष्ठे समग्रकुडयं वा तत्र स्थानानि कल्पयेत् ॥२१॥
तानि तु प्राङ्मुखानि स्युस्तथैवोदङ्मुखानि च ।
आयामे किष्कुमात्राणि त्रिकिष्कूणि च विस्तरात् ॥२२॥
प्रांशून्नतोर्ध्वभागानि चतुरश्राणि कारयेत् ।
अग्रोच्चां सुखसञ्चारां तेषु भूमिं प्रकल्पयेत् ॥२३॥
स्थानं सूत्रस्य मध्ये तु हस्तमात्रं समन्ततः ।
आस्तीर्णं च समश्लक्ष्णनीरन्ध्रैः फलकैर्दृढैः ॥२४॥
धातक्यर्जुनपुन्नागककुभादिविनिर्मितैः ।
अष्टाङ्गुलसमुच्छ्रायैरध्यर्धरत्निविस्तृतैः ॥ २५ ॥
अच्छिद्रैः संहतैर्बद्धैरयसा पार्श्वयोर्द्वयोः ।
अजन्तुसङ्कुलैः काष्ठै रूचकाभिः(?) भिषङ्मतैः ॥२६॥
यवसस्य भवेत्स्थानं निर्यूहैः स्वास्तृतं शुभैः ।
किष्कुत्रयोच्छ्रितं तत् स्यादेकान्ते सुसमाहितम् ॥२७॥
हस्तद्वयप्रमाणं च कुर्यात् खादनकोष्ठकम् ।
सूपलिप्तमदुर्गन्धि विस्तारोच्छ्रययोः समम् ॥२८॥

स्थाने स्थाने त्रयःकीलाः सुदृढ़ाः कपिशीर्षकाः ।
पंचांगीनिग्रहार्थं तौ पुरतः कल्पयेदुभौ ॥२६॥
पश्चाद् बन्धार्थमेकं च सुगुप्तं परिकल्पयेत् ।
चतुर्हस्तायतं त्यक्त्वा शालाकोणचतुष्टयम् ॥३०॥
स्थानेष्वेतेषु तुरगान् सर्वेष्वपि निवेशयेत् ।
तत्र कुर्याद् बलिं होमं स्वस्तिवाचनकं जपम् ॥३१॥
ग्रीष्मे कार्यं सुसंमृष्टं सिक्तं तत्र महीतलम् ।
वर्षास्वनम्बुपंकञ्च शिशिरे संवृतं शुभम् ॥३२॥
तिष्ठेयुस्तत्र तुरगा नातिसङ्कीर्णशङ्किनः ।
अस्पृशन्तौ मिथःकार्याःसर्वाबाधाविवर्जिताः ॥३३॥
स्थानं दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वह्नेः प्रकल्पयेत् ।
निदध्यादुदकुम्भं च किञ्चिदैन्द्रीसमाश्रितम् ॥३४॥
ब्राह्मयां दिशि प्रकर्तव्यं स्थानकं यवसस्य च ।
वायव्यां तु प्रकर्तव्यं स्थानमौदूखलं दिशि ॥३५॥
निःश्रेणयः कुशाः कूपाः कार्याश्च फलकावृताः ।
कुद्दालोद्दालगुडकाः शुक्तयोगाः खुरस्तथा ॥३६॥
कचग्रहण्यः शृङ्गञ्च तथा परशवोऽपि च ।
नाद्याः(?) प्रदीपाश्च भवन्त्यश्वागारोपयोगिनः ॥३७॥
सङ्ग्रहःसुखसंचारवस्तूनां नैर्ऋते भवेत् ।
अग्न्युपद्रवरक्षार्थं बन्धच्छेदोपयोगिनः ॥३८॥
पदार्थान् सन्निधौ कुर्याज्जलदीपादिकान् बुधः ।
भाण्डानि कुर्याच्च पृथग् ज (न्द्रा?लो) पनयनेच्छया ॥३९॥
हस्तवासीं शिलां दीपं दर्वीं फालमुपानहौ ।
पिटकानि वित्रित्राणि वस्तीन् नानाविधानपि ॥४०॥
एवंविधानि चान्यानि संनिदध्यात् प्रयत्नतः ।
पुरःस्तम्भाश्रितं भाण्डं सन्नाहादेर्विधीयते ॥४१॥
प्राङ्मुखे तुरगं गेहे वारूण्यां स्थापयेद् दिशि ।
पूर्वामुखे पदे वापि मित्रस्य वरूणस्य च ॥४२॥
भवन्ति तेन वहवः पुष्टिंच प्राप्तुवन्ति ते ।
सा हि दिक् पूजनीया सा स्तोतव्या सा प्रकीर्तिता ॥४३॥
होमशान्तिकदानेषु धर्म्या याश्च पराःक्रियाः ।

तासु प्रशस्यते पूर्वा शक्रेणाधिष्ठिता स्वयम् ॥४४॥
तस्यामुदेति दिनकृदनुलोमं ततः पुनः ।
अश्वानां पृष्ठतो याति स प्रतीचीमनुक्रमात् ॥४५॥
स्नानाधिवासने पूजा माङ्गल्यानि पराणि च ।
प्राङ्मुखानां तुरङ्गाणां कर्तव्यानि शुभार्थिभिः ॥४६॥
एवं कृते भूमिबलमित्राणां यशसोऽपि च ।
वृद्धिर्भवति भूपस्य तस्मात् प्राची प्रशस्यते ॥४७॥
भर्तृ वृद्धिप्रदं स्थानमग्रग्रासस्य तद् भवेत् ।
दक्षिणाभिमुखायां तु शालायां वाञ्छितार्थदम् ॥४८॥
स्थानं भवति वाहानां पदे क्लृप्तं विभावसोः ।
वह्निनाध्यासिता सा दिग् आत्मा बह्निश्च वाजिनाम् ॥४९॥
अजरो बहुभोक्ता च तत्र बद्धो भवेद्धयः ।
उदङ्मुखेऽपि भवने प्राप्नुवन्ति शुभं हयाः ॥५०॥
तथास्थितानामश्वानां दक्षिणेन दिवाकरः ।
उदेत्यनन्तरं याति तान् विधाय प्रदक्षिणम् ॥५१॥
प्रयाति वामतो (श्वं च?श्वानां) स्थाप्यास्तेनोत्तरामुखाः ।
चन्द्रार्कौ प्रति (हर्ष?हेष) न्ते तथा वध्नीत वाजिनः ॥५२।
नृपतिश्च जयं सिद्धिं पुत्रानायुश्च विन्दति ।
अरोगाश्च भवन्त्यश्वा वर्धयन्ति च सन्ततिम् ॥५३॥
दक्षिणाभिमुखान् कुर्यान्न सन्नाह्यान् न चाग्रगान् ।
पितृकार्याद्यतोऽन्यत्र दक्षिणा वर्जितैव दिक् ॥५४॥
अस्यामेव दिशि प्रेता यतः सर्वे प्रतिष्ठिताः ।
उदेति वामतो याति चास्तं दक्षिणतो रविः ॥५५॥
सोमश्च पृष्ठे भवति तेनाश्वा दैवपीडिताः ।
ग्रहैर्विकारैर्विविधैःपीड्यन्तेऽरातिविह्वलाः ॥५६॥
भयेन व्याधिभिश्चार्ता ग्रासं नेच्छन्ति खादितुम् ।
पराजयमतुष्टिं च स्वामिनोऽनर्थसंगतिम् ॥५७॥
कुर्वन्त्यतो न बध्नीयात् कथञ्चिद्दक्षिणामुखान् ।
पश्चिमाभिमुखानां च बद्धानां वाजिनां सदा ॥५८॥
उदेति पृष्ठतो भानुः पुरतोऽस्तं प्रयाति च ।
न भवेद् विजयस्तेन भर्तुस्ततपृष्ठवर्तिनः ॥६०॥

तस्ते ध्यायन्ति वेपन्ते जले त्रासं प्रयान्ति च ।
यवसं नाभिनन्दन्ति क्षमां मुञ्चन्ति सर्वथा ॥६१॥
दिशोऽभिमुखमाग्नेय्या बध्यन्ते यदि वाजिनः ।
व्यथन्ते रक्तपित्तोत्थैस्तदा रोगैरनेकधा ॥६२।
जायन्ते स्वामिनो बन्धवधहृच्छोषदायिनः ।
वाजिनां च भवेत् तत्र वह्निदाहकृतं भयम् ॥६३॥
भर्तुः परजयो विघ्नः स्याच्च देहस्य संशयः ।
नैर्ऋत्याः ककुभो वाहा बध्यन्ते संम्मुखं यदि ॥६४॥
तदा न तेऽभिनन्दन्ति खादनं पानभोजने ।
यथा यथा क्षितिंपादैर्दारयन्ति पुनः पुनः ॥६५॥
त्रसन्ते वीक्ष्य बहुशो मनुष्यान् पक्षिणः पशून् ।
वेपन्ते च गात्राणि नैर्ऋतीं चाभितः स्थिताः ॥६६॥
तथा तथैषां कुपिता नाशं कुर्वन्ति राक्षसाः ।
बध्यन्ते यदि वाऽज्ञानाद् वायव्याभिमुखं हयाः ॥६७॥
तदा ते वातिकै रोगैः तीढ्यन्ते प्रतिवासरम् ।
चलः कायो भवेद् भर्तुः क्लेशश्चाश्वोपजीविनाम् ॥६८॥
नराणां च भवेन्मृत्युर्दुर्भिक्षप्रभवं भयम् ॥
ऐशान्यभिमुखं बद्धाः प्रणश्यन्ति तुरङ्गमाः ।
सूर्योदयस्याभिमुखं बद्धानां चेदमादिशेत् ।
निबध्यन्ते यदा वाहा ब्राह्मीं दिशमुपाश्रिताः ॥७०॥
बध्यन्ते ते ग्रहैर्दिव्यैर्व्याधिभिश्च विचिन्तनाः ।
कव्यहव्यक्रियास्तत्र भर्तुर्नु विजयावहाः ॥७१॥
द्विजानामुपतापाय जायन्ते तत्र वाजिनः ।
अनुवंशं च शालायां स्थानमश्वस्य नेष्यते ॥७२॥
स्वामिनस्तदजीर्णाय स्यान्नाशाय च वाजिनाम् ।
स्थाने प्रशस्ते तुरगान् सर्वथा वासयेदतः ॥७३॥
नच धार्याः क्षणमपि रोगिणः कल्यसन्निधौ ।
कल्यानामपि रोगाः स्युर्यतो रोगिसमाश्रयात् ॥७४॥
हयागारस्य पूर्वेण कार्यं भेषजमन्दिरम् ।
तस्यैव वामतः सर्वसंभारान् परिकल्पयेत् ॥७५॥
वाजिनां भेषजार्थाय भाण्डानि च विनिक्षिपेत् ।
अगदान्नोषधोः स्नेहान् [illegible] [illegible]वणानि च ॥७६॥

भेषजागारसविधे कुर्याच्चारिष्टमन्दिरम् ।
भवनं व्याधितानां च कार्यं वासाय वाजिनाम् ॥७७॥
सुगुप्तं तच्च कर्तव्यं पूर्वनिर्दिष्टवेश्मवत् ।
संबद्धं च विधातव्यमेतद् वेश्मचतुष्टयम् ॥७८॥
सुधाबन्धदृढकुड्यं सप्राग्ग्रीवोच्चतोरणम् ।
चत्वार्यपि विशालानि सुगमानि च कारयेत् ॥७९॥
वेश्मस्वेवंविधेष्वश्वान् स्थापितान् परिपालयेत् ॥८०½॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि
वास्तुशास्त्रे अश्वशाला नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

आयतन-निवेश-लक्षणम्

एवं नृपस्य प्रासादे कृते क्लृप्तेऽथवा भुवि ।
तस्यानुजीविनः कुर्युः प्रासादान् परिधौ यदि ॥१॥
तदा दिग्भागविन्यासस्थानमानान्यनुक्रमात् ।
तेषामिहाभिधीयन्ते सर्वेषां वृद्धिहेतवे ॥२॥
दशाष्टौ षट् च धनुषां शतानि क्ष्माभृतां क्रमात् ।
मानमायतनस्योक्तं त्रेधा श्रेष्ठादिभेदतः ॥३॥
क्षेत्रमायतनस्यैवं चतुरश्रं समन्ततः ।
तत्र भक्ताः प्रकुर्वीरंस्त्रिधा स्वे स्वामिवत्सलाः ॥४॥
ये चास्य सम्मताः केचित् कुले जाता हितैषिणः ।
द्वादशांशेन हीनानि क्रमात् तान्यनुजन्मनाम् ॥५॥
तस्यैव वामतः कुर्यादुत्सेधाद् द्विगुणान्तरे ।
कुर्याद् दशांशहीनानि नैर्ऋत्यां दिशि भूपतेः ॥६॥
प्रासादान्नृपपत्नीनां सर्वासामपि शास्त्रवित् ।
अष्टभागेन हीनानि प्रतीच्यां दिशि कारयेत् ॥७॥
देवधिष्ण्यानि तन्त्रैः स्यात् स्वसुराणां विधानतः(?) ।
सौम्याया मारुतीं यावन्नवांशापचिताः क्रमात् ॥८॥
प्रासादा मन्त्रिसेनानीप्रतीहारपुरोधसाम् ।
एतेषां पूर्वभागस्थं राजमातुर्निवेशनम् ॥९॥
हीनमेकादशांशेन तत् कार्यं राजकारिता (?) ।
ऐशीमाश्रित्य देवानां तुल्यमैन्द्रपदावधि ॥१०॥
स्वसॄणां मातुलानां च कुमाराणां तथा क्रमात् ।
आग्नेय्यां द्विजमुख्यानां विधातव्यं निवेशनम् ॥११॥
कार्यः पुरोधःप्रासादः तुल्यतत्पुनरेव वा(?) ।
याम्यायां कुर्युरष्टांशहीनान्युर्वीशमन्दिरात् ॥१२॥
सामन्तकुञ्जरारोहभटपौरजनाः क्रमात् ।

एतान्यायतनान्येषां यथाभागं प्रकल्पयेत् ॥१३॥
मर्मवेधप्रदेशस्थान् द्वारवेधगतानपि ।
स्वस्थानान्तरितांश्चैतान् न कुर्याद्धितकाम्यया ॥१४॥
अलिन्दैर्गर्भकोष्ठैश्च सीमास्तम्भगवाक्षकैः ।
द्वारद्रव्यतलोच्छ्रायैः प्राग्रीवैः सिंहकर्णकैः ॥१५॥
न कुर्याद् भूषणैस्तुल्यं समं वास्थंदरूपतः(?) ।
समरूपं भवद्धर्म्यं नियुक्तं च न नन्दति ॥१६॥
राजपीडा भवेत् तस्मिन्नाधिवये च कुलक्षयः ।
प्रासादाद् भूमिपालस्य निवेशं परिधौ स्थितम् ॥१७॥
द्रव्येण कलरेणापि नोत्कृष्टं कारयेद् बुधः ।
संस्थानान्मानतश्चापि विस्तारेणोच्छ्रयेण वा ॥१८॥
पूर्वोक्तेभ्यो विभागेभ्यः किञ्चिद्धीनतमः शुभः ।
अन्योन्यं द्विगुणच्छाद्यैरेकैकस्यान्तरं शुभम् ॥१९॥
सुभोग्यं तं च कुर्वीत बहुभिर्भवनान्तरैः ।
कोष्ठिकाभोजनागारैर्भाण्डोपस्करधामभिः ॥२०॥
शिलालूषात(?)शालाभिः शेषं तु परिपूरयेत् ।
प्रशस्तान् कारयेत् सर्वाञ् शुभरूपान् मनोरमान् ॥२१॥
प्रायशः स्वालयांश्चान्यान् सर्वस्यान्यगृहाणि च ।
नरेन्द्रायतनस्यैव निवेशात् परिकल्पयेत् ॥२२॥
अन्यथात्वे महादोषा वैपरीत्ये कुलक्षयः ॥२३½॥
इति कथितदिगादिभेदयोगैः सुरभवनानि भवन्ति यस्य राज्ञः ।
अविरतमुदितोदितप्रतापः स्वभुजजितां स चिरं प्रशास्ति पृथ्वीम् ॥२४॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तुशास्त्रे आयतननिवेशो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

तृतीय: पटल:

शयनासनादि विधानम

१. शय्या
२. ग्रासनम्
३. पादुकादि ।

शयनासन-लक्षणम्

इदानीमभिधास्यामः शयनासनलक्षणम् ।
शुभाशुभपरिज्ञानं येन सम्यक् प्रजायते ।।१।।
मैत्रे मुहूर्ते पुष्यस्थे शीतरश्मौ शुभेऽहनि ।
सम्पूज्य देवताः सम्यक् कर्मारम्भं समाचरेत् ।।२।।
वृक्षास्तत्र प्रशस्यन्ते चन्दनस्तिनिशोऽर्जुनः ।
तिन्दुकः सालशाकौ च शिरीषासनधन्वनः ।।३।।
हरिद्रुर्देवदारुश्च स्यन्दनोकौ सपद्मकौ ।
श्रीपर्णी दधिपर्णश्च शिंशपान्येऽपि ये शुभाः ।।४।।
गृहकर्मणि ये नेष्टा वृक्षास्तेऽत्रापि निन्दिताः ।
हेम्ना रूप्येण चानद्धा गजदन्तेन वा शुभा ।।५।।
आरकूटेन वा नद्धा शय्या कार्या विचक्षणैः ।
पूर्वच्छिन्नं यदा दारु शयनासनहेतवे ।।६।।
आदीयते तदारम्भे निमित्तान्युपलक्षयेत् ।
दध्यक्षतान् पूर्णकुम्भं रत्नानि कुसुमानि वा ।।७।।
सुगन्धद्रव्यवस्त्राद्यान् मत्स्याश्वयुगलं तथा ।
मत्तवारणमन्यांश्च शुभान् वीक्ष्यादिशेच्छुभम् ।।८।।
कर्माङ्गुलं समुद्दिष्टं वितुषैरष्टभिर्यवैः ।
अष्टोत्तरशतं तेषां शय्या ज्येष्ठा महीभुजाम् ।
मध्या महीभुजां शय्या शतं स्याच्चतुरुत्तरम् ।
शतं कनीयसी प्रोक्ता नृपाणां विजयावहा ।।१०।।
नवतिर्नृपपुत्रस्य मन्त्रिणः सा षडुज्झिता ।
द्वादशोना बलपतेस्त्रिषट्कोना पुरोधसः ।।११।।
आयामार्धेन विस्तारं सर्वं शय्यासु कल्पयेत् ।
यद्वा निजाष्टभागेन षड्भागेनाथवाधिकम् ।।१२।।

विप्राणां शस्यते शय्या दैर्घ्येणाङ्गुलसप्ततिः ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यामङ्गुलाभ्यां हीना स्याच्छेषवर्णिनाम् ॥१३॥
बाहल्यमुत्पलस्य स्यादुत्तमस्याङ्गुलत्रयम्।
अङ्गुलद्वितयं सार्धं मध्यस्य द्वे कनीयसः ॥१४॥
बाहल्यमीशादण्डस्य कुर्यादुत्पलसम्मितम् ।
सार्धं सपादं सत्र्यंशं तस्य विस्तारमुत्पलात् ॥१५॥
विस्तारार्धेन शय्यायाः स कुष्यस्य विधीयते ।
तत्पादस्योद(यो? दौ) मध्यहीनौ द्विचतुरुज्झितौ ॥१६॥
अर्धेन मध्यविस्तारान्मध्ये बाहल्यमिष्यते ।
त्रिभागहीनमिच्छन्ति पादोनमपि केचन ॥१७॥
स्थौल्येन पादोऽधः शीर्षादुत्पलेन समो भवेत् ।
मध्ये सपादः सार्धश्च तले वृद्धिः क्रमेण सा ॥१८॥
षड्भागोऽस्याधिको यद्वा मध्ये त्र्यंशाधिकस्तले ।
तत्कुष्यमुत्पलत्र्यंशो मूले तस्याधमग्रतः ॥१९॥
उत्सेधतुल्यो विस्तारः कार्यो वा द्व्यङ्गुलाधिकः ।
सपत्रकलिकापत्रपुटग्रासविभूषितः ॥२०॥
कुर्यात् प्रदक्षिणाग्राणि शय्याङ्गानि समन्ततः ।
ऊर्ध्वाग्रा निखिलाः पादाः स्वामिनो वृद्धिहेतवे ॥२१॥
श्रेष्ठैकद्रव्यजा शय्या मिश्रद्रव्या न शस्यते ।
एकदारु प्रशंसन्ति द्विदारुर्भयमावहेत् ॥२२॥
त्रिदारुघटितायां तु स्वामिनो नियतो वधः ।
शय्यायां जायते यस्मात् तस्मात् तां परिवर्जयेत् ॥२३॥
मूलमग्रेण संयुक्तमपसव्यं विगर्हितम् ।
मूलं मूलेन वा विद्धमेकाग्रे द्वे च दारुणी ॥२४॥
मध्ये व्रणो मृत्युकरस्त्रिभागे व्याधिकारकः ।
क्लेशावहश्चतुर्भागे शिरस्थो द्रव्यहानिकृत ॥२५॥
निर्दोषगात्रे पर्यङ्के पापस्वप्नो न दृश्यते ।
ग्रन्थिकोटरवत् कुर्यात् तस्मान्न शयनासनम् ॥२६॥
आसनं शयनीयं च ग्रन्थिकोटरवर्जितम् ।
बहुपुत्रकरं प्राहुर्धर्मकामार्थसाधनम् ॥२७॥

आरोहणे प्रचलति शयने कम्पते तथा ।
विदेशयानकलहौ ते क्रमेण प्रयच्छतः ॥२८॥
सुश्लिष्टां तामतः कुर्यान्निर्दोषां वर्णशालिनीम् ।
दृढां स्थिरां च स्थपतिः पत्युः कामविवृद्धये ॥२९॥
निष्कुटं कोलदृक् क्रोडनयनं वत्सनाभकम् ।
कालकं बन्धकं चेति छिद्रसंक्षेप ईरितः ॥३०॥
घटवत् सुषिरं मध्ये सङ्कटास्यं च निष्कुटम् ।
कोलाक्षं नीडमिच्छन्ति माषनिष्पावमात्रकम् ॥३१॥
अध्यर्धपर्वदीर्घं च विवर्णं विषमं तथा ।
तदिह क्रोडनयनं छिद्रमाहुर्महर्षयः ॥३२॥
भिन्नं पर्वमितं वामावर्तं स्याद् वत्सनाभकम् ।
कालकं कृष्णकान्ति स्याद् विनिर्भिन्नं तु बन्धकम् ॥३३॥
छिद्रं दारुसवर्णं यत् तन्नो शुभकरं तथा ।
निष्कुटेऽर्थक्षयः कोललोचने कुलविद्रवः ॥३४॥
शस्त्राद् भीः क्रोडनयने वत्सनामे रुजो भयम् ।
कालके बन्धकाख्ये च कीटविद्धे च नो शुभम् ॥३५॥
सर्वत्र प्रचुरग्रन्थि दारु सर्वमनिष्टदम् ।

शय्यार्थे कथितैः क्लृप्तं दारुभिः शस्तमासनम् ॥३६॥
उपवेशसुखं मानं प्रशस्ताय प्रकल्पितम् ।
पुष्करः सूदहस्तश्च वृत्तोऽङ्गुलचतुष्टयात् ॥३७॥
आरभ्य विस्तरात् कार्यस्तावद् यावन्नवाङ्गुलम् ।
पुष्करव्यासतो दण्डस्तस्य कार्यश्चतुर्गुणः ॥३८॥
फलकः पुष्करार्धेन तत्तुल्यश्चास्य मूलकः ।
स्थूलः स्याच्चतुरंशेन दण्डपुष्करविस्तरात् ॥३९॥
खातं च पुष्करस्यान्तस्तावद् गाम्भीर्यमिष्यते ।
प्रशस्तसारदारूत्थः कर्तव्योऽस्य प्रयोजनम्(?) ॥४०॥
परिवेषणमन्यच्च पच्यमानानघट्टकम्(?) ।
कार्यः कङ्कतकः श्लक्ष्णः प्रशस्तमृदुदारुजः ॥४१॥
आरभ्य दैर्घ्येणाष्टभ्यः स्याद् यावद् द्वादशाङ्गुलम् ।
सार्धाङ्गुलं चतुर्भागं विस्तारेण च दैर्घ्यतः ॥४२॥

मध्ये च तस्य बाहल्यं विस्ताराष्टांशतो भवेत् ।
एकतः स्थूलविस्तारा भवेयुस्तस्य दन्तकाः ॥४३॥
अन्यतस्तु घनाः सूक्ष्मास्तीक्ष्णाः कार्यास्तथाग्रतः ।
मध्ये त्रिभागमुत्सृज्य दन्तका भागयोर्द्वयोः ॥४४॥
त्रिभिर्भागे हृते तेषां न शेषस्तान् विवर्जयेत् (?) ।
गजदन्तमयः श्रेष्ठस्तथा शाखोटवृक्षजः ॥४५॥
मध्यमो दारुभिः शेषैर्जघन्योऽसारदारुजः ।
रूपकैः स्वस्तिकाद्यैर्वा स मध्ये स्यादलङ्कृतः ॥४६॥
यूकाद्यपनये केशविवेके चोपयुज्यते ।
अङ्गुलेनाधिके पादात् कार्ये दैर्घ्येण पादुके ॥४७॥
कृतायां पञ्चधा तस्यां कुर्याद् भागत्रयं पुरः ।
पश्चाद् भागद्वयं तत्र सङ्ग्रहोऽस्या विधीयते ॥४८॥
अङ्गुलत्रयमुत्सेधो विस्तारोऽङ्घ्र्यनुसारतः ।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्मध्यभागे मत्स्याद्यलङ्कृतौ ॥४९॥
कर्तव्यौ कीलकौ काष्ठदन्तशृङ्गादिसम्भवौ ।
गजेन्द्रदन्तः श्रीखण्डश्रीपर्ण्यौ मेषशृङ्गिका ॥५०॥
शस्ताः पादुकयोः शाकक्षीरिणीचिरबिल्विकाः ॥५१½॥
इदमिह शयनानामासनानां च लक्ष्म
प्रकटितमनु दर्व्याः कङ्कतस्यापि सम्यक् ।
शुभमथ विपरीतं पादुकानां च विद्वान्
सकलमिति विदित्वा पूज्यतामेति लोके ॥५२॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तुशास्त्रे शयनासनलक्षणं नाम अष्टचत्वरिंशोऽध्यायः ।

चतुर्थः पटलः

यन्त्र-विधानम्

१. यन्त्र-बीजाः
२. यन्त्र-प्रकाराः
३. यन्त्र-गुणाः
४. यन्त्र-विधाः
(अ) आमोद
(ब) सेवा-रक्षा
(स) वारि
(य) धारा
(र) दोला
(ल) विमानम्

एकोनपञ्चाशोऽध्याय;

यन्त्र-विधानम्

आस्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रश (त्स?स्त)-
मेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिलान्यपि सम्प्रकल्प्य
यः सन्ततं भ्रमयति स्मरजित् स वोऽव्यात् ।१॥
यन्त्राध्यायमथ ब्रूमो यथावत् प्रक्रमागम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदेकमिह कारणम् ॥२॥
यदृच्छया प्रवृत्तानि भूतानि स्वेन वर्त्मना ।
नियम्यास्मिन् नयति यत् तद् यन्त्रमिति कीर्तितम् ॥३॥
स्वरसेन प्रवृत्तानि भूतानि स्वमनीषया ।
कृतं यस्माद् यमयति तद्वा यन्त्रमिति स्मृतम् ॥४॥
तस्य बीजं चतुर्धा स्यात् क्षितिरापोऽनलोऽनिलः ।
आश्रयत्वेन चैतेषां वियदप्युपयुज्यते ॥५॥
भिन्नः सूतश्च (कै?यै)रुक्तस्ते च सम्यङ् न जानते ।
प्रकृत्या पार्थिवः सूत(स्ना?स्त्र)यात् तत्र क्रिया भवेत् ॥६॥
पार्थिवत्वादयमतो न कदाचिद् विभिद्यते ।
द्रव्यत्वादग्निजत्वं हि यद्यस्य परिकल्प्यते ॥७॥
तदा विरोधो नैवास्य पादकेनोपपद्यते ।
गन्धाद् वह्नेर्विरोधाच्च स्थिता पार्थिवता बलात् ॥८॥
आत्मैव बीजं सर्वेषां प्रत्येकमपराण्यपि ।
एवं भेदा भवन्त्येषां भूयांसः सङ्करान्मिथः ॥९॥
स्वयंवाहकमेकं स्यात् सकृत्प्रेर्यं तथापरम् ।
अन्यदन्तरितं वाह्यं वाह्यमन्यत् त्वदूरतः ॥१०॥
स्वयंवाह्यमिहोत्कृष्टं हीनं स्यादितरत् त्रयम् ।
तेषु शंसन्ति दूरस्थमलक्ष्यं निकटस्थितम् ॥११॥
य(द्यु?दु)त्पन्नमलक्ष्यं यदेकं बहुषु साधकम् ।
तदन्यदपि शंसन्ति यस्माद् विस्मयकृन्नृणाम् ॥१२॥

एका स्वीया गतिश्चित्रे वाह्योऽन्या वाहकाश्रिता ।
अरघट्टाश्रिते कीटे दृश्यते द्वयमप्यदः ॥१३॥
इत्थं गतिद्वयवशाद् वैचित्र्यं कल्पयेत् स्वयम् ।
अलक्षता विचित्रत्वं यस्माद् यन्त्रेषु शस्यते ॥१४॥
अन्यत् स्यादन्तरा (त्प्रे? प्रे)यं द्वितीयं मध्यमं त्विदम् ।
द्वयत्रयादियोगेन चतुर्णामपि योगतः ॥१५॥
अंशांशिभावाद् भूतानां सङ्ख्यैषामतिरिच्यते ।
यः सम्यगेतज्जानाति स पुमान् भवति प्रियः ॥१६॥
प्रमदानां नृपाणां च प्रज्ञानां च सतस्य च ।
लाभं ख्यातिं च पूजां च यशो मानं धनानि च ॥१७॥
प्राप्नोति किं किं न पुमान् य इदं वेत्ति तत्त्वतः ।
गृहमेकं विलासानामाश्चर्यस्य परं पदम् ॥१८॥
रतेरावासभवनं विस्मयस्यैकमास्पदम् ।
यथावद् देवतादीनां रूपचेष्टादिदर्शनात् ॥१९॥
तास्तुष्यन्त्यथ तत्तुष्टिः पूर्वैर्धर्मः प्रकीर्तितः ।
नृपादितोषादर्थःस्यादर्थे कामः प्रतिष्ठितः ॥२०॥
वित्तैक्यादस्य निष्पत्तिर्मोक्षश्चास्मान्न दुर्लभः ।
पार्थिवं पार्थिवैर्बीजैः पार्थिवं जलजन्मभिः ॥२१॥
तदेव तेजोजनितैस्तदेव मरुदुद्भवैः ।
आप्यमाप्यैस्तथा बीजैरानलैरानिलैरपि ॥२२॥
वह्निजैश्च मरुज्जातैः पार्थिवैर्वारुणैरपि ।
मारुतं मारुतैराप्यैः पार्थिवैरानलैस्तथा ॥२३॥
वह्निजातेऽपि बीजं स्यात् सूतः सोऽपिच वा (न? नि) ले ।
पार्थिवानां भवेद् बीजमाप्यानामपि वा(रणे? रुणम्) ॥२४॥
इति बीजानि सर्वेषां कीर्तितान्यखिलान्यपि ।
कुड्यंकरणसूत्राणि भारगोलकपीडनम् ॥२५॥
लम्बनं लम्बकारे च चक्राणि विविधान्यपि ।
अयस्ताम्रं च तारं च त्रपु संवित्प्रमर्दने ॥२६॥
काष्ठं च चर्म वस्त्रं च स्वबीजेषु प्रयुज्यते ।
उर्दकः कर्तरी यष्टिश्चक्रं भ्रमरकस्तथा ॥२७॥
शृङ्गावली च नाराचः स्वबीजान्यौर्वरे विदुः ।

ताप उत्तेजनं स्तोभः क्षोभश्च जलसङ्गजः ॥२८॥
एवमाद्यग्निबीजानि पार्थिवस्य प्रचक्षते ।
धारा च जलभारश्च पयसो भ्रमणं तथा ॥२९॥
एवमादीनि भूजस्य जलजानि प्रचक्षते ।
यथोच्छ्राययो यथाधिक्यं यथा नीरन्ध्रतापि च ॥३०॥
अत्यन्त मूर्ध्वगामित्वं स्वबीजान्ययसस्तथा ।
मरुत् स्वभावजो गाढैर्ग्राहकैश्च प्रतीप्सितः ॥३१॥
दृत्याद्यैर्वीजनाद्यैश्च गजकर्णादिभिः कृतः ।
(छा? चा) णितो गालितश्चायं बीजं भवति भूभवे ॥३२॥
काष्ठं (भृ? कृ) त्तिश्च लोहं च जलजे पार्थिवं भवेत् ।
अन्यदम्भस्तदप्यस्तु तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥३३॥
बीजं स्वकीयं भवति यन्त्रेषु जलजन्मसु ।
तापाद्यं पूर्वकथितं वह्निजं जलजे भवेत् ॥३४॥
सङ्गृहीतश्च दत्तश्च पूरितः प्रतिनोदितः ।
मरुद् बीजत्वमायाति यन्त्रेषु जलजन्मसु ॥३५॥
वह्निजातेषु मृत्ताम्रलोहरुक्मादि तद्गृहे ।
पार्थिवं कथयन्तीह बीजं बीजविचक्षणाः ॥३६॥
वह्नेर्वह्निर्भवेद् बीजमाप आपस्तथा भवेत् ।
आद्यैर्दृत्यादिभिः प्रोक्तैर्मरुद् गच्छति बीजताम् ॥३७॥
प्रत्येषकं च जनकं ग्राहकं प्रेरकं तथा ।
सङ्ग्राहकं च भूजातं बीजं स्यादनिलोद्भवैः ॥३८॥
प्रेरणं चाभिघातश्च विवर्तो भ्रमणं तथा ।
जलजं मारुतोत्थेषु बीजं स्यादिति सम्मतम् ॥३९॥
संगृहीतस्य तापाद्यैर्यानि पावकजन्मनि ।
प्रकीर्तितानि तान्येव भवन्ति पवनोद्भवैः ॥४०॥
प्रेरितः सङ्गृहीतश्च जनितश्च समीरणः ।
आत्मनो बीजतां गच्छत्येवमन्यत् प्रकल्पयेत् ॥४१॥
भूतमेकमिहोद्रिक्तमन्यद्धीनं ततोऽधिकम् ।
अन्यद्धीननतरं चान्यदेवंप्रायैर्विकल्पितैः ॥४२॥
नाना भेदा भवन्त्येषां कस्तान कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ।

निष्क्रिया भूः क्रिया त्वंशे शेषेषु सहजा त्रिषु ॥४३॥
अतः प्रायेण सा जन्या क्षितावेव प्रयत्नतः ।
साध्यस्य रूपवशतः सन्निवेशो यतो भवेत् ॥४४॥
यन्त्राणामाकृतिस्तेन निर्णेतुं नैव शक्यते ।
यथावद्बीजसंयोगः सौश्लिष्ट्यं श्लक्ष्णतापि च ॥४५॥
अलक्षता निर्वहणं लघुत्वं शब्दहीनता ।
शब्दे साध्ये तदाधिक्यमशैथिल्यमगाढता ॥४६॥
वहनीषु समस्तासु लौश्लिष्ट्यं चास्खलद्गति ।
यथाभीष्टार्थकारित्वं लयतालानुगामिता ॥४७॥
इष्टकालेऽदर्थशित्वं पुनः सम्यक्त्वसंवृतिः ।
अनुल्बणत्वं ताद्रूप्यं दार्ढ्यं मसृणता तथा ४८॥
चिरकालसहत्वं च यन्त्रस्यैते गुणाः स्मृताः ।
एकं बहूनि चलयेद् बहुभिश्चाल्यतेऽपरम् ॥४९॥
सुश्लिष्टत्वमलक्षत्वं यन्त्राणां परमो गुणः ।
अथ कर्माणि यन्त्राणां विचित्राणि यथाविधि ॥५०॥
नविस्तरान्नसङ्क्षेपात् साम्प्रतं संप्रचक्ष्महे ।
कस्यचित् सा क्रिया साध्या कालः कस्यापि कस्यचित् ॥५१॥
शब्दः कस्यापि चोच्छ्रायो रूपस्पर्शौ च कस्यचित् ।
क्रियास्तु कार्यस्य वशादनन्ताः परिकीर्तिताः ॥५२॥
तिर्यगूर्ध्वमधः पृष्ठे पुरतः पार्श्वयोरपि ।
गमनं सरणं पात इति भेदा क्रियोद्भवाः ॥५३॥
कालो मुहूर्तकाष्ठाद्यैर्भिन्नो भेदैरनेकधा ।
शब्दो विचित्रः सुखदो रतिकृद् भीषणस्तथा ॥५४॥
उच्छ्रायस्तु जलस्य स्यात् क्वचिद् भूजेऽपि शस्यते ।
गीतं नृत्यं च वाद्यं च पटहो वंश एव च ॥५५॥
वीणा च कांस्यतालश्च तृमिला करटापि च ।
यत्किञ्चिदन्यदप्यत्र वादित्रादि विभाव्यते ॥५६॥
समस्तमपि तद् यन्त्राज्जायते कल्पनावशात् ।
नृत्ये तु नाटकं चोक्षस्ताण्डवं लास्यमेव च ॥५७॥
राजमागश्च देशी च यन्त्रात सर्वं प्रसिध्यति ।

तथा जात्यनुगाश्चेष्टा विरुद्धा यास्तु जातितः ॥५८॥

ताः सर्वा अपि सिध्यन्ति सम्यग्यन्त्रस्य साधनात् ।
भूचराणां गतिर्व्योम्नि भूमौ व्योमचरागमः ॥५९॥

चेष्टितान्यपि मर्त्यानां तथा भूमिस्पृशामिव ।
जायन्ते यन्त्रनिर्माणाद् विविधानीप्सितानि च ॥६०॥

यथासुरा जिता देवैर्यथा निर्मथितोऽम्बुधिः ।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो नृसिंहेन हतो यथा ॥६१॥

धावनं हस्तियुद्धं च गजानामगडोऽपि च ।
नानाप्रका (र?रा) या चेष्टा नानाधारागृहाणि च ॥६२॥

दोलाकेल्यो विचित्राश्च तथा रतिगृहाणि च ।
चित्रा से (न?ना) च कुट्यश्च स्वयंवाहकसेवकाः ॥६३॥
सभाश्च विविधाकाराः सत्या मायाः प्रकल्पिताः ।
एवंप्रायाणि चान्यानि यन्त्रात् सिध्यन्ति कल्पनात् ॥६४॥
विधाय भूमिकाः पञ्च शय्या त्वादिभुवि स्थित ।
प्रतिप्रहरमन्यासु सर्पन्तो याति पञ्चमीम् ॥६५॥
एवंप्रायाणि चित्राणि सम्यक् सिध्यन्ति यन्त्रतः ।
क्रमेण त्रिशतावर्तं स्थाले स्थाले दन्ता भ्रमन्त्यसौ ॥६६॥
तन्मध्ये पुत्रिका क्लृप्ता प्रति नाडि प्रबोधयेत् ।
वह्नेश्च दर्शनं तोये वह्निमध्याज्जलोद्गतिः ॥६७॥
अवस्तुतोऽपि वस्तुत्वं वस्तुतोऽपि तथान्यथा ।
निः श्वासेन वियद् याति श्वासेनायाति मेदिनीम् ॥६८॥
क्षीरोदमध्यगा शय्या प्रतीष्टाधः फणाभृता ।
गोलश्च सू (ति?चि) विहितः सूर्यादीनां प्रदक्षिणम् ॥६९॥
परिभ्राम्यत्यहोरात्रं ग्रहाणां दर्शयन् गतिम् ।
गजादिरूपे रथिकरूपतां गमितः पुमान ॥७०॥
भ्रान्त्वा नाडिकया तस्या पर्यन्ते हन्ति (भो?यो)जनम् ।
दीपिकापुत्रिका क्लृप्तां क्षीणं क्षीणं प्रयच्छति ॥७१॥
दीपे तैलं प्रनृत्यन्ती तालगत्या प्रदक्षिणम् ।
यावत् प्रदीयते वारि तावत् विपति सन्ततम् ॥७२॥
यन्त्रेण कल्पितो हस्ती न तद् गच्छत् प्रतीयते ।

शुकाद्याः पक्षिणः क्लृप्तास्तालस्यानुगमान्मुहुः ॥७३॥
जनस्य विस्मयकृतो नृत्यन्ति च पठन्ति च ।
पुत्रिका वा गजेन्द्रो वा तुरगो मर्कटोऽपि वा ॥७४॥
वलनैर्वर्तनैर्नृत्यंस्तालेन हरते मनः ।
येनैव वर्त्मना क्षेत्रं ध्रियते तेन तत्पयः ॥७५॥
यात्यायाति पुनस्तद्वद् गर्तात् पुष्करिणीष्वपि ।
फलके कानि (?) तिष्ठन्ति धावन्त्यनुमतानि च ॥७६॥
घा (तां?लं) ददति युध्यन्ते निर्यान्त्यश्रमनावृतम् ।
नृत्यन्त्यि गायन्ति तथा वंशादीन् वादयन्ति च ॥७७॥
निरुद्धमुक्तस्य वशान्मरुतो यन्त्रभङ्गिभिः ।
याश्चेष्टा दिव्यमानुष्यस्ता एवात्र न केवलम् ॥७८॥
दुष्करं यद्यदन्यच्च तत्तद् यन्त्रात् प्रसिध्यति ।
यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात् ॥७९॥
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ।
कथितान्यत्र बीजानि यन्त्राणां घटना न यत् ॥८०॥
तस्माद् व्यक्तिकृतेष्वेषु न स्यात् स्वार्थो न कौतुकम् ।
वस्तुतः कथितं सर्वं बीजानामिह कीर्तनात् ॥८१॥
अभ्यूह्य स्वधिया प्राज्ञैयन्त्राणां कर्म यद् यथा ।
यन्त्राणि यानि दृष्टानि कीर्तितान्यत्र तान्यपि ॥८२॥
तन्यानि यस्मात् तान्यातो विज्ञेयान्युपदेशतः ।
एतत् स्वबुद्ध्यैवास्माभिः समग्रमपि कल्पितम् ॥८३॥
अग्रतश्च पुनर्ब्रूमः कथितं यत् पुरातनैः ।
बीजं चतुर्विधमिह प्रवदन्ति यन्त्रे-
ष्वम्भोग्निभूमिपवनैर्निहितैर्यथावत् ।
प्रत्येकतो बहुविधं हि विभागतः स्या-
न्मिश्रैर्गुणैः पुनरिदं गणनामपास्येत् ॥८४॥
किमेतस्मादन्यद् भवति भुवने चित्रमपरं
किमन्यद् वा तुष्ट्यै भवति किमु वा कौतुककरम् ।
किमन्यद् वा कीर्तेर्भवनमपरं कामसदनं
किमस्मात् पुण्यं वा किमिव च परीतापशमनम् ॥८५॥

एतेऽत्यर्थं प्रीतिदा बीजयोगाः संजायन्ते योजिताः सूत्रधारैः ।
भ्रान्त्या नान्यश्चित्रकृद् दारुक्लृप्तं चक्रं दोलाद्यं पुनः पञ्चमं तत् ॥८६॥
पारम्पर्यं कौशलं ोपदेशं शास्त्रभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः ।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिश्चि ण्येवं वेति यन्त्राणि कर्तुम् ८७
चित्रयुक्तं ये गुणैः पञ्चरूपं जानन्त्येनं यन्त्रशास्त्राधिकारम् ।
ये वा कृत्स्नं योजयन्तेऽत्र सम्यक् तेषां कीर्तिर्द्यां भुवं चावृणोति ।८८।
अङ्गुलेन मितमङ्गुलपादेनोच्छ्रितं द्विपुटकं तनुवृतम् ।
धेयमृजुमध्यगरन्ध्रं श्लिष्टसन्धि दृढताम्रमयं तत् ॥८९॥
दारवेषु विहगेषु तदन्तः क्षिप्तमुद्गतसमीरवशेन ।
आतनोति विचलन्मृदुशब्दं शृण्वतां भवति चित्रकरं च ॥९०॥
सुश्लिष्टखण्डद्वितयेन कृत्वा सरन्ध्रमन्तर्मुरजानुकारम् ।
ग्रस्तं तथा कुण्डलयोर्युगेन मध्ये पुटं तस्य मृदु प्रदेयम् ॥९१॥
पूर्वोक्तयन्त्रं विधिनोदरेऽस्य क्षिप्तेऽथ शय्यातलसंस्थमेतत् ।
ध्वनिं ततः सञ्चलनादनङ्गक्रीडारसोल्लासकरं करोति ॥९२॥
अस्मिञ् शय्यातलविनिहिते मुञ्चति व्यक्तरागं
चित्राञ्छब्दान् मृगशिशुदृशां या (न्ति? ति) भीत्येव मानः ।
किञ्चैतासां दयितमभितो निर्भरप्रेमभाजां
प्रौढिं गच्छन्त्यधिकमधिकं मन्मथक्रीडितानि ॥९३॥
पटहमुरजे वेणुः शङ्खो विपञ्च्यथ काहला
डमरुटिविले वाद्यातोद्यान्यमून्यखिलान्यपि ।
मधुरमधिकं यच्चित्रं च ध्वनिं विदधात्यलं
तदिह विधिना रुद्धोन्मुक्तानिलस्य विजृम्भितम् ॥९४॥
लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चा(ति? ग्नि) पूर्णम् ॥९५॥
तत्रारूढः पूरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन ।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चि कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥९६॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥९७॥
अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥९८॥

वृत्तसन्धितमथायसयन्त्रं तद् विधाय रसपूरितमन्तः ।
उच्चदेशविनिधापिततप्तं सिंहनादमुरजं विदधाति ॥९९॥

स कोप्यस्य स्फारः स्फुरति नरसिंहस्य महिमा ।
पुरस्ताद् यस्यैता मदजलमुचोऽपि द्विघटाः
मुहुः श्रुत्वा श्रुत्वा निनदमपि गम्भीरविषमं
पलायन्ते भीतास्त्वरितमवधूयाङ्कुशमपि ॥१००॥

दृग्ग्रीवालहस्तप्रकोष्ठवाहूरुहस्तशाखादि ।
सच्छिद्रं वपुरखिलं तत्सन्धिषु खण्डशो घटयेत् ॥१०१॥
श्लिष्टं कीलकविधिना दारुमयं सृष्टचर्मणा गुप्तम् ।
पुंसोऽथवा युवत्या रूपं कृत्वातिरमणीयम् ॥१०२॥
रन्ध्रगतैः प्रत्यङ्गं विधिना नाराचसङ्गतैः सूत्रैः ।
ग्रीवाचलनप्रसरणविकुञ्चनादीनि विदधाति ॥१०३॥
करग्रहणताम्बूलप्रदानजलसेचनप्र (माणा?णामा) दि ।
आदर्शप्रतिलोकनवीणावाद्यादि च करोति ॥१०४॥
एवमन्यदपि चेदृशमेतत् कर्म विस्मयविधायि विधत्ते ।
जृम्भितेन विधिना निजबुद्धेः कृष्टमुक्तगुणचक्रवशेन ॥१०५॥
पुंसो दारुजमुर्ध्वं रूपं कृत्वा निकेतनद्वारि ।
तत्करयोजितदण्डं निरुणद्धि प्रविशतां वर्त्म ॥१०६॥
खड्गहस्तमथ मुद्गरहस्तं कुन्तहस्तमथवा यदि तत स्यात् ।
तन्निहन्ति विशतो निशि चौरान् द्वारि संवृतमुखं प्रसभेन ॥१०७॥
ये चापाद्या ये शतघ्न्यादयोऽसिमुन्नुष्टग्रीवाद्याश्च दुर्गस्य गुप्त्यै ।
ये क्रीडाद्याः क्रीडनार्थं च राज्ञां सर्वेऽपि स्युर्योगतस्ते गुणानाम् ॥१०८॥
इदानीं प्रक्रमायातं वारियन्त्रं प्रचक्ष्महे ।
क्रीडार्थं कार्यसिद्ध्यर्थं च चतुर्धा तद्गतिं विदुः ॥१०९॥
निम्नगं भवति द्रोणीदिशादूर्ध्वस्थिताज्जलम् ।
यत्र तत् पातयन्त्रं स्याद् वाटिकादिप्रयोजनम् ॥११०॥
उच्छ्रायसमपाताख्यं यत्रोर्ध्वा नाडिका पयः ।
जलाधारगुणान्मुञ्चेदधस्तात् समनाडि (का?कम्) ॥१११॥
यत्र पातसमोच्छ्रायं पतित्वोच्छ्रायतो जलम् ।
तिर्यग् गत्वा प्रयात्यूर्ध्वं सच्छिद्रस्तम्भयोगतः ॥११२॥

पतित्वोच्छ्रायतस्तोयं तिर्यगूर्ध्वोर्ध्वसेत्यथ ।
सच्छिद्रस्तम्भयोगेन तत् स्यात् पातसमोच्छ्रयम् ।।११३।।

वाप्यां वापि च कूपे विधानतो दीर्घिकादिका विहिता ।
यत्रोर्ध्वमम्बु गमयति तदिहोच्छ्रयसंज्ञितं कथितम् ।।११४।।

दारुजमिभस्य रूपं यत् सलिलं पात्रसंस्थितं पिवति ।
तन्माहात्म्यं निगदितमेतस्योच्छ्रायतुल्यस्य ।।११५।।

सलिलं सुरङ्गदेशानीतं निम्नेन वर्त्मना दूरे ।
अद्भुतमम्भस्थानं तदिह समोच्छ्रायतः कुरुते ।।११६।।
धारागृहमेकं स्यात् प्रवर्षणाख्यं ततो द्वितीयं च ।
प्राणालं जलमग्नं नन्द्यावर्तं तथान्यदपि ।।११७।।
प्राकृतजनार्थमेतन्न विधेयं योग्यमेतदवनिभुजाम् ।
मङ्गल्यानां सदनं दिव्यमिदं तुष्टिपुष्टिकरम् ।।११८।।
सलिलाशयस्य सविधे कस्याप्याश्रित्य शोभनं देशम् ।
यन्त्रोत्सेधाद् द्विगुणा त्रिगुणा वा नाडिका कार्या ।।११९।।
जलनिर्वाहसहासावन्तर्मसृणा बहिश्च नीरन्ध्रा ।
निर्व्यूढाम्भसि तस्यां शुभमुहूर्ते गृहं कार्यम् ।।१२०।।
सर्वाभिरोषधीभिर्युक्तं सहिरण्यपूर्णकुम्भैश्च ।
सुविचित्रगन्धमाल्यं निनादितं ब्रह्मघोषेण ।।१२१।।
रत्नोद्भवविचित्रैः स्तम्भैर्युक्तं हिरण्यघटितैर्वा ।
रजतोद्भवैः कदाचित् सुरदारुसमुद्भवैरथवा ।।१२२।।
श्रीखण्डोत्थैरथवा सालकमुख्यप्रशस्तवृक्षोत्थैः ।
शतसंख्यैर्द्वात्रिंशत्संख्यैर्यदि वापि षोडशभिः ।।१२३।।
अथवा चतुस्समन्वितविंशतिसङ्ख्यैर्दिनेशसङ्ख्यैर्वा ।
भूषितमतिरमणीयैश्चतुर्भिरपि वा विधातव्यम् ।।१२४।।
प्राग्ग्रीवैरतिचित्रैः शालैर्जालैर्विभूषितं विविधैः ।
वेदीभिः परिकरितं कपोतपालीभिरभिरामम् ।।१२५।।
रमणीयसालभञ्जिकमनेकविधयन्त्रशकुनिकृतशोभम् ।
मिथुनैश्च वानराणां जम्भकनिवहैश्च नैकविधैः ।।१२६।।
विद्याधरसिद्धभुजङ्गकिन्नरैश्चारणैश्च रमणीयम् ।
नत्यद्भिः पूरम(ग?गु)णैः शिखण्डिभिर्माण्डितोद्देशम् ।।१२७।।

कल्पतरुभिर्विचित्रैश्चित्रलतावल्लिगुल्मसंछन्नम् ।
परपुष्टषट्पदालीमरालमालामनोहारि ॥१२८॥

प्रवहत्सकलस्रोतःसुश्लिष्टनिविष्टनाडिकं मध्ये ।
सच्छिद्रनाडिकयुतं नानाविधरूपरमणीयम् ॥१२९॥

सुश्लिष्टनाडिकाग्रे स्तम्भतुलाभित्तिसंश्रिते परितः ।
सम्यक् कृत्वा दृढतरविलेपनं वज्रलेपाद्यैः ॥१३०॥
लाक्षासर्जरसदृषन्मेषविषाणोत्थचूर्णसंमिश्रम् ।
अतसीकरञ्जतैलप्रविगाढो वज्रलेपः ॥१३१॥
दृढसन्धिबन्धहेतोः स तत्र देयो द्विशः कदाचिद् वा ।
शणवल्कश्लेष्मातकसिक्थकतैलैः प्रलेपश्च ॥१३२॥
उच्छ्रययन्त्रेणैतद् भ्रान्तजलेनाथ तदभितः कृत्वा ।
चित्रानुपातयुक्तं प्रदर्शयेन्नृपतये स्थपतिः ॥१३३॥
कार्याण्यस्मिन्करिणां मिथुनान्यभितोऽम्बुकेलियुक्तानि ।
अन्योन्यपुष्करोज्झितसीकरभयपिहितनयनानि ॥१३४॥
वर्षानुकृतं चास्मिन् प्रीतिमति प्रतिमतङ्गजो वीक्ष्य ।
दृक्कटमेहनहस्तैर्मदाभिवमुञ्चञ्जलं कार्यः ॥१३५॥
स्तनयोर्युगेन सृजती जलभारे तत्र कापि कार्या स्त्री ।
आनन्दाश्रुलवानिव सलिलकणान् पक्ष्मभिः काचित् ॥१३६॥
नाभिह्लदनदिकामिव विनिर्गतां कापि बिभ्रती धाराम् ।
काप्यङ्गुलीनखांशुभिरिव योषित् सिञ्चती कार्या ॥१३७॥
एवम्प्रायांश्चित्रान् स्वभावचेष्टान् बहूंश्च रमणीयान् ।
क्षोभान् विधाय कुर्यादाश्चर्यं नरपतेः स्थपतिः ॥१३८॥
मध्ये तस्य विधेयं सिंहासनममलहेममणिघटितम् ।
तत्रासीदेन्नरपतिरवनिपतिः श्रीपतिर्देवः ॥१३९॥
स्नायात् कदाचिदस्मिन् मङ्गलगीतैर्विवर्धितानन्दः ।
वादित्रनाट्यनिपुणैर्निषेव्यमाणः सुरेन्द्र इव ॥१४०॥
य एतस्मिन् गाढग्लपितघनघर्मव्यतिकरे
शुचौ धाराधाम्नि स्फुटसलिलधारे नरपतिः ।
सुखेनास्ते पश्यन् विविधजलशिल्पानि स भवे-
न्न मर्त्यः किन्त्वेष क्षितिकृतनिवासः सुरपतिः ॥१४१॥

जलदकुलाष्टक-युक्तं पूर्ववदन्यद् गृहं समारचयेत् ।
वर्षद्धारानिकरैः प्रवर्षणाख्यां तदाप्नोति ॥१४२॥

प्रतिकुलमस्मिन् कार्या दिव्यालङ्कारधारिणः पुरुषाः ।
विधिना त्रयः सुरूपाश्चत्वारः सप्त वा सुदृढाः ॥१४३॥

यन्त्रेण समोच्छ्रायेण तांश्चतुर्थेन वा ततः पुरुषान् ।
कृत्वा सवक्रनालानम्भोभिः पूरयेद् विमलैः ॥१४४॥

सलिलप्रवेशरन्ध्राण्यखिलानि पिधाय तत्र पुरुषाणाम् ।
अङ्गानि वारिमोक्षाण्यखिलान्यथ मोचयेत् तेषाम् ॥१४५॥
सलिलं सवक्रनालं द्वारप्रतिरोधमोचनैः पुरुषाः ।
मुञ्चन्ति स्वेच्छममी विचित्रपातेन चित्रकरम् ॥१४६॥
इत्थमिमान् वारिधरान् साम (स्य?स्त्या)द् द्वयन्तरेण... ।
त्र्यन्तरतो वा स्वेच्छं प्रवर्षयेदतिमहच्चित्रम् ॥१४७॥
इदं नानाकारं कुलभवनमाद्यं रतिपते-
र्नि...सश्चित्राणामनुकरणमेकं जलमुचाम् ।
पयः पातैर्ग्रीष्मे रविकरपरीतापशमनं
न केषामत्यर्थं भवति नयनानन्दजननम् ॥१४८॥
एकेनाथ चतुर्भिः स्तम्भैरष्टभिरथार्कसंख्यैर्वा ।
षोडशभिर्वा कुर्यान्मनोहरं गृहमिह द्वितलम् ॥१४९॥
भद्रैर्युतं चतुर्भिश्चतुरश्रं सर्वभित्तिसंयुक्तम् ।
ईलीतोरणयुक्तं कर्तव्यं पुष्पकाकारम् ॥१५०॥
तस्योपरि मध्यगता प्राङ्गणवापी दृढा विधातव्या ।
शतपत्रविहितभूषा तन्मध्ये कर्णिका कार्या ॥१५१॥
तत्कोणेषु चतुर्ष्वपि रमणीया दारुदारिकाः कार्याः ।
मध्याम्बुजनिहितदृशः सालङ्काराः सभृङ्काराः ॥१५२॥
पूर्वोक्तयन्त्रयोगात् पद्मासीने वसुन्धराधिपतौ ।
भृङ्गारामलवारिभिरङ्गणवापीं भ्रियाच्च ततः ॥१५३॥
तामिति भृत्वा वापीं तत्सलिलं तदनुपट्टगर्भगतम् ।
छाद्यस्तु गन्धरोधे ष्वति रोहति (?) सर्वतो नियतम् ॥१५४॥
मुखपट्टसमुत्कीर्णैं रूपैश्चित्रैर्मनोरमैरखिलैः ।
अङ्गैर्वारि विमुञ्चति नासास्यश्रवणनेत्राद्यैः ॥१५५॥

प्रणालाख्यं धाराभवनमिदमत्यद्भुततरं
स्थितिं धत्ते यस्य क्षितिपतिलकस्याङ्गणभुवि ।
करोत्येतद् वेत्थं स्थपतिरपि बुद्ध्या चतुरया
जगत्येतौ द्वावप्यधिकमहनीयौ कृतधियाम् ॥१५६॥
चतुरश्रातिगभीरा वापी कार्या मनोरमा सुदृढा ।
गर्भगतं गृहमस्याः कर्तव्यं लिप्तसन्धि ततः ॥१५७॥
विहितप्रवेशनिर्गति सुरङ्गयाधो निवेशितद्वारम् ॥
विदधीत चारुरूपैः प्रवर्षकैर्व्याप्तमुपरिष्टात् ॥१५८॥
चित्राध्यायोदितवर्त्मना ततोऽलङ्कृतं च चित्रेण ।
तस्य विधेयं मध्यं सलिलाधिपवाससंकाशम् ॥१५९॥
ऊर्ध्वविनिर्गमिताब्जैर्नालैस्तत्पट्टकन्दकोद्भूतैः ।
सच्छिद्रकर्णिकागतदिनकरकरनिर्मितोद्योतम् ॥१६०॥
आपूरयेत ततोऽनु च पाताम्बुभिरमलकमलपर्यन्तम् ।
विधिनामुनैव सम्यक् प्रविधाय मनोरमं भवनम् ॥१६१॥
नानारूपकयुक्त्या (उ? व्यु) परिचततमङ्गतोरणद्वारम् ।
शालाभिरायताभिश्चतसृष्वपि दिक्षु कृतशोभम् ॥१६२॥
कृत्रिमशफरीमकरीपक्षिभिरपि चाम्बुसम्भवैर्युक्ताम् ।
कुर्यादम्भोजवतीं वापीमाहार्ययोगेन ॥१६३॥
सामन्तमुख्यपुरूषा राजाज्ञालब्धसंश्रयास्तत्र ।
परराष्ट्रागतदूतास्तिष्ठेयुर्निहितमिह निभृताः ॥१६४॥
अथ स यथाविधि सलिलक्रीडां पूर्वोक्तमार्गरूपाणाम् ।
दृष्ट्वा मुदितः कुर्यात् पर्यङ्कारोहणं नृपतिः ॥१६५॥
तत्र स्थितस्य नृपतेः परिवारितस्य
वाराङ्गनाभिरभितो जलमग्नधाम्नि ।
पातालसद्मनि यथा भुजगेश्वरस्य
निस्सीमसम्भृतरति भवति प्रमोदः ॥१६६॥
पूर्वोक्तवापिकायां मध्ये स्तम्भैश्चतुर्भिरूपरचितम् ।
मुक्ताप्रवालयुक्तं पुष्पकमथ कारयेल्ललटभस् ॥१६७॥
वापीं परितः पुष्पकमापूर्य सुनिर्गमाभिरथ सुदृढम् ।
गर्भस्वस्तिकभित्तिभिरूपहितशोभं समन्ततः कुर्यात् ॥१६८॥
पूर्वोक्तवारियोगात् पूर्णामाकर्णतो विधाय ताम् ।

जलकेलिषु सोत्कण्ठो महीपतिः पुष्पकं यायात् ॥१६६॥
कुर्वीत नर्मसचिवैर्विलासिनीभिश्च सार्धमवनिपतिः ।
तद्भित्यन्तरवर्ती निमज्जनोन्मज्जनैः क्रीडाम् ॥१७०॥
एकत्र मग्नैरपरत्र दृष्टैरन्यत्र हृत्वा सलिलेन नष्टैः ।
क्रीडत्यलं केलिकरैः सहायैर्नृपः सुखं मज्जनपुष्करिण्याम् ॥१७१॥
वापीतलस्थितमथ त्रपयावनम्रमाच्छादितस्तनभरं करपल्लवेन ।
गाढावसक्तवसनं जलरोधमुक्तावालोकते प्रणयिनीजनमत्र धन्यः॥१७२॥
रथदोलादिविधानं दारवमभिदध्महे वयं सम्यक ।
यन्त्रभ्रमणककर्म प्रकीर्तितं पंचमं यत् तत् ॥१७३॥
तत्र वसन्तः प्रथमो मदननिवासो वसन्ततिलकश्च ।
विभ्रमकस्त्रिपुराख्यः पञ्चैते दोलकाः कथिताः ॥१७४॥

निखनेच्चतुरः स्तम्भान् समैकसूत्रोपगान् ऋजून् सुदृढान् ।
सदृशान्तरान् धरित्रीवशतः सुश्लि(क्ष्ण?ष्ट) पीठगतान् ॥१७५॥
प्रासादस्योक्तदिशि प्रविदध्याद् विरचिताष्टकरदर्ध्यम् ।
भूमिगृहं रमणीयं तदर्धतो विहितगाम्भीर्यम् ॥१७६॥

तद्गर्भतले स्तम्भो लोहमयाधारसंस्थितः कार्यः ।
भ्रमसहितः पीठयुतो ग्रस्तश्चच्छादकतुलाभिः ॥१७७॥
संस्थाप्योपरि पीठस्य कुम्भिकामतिदृढां विभक्तां च ।
धनुरूच्छ्रितैस्ततोऽमूमष्टभिरावेष्टयेद् भद्रैः ॥१७८॥
स्वेच्छमथ भूमिकोच्छ्रयमस्योर्ध्वे कल्पयेन्नितान्तमृजुम् ।
निदधीत वेष्टनोर्ध्वे पट्टयुतं स्तम्भशीर्षं च ॥१७९॥
हीरग्रह(ण?) पर्यन्तं मदला गजशीर्षिका विधातव्या ।
सुदृढा प्रयत्नरचिता मनोभिरामा यथाशोभम् ॥१८०॥
पट्टस्योपरि कार्या चतुष्किका क्षेत्रमानतोऽभीष्टात् ।
तस्यामुपरि विधेयस्तलबन्धो दृढतरन्यासः ॥१८१॥
स्तम्भैर्द्वादशभिरथ क्षेत्रे युक्त्या समुच्छ्रितैर्भव्यैः ।
रूपवतीकोणस्थितिरधिका भूः प्रथमिका कार्या ॥१८२॥
मध्ये भ्रमश्च तस्या गर्भस्तम्भप्रतिष्ठितः कार्यः ।
क्षेत्रप्रमाणवशतस्तां पश्चाच्छादयेत् पट्टैः ॥१८३॥
रथिकाशिखाग्रकेषु च फलका (म?व) रणस्य तद्वदुपरिष्टात् ।
भ्रमचक्राणि न्यस्येन्मध्ये स्तम्भे च पञ्चैव ॥१८४॥

अत उपरि यथाशोभं हि भूमिका पुष्पकाकृतिः कार्या ।
मध्यस्तम्भाधारा कृतकलशविभूषणा शिरसि ॥१८५॥
स्तम्भेऽ (व?ध) स्ताद् भ्रमिते भृशं भ्रमत्यर्धभूमिका तत्र ।
रथिकाभ्रमरयुक्ता परस्परं चक्रयन्त्रेण । १८६॥
वसन्तरथिकाभ्रमे समधिरूढवाराङ्गना-
परिभ्रमणसम्भृताभ्यधिकविभ्रमं भूपतिः ।
करोति नयनोत्स (वस्त्रि?वं त्रि) दशधाम्नि यत्कीर्तनं
वसन्तसमये भवत्यमलकीर्तिधामैव सः ॥१८७॥
आरोप्य स्थिरमेकं स्तम्भं भूमीगृहादिरहितमथ ।
हस्तचतुष्कोच्छ्राया कार्योपरि भूमिका चास्य ॥१८८॥
मध्ये भ्रमरकयुक्तं शेषं पूर्ववदिहाचरेदखिलम् ।
पुष्पकमपि च स्तम्भे शिथिलं कलशोच्छ्रितं कुर्यात् ॥१८९॥
तस्योपरि च ग्रीवा चतुरासनसंयुता विधातव्या ।
घण्टास्तम्भौ कार्यौ स्तम्भेन महाबलौ तत्र ॥१९०॥
एवं पुष्पकभूमिकान्तरतलस्थायी निगूढो जनो
यावद् भ्रामकयन्त्रचक्रनिकरं सम्यक् क्रमाच्चालयेत् ।
तावत् ता रथिकासना मृगदृशस्तत्र स्थिताः पुष्पके
कामावासकुतूहलार्पितदृशो भ्राम्यन्ति सर्वा अपि ॥१९१॥
अथ कोणगतान् स्तम्भांश्चतुरो विनिवेशयेद् ऋजून् सुदृढान्
सुश्लिष्टपीठसंस्थान् समान्तरान् मेदिनीवशतः ॥१९२॥
तेषामुपरि (लता?तला) न्तरसंयुक्ता भूमिका विधातव्या ।
रथिकास्तत्र चतस्रो जायन्ते पूर्ववद् दिक्स्था ॥१९३॥
तदुपरि तथार्धभूमिः कार्या सुश्लिष्टदारुसन्धाना ।
मध्यभ्रमरकयुक्ता सरूपका मतवारणयुता च ॥१९४॥
नानाविधकर्मवती वसन्ततो बाह्यरेखा स्यात् ।
अन्योन्ययन्त्रपरिघट्टनदोल्यमान-
निश्शेषचक्ररथिकाभ्रमराभिरामम् ।
दृष्ट्वा वसन्ततिलकं सुरमन्दिराणां ।
भूषायमाणमुपयाति न विस्म (यत्वं?यं कः) ॥१९५॥

इह किञ्चिदर्धं मातृकासु गलितं भाति ।

प्रविधाय रंगभूमिं प्रथमां शास्त्रान्तराधरस्यार्थे (?) ।
चतुरश्रा रूपवती सचतुर्भद्रा विधेया भूः ॥१९६॥
प्रतिकोणभाग (त?ता) स्या भद्रेषु भवन्ति सयंता भ्रमराः ।
अत उपरिष्टाद् भूम्या भ्रमराश्चाष्टासनाः कार्या ॥१९७॥
रेखाः शुद्धाः कार्या बहिरन्तश्चित्रिताश्चान्याः ।
पीठेषु मध्य (ग?सं) स्थास्ततोऽपरा भूमिकाः कार्याः ॥१९८॥
पीठस्य मध्यसंस्थैरन्योन्यारालियोजितैश्चक्रैः ।
सर्वे वेगाद् भ्राम्यन्ति सान्त (ना?रा) विभ्रमे भ्रमराः ॥१९९॥
दोलासनो विहितवारवधू (कृ?भृ) ताति-
चित्रेण यस्त्रिदशधामसु विभ्रमेण ।
पृथ्वीपतिर्मुदमुपैति समुल्लसन्ती
कीर्तिर्न माति भुवनत्रितयेऽपि तस्य ॥२००॥
चतुरश्रमथ क्षेत्रं कृत्वांशैर्भाजितं ततोऽष्टभिः ।
कोणैः शेषैस्तस्मिंश्चतुरश्रं कल्पयेद् भद्रम् ॥२०१॥
तद्द्विगुणमूर्ध्वमेतस्य भूमिकाभागसंङ्ख्या कार्यम् ।
तत्राद्यंशचतुष्केण भूमिका स्यात् समुच्छ्रयतः ॥२०२॥
तत्राष्टषट्चतुर्भागवर्जिता भूमिका उपर्युपरि ।
क्रमशो भवन्त्यथैवं ताः स्युस्तिस्रोऽर्धसंयुक्ताः ॥२०३॥
शेषांशोच्छ्रययुक्ता घण्टा चतुरश्रकायता कार्या ।
त्रिचतुर्भूम्यौ कार्ये सषट्चतुर्भागविस्तारे ॥२०४॥
रङ्गः स्यादाद्यभुवि द्वितीयभुवि कोणगास्तथा रथिकाः ।
स्युर्भद्राकृतियुक्ता दोला अपि तत्र रमणीयाः ॥२०५॥
रथिकास्तृतीयभूमौ कार्या भद्रेषु चातिरमणीयाः ।
कोणेष्वथासनान्यर्धवास्तुकेऽपि भ्रमः कार्यः ॥२०६॥
दोलारथिके चतुरासने भ्रमोऽष्टासनो भवेत् तत्र ।
आसनमिह तत् कथितं युवतेः स्थानं यदेकं स्यात् ॥२०७॥
निखिलान्यपि भ्रमणसंमुखं तानि विभ्रति भ्रमणम् (?) ।
यत्रासनानि स इह भ्रम इत्युक्तोऽपराधिका (?) ॥२०८॥
यष्टेरूर्ध्वमधस्ताद् भ्रमस्य चक्रं (नि) योजयेदेकम् ।
लघुचक्राणि च तद्वन्नियोजयेदासनेष्वत्र ॥२०९॥

लघुचक्रारकवृत्त संलग्नाः कीलका दृढाः कार्याः ।
तुल्यान्तराः समस्वाः प्रलघु (क) चक्रारवृन्तगताः ॥२१०॥
रथिकाशिखाग्रचक्रं भ्रमचक्रारक(वि?) नियोजितं कार्यम् ।
यष्टिचतुष्टयमस्मिंस्मिस्तिर्यक् चक्रद्वयोपेतम् ॥२११॥
पुनः द्वितीयभूमेस्तृतीयभूमेरथान्तरं कुर्यात् ।
नियतं रथिकायष्टिभ्रमसंलग्नानि यन्त्राणि ॥२१२॥
आसनाधारयष्टीनां रथिकाचक्रयोजितान् ।
अधः समान्तरान् कुर्याच्चतुरः परिवर्तकान् ॥२१३॥
त(द्व)द् द्वितीयभूमीदोलागर्भे समान्तरे यष्टी ।
लग्ने तथैकचक्रे याम्योत्तरचक्रयोर्न्यस्येत् ॥२१४॥
तद्वदधो भूकोणगरथिकाचूडाग्रचक्रसंसक्ताः ।
यष्टीस्ततश्चतस्त्रो द्विचक्रका इतरचक्रयोर्न्यस्येत् ॥२१५॥
प्रान्तचक्रद्वये कोणरथिकाचक्रयोजिता ।
दोलागर्भगता यष्टिस्तिर्यक् कार्यापरापरा ॥२१६॥
पूर्वे भद्रे द्वारं कुर्यात् सोपानराजितमधस्तात् ।
गर्भात् पश्चिमभागे निवेशयेद् देवतादोलाम् ॥२१७॥
अन्योन्यं चक्रभ्रममिच्छामुक्तिं विधानतः सम्यक् ।
ज्ञात्वा प्रयोजनीयं शीघ्रवहं मन्दवहनं वा ॥२१८॥
एष समासेन यथा भ्रममार्गः कीर्तितः स्फुटोऽस्माभिः ।
अन्येष्वपि कर्तव्यः सम्यग् भ्रमहेतवे तद्वत् ॥२१९॥
स्तम्भादिद्रव्याणां विन्यासैः कल्पितं दृढैः श्लक्ष्णैः ।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धं धृतं तथा दीर्घमुख्यधरैः ॥२२०॥
परिवारितमथ तिलकैः समन्ततः सिंहकर्णसंयुक्तम् ।
त्रिपुरं सम्यक् कुर्याद् विचित्ररूपं (स्व)कैश्चित्रैः ॥२२१॥
बुद्ध्या क्लृप्तैः पूर्वयन्त्रैश्च युक्तं यन्त्राध्यायं वेत्ति यः सम्यगेतम् ।
प्राप्नोत्यर्थान् वाञ्छितान् कीर्तियुक्तान् स क्ष्मापालैरन्वहं पूज्यते च ।२२२।
एतद् द्वादशराजचक्रमखिलं क्ष्मापालचूडामणे-
र्दोः स्तम्भप्रतिबद्धवृत्ति परितो यस्येच्छया भ्राम्यति ।
स श्रीमान् भुवनैकरामनृपतिर्देवो व्यधत्त द्रुतं
यन्त्राध्यायमिमं स्वबुद्धिरचितैर्यन्त्रप्रपञ्चैः सह ॥२२३॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समरांगणसूत्रधारापरनाम्नि वास्तुशास्त्रे यन्त्रविधानं नामैकोनपञ्चाशोऽध्यायः ।

पंचमः पटलः

चित्र-लक्षणम

चित्रोद्देश-लक्षणम्

अथ प्रपञ्च्यतेऽस्माभिर्विन्यासश्चित्रकर्मणः ।
चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम् ॥१॥
पट्टे पटे वा कुड्ये वा यथा चित्रस्य सम्भवः ।
वर्तयः कृतबन्धाश्च लेखामानं यथा भवेत् ॥२॥
वर्णव्यक्तिक्रमो यादृग् यादृशो वर्तनाक्रमः ।
मानोन्मानविधिश्चैव नवस्थान विधिस्तथा ॥३॥
हस्तानां यश्च विन्यासो (लक्षणनात्रसंशय?) ।
दिव्यानां मानुषाणां च दिव्यामानुषजन्मनाम् ॥४॥
गणरक्षःकिन्नराणां कुब्जवामनयोषिताम् ।
विकल्पाकृतिमानानि रुपसंस्थानमेव च ॥५॥
वृक्षगुल्मलतावल्लीवीरुधां पापकर्मणाम् ।
शूराणां दुर्विधानां च धनिनां पृथिवी (क्षि?भृ) ताम् ॥६॥
ब्राह्मणानां विशां शूद्रजातीनाम् क्रूरकर्णणाम् ।
मानिनामथ रङ्गोपजीविनां चेह कथ्यते ॥७॥
रूपलक्षणनैपथ्यं सतीनां राजयोषिताम् ।
दासीप्रव्रजितारण्डा (यातिवल्लीषु लक्षण ॥८॥
कन्यानामसंकाराणां च विध्याना?) गजवाजिनाम् ।
मकरव्यालसिंहानां तथा यज्ञोपयोगिनाम् ॥९॥
दिवा रात्रिविभागस्य ऋतूनां चापि लक्षणम् ।
(अत्र योज्यं याप्यंभ्र कथं भवति?) ॥१०॥
प्रविभागस्य देवानां रेखाणां चापि लक्षणम् ।
लक्षणं पञ्चभूतानां तेषामारम्भ एव च ॥११॥
वृक्षादीनां विहङ्गानां सर्वेषां जलवासिनाम् ।
चित्रन्यासविधानस्य ब्रूमः सम्प्रति लक्षणम् ॥१२॥

(कर्मण कर्मा करमे?) यस्माच्चित्रकर्मणि वर्तते ।
तस्याङ्गान्यभिधीयन्ते तेन सर्वाणि विस्तरात् ॥१३॥
वर्तिका प्रथमं तेषां द्वितीयं भूमिबन्धनम् ।
लेख्यं तृतीयं स्याद् रेखाकर्माणि (वर्ततेमिह लक्षणम्?) ॥
पञ्चमं वर्णकर्म स्यात् षष्ठं स्याद् वर्तनाक्रमः ।
सप्तमं (लेखनं लेखकरणं ?) तथाष्टमम् ॥१५॥

सङ्ग्रहोऽयमिति चित्रकर्मणः
सूत्र्यते स्म तदनुक्रमेण यः ।
भावयेन्न खलु मोहमेत्यसौ
चित्रकर्मणि कृती च जायते ॥१६॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
चित्रोद्देशो नाम
पञ्चाशोऽध्यायः

भूमिबन्ध-लक्षणम्

इदानीं वर्तिकालक्ष्म भूमिबन्धश्च कथ्यते ।
गुल्मान्तरे शुभे क्षेत्रे पद्मिन्यां सरितस्तटे ॥१॥
पार्वतानां च कक्षेषु वापिकाननान्तरे ।
भौमा लवणपिण्डाः स्युर्मूलेषु च महीरुहाम् ॥२॥
क्षेत्रेष्वेतेषु या जाताः स्थिराः श्लक्ष्णाश्च पाण्डराः ।
ग्राह्या (मृद्वावसासेष्वा?) विज्ञेया कटु शर्करा ॥३॥
क्षेत्राणामानुपूर्व्येण मृत्तिका कथिता शुभा ।
पेषयेत् कुट्टयित्वा तां ततः कल्कं समाचरेत ॥४॥
शालिभक्तस्य दातव्यस्तत्र भागो यथोदितः ।
ग्रीष्मर्तौ सप्तमं भागं शीतकाले च पञ्चमम् ॥५॥
षष्ठं शरदि वर्षासु चतुर्थं भागमानयेत् ।
वर्तिकाबन्धनार्थाय दार्ढ्यमायान्ति तेन ताः ॥६॥
(अग्राय। शालिवक्त्राभा यवं यव्यां सुखगृहम् ।
कुकुटाराग्रसदृशी?) कर्मभागविकल्पतः ॥७॥
शिक्षाकालेऽङ्गुलद्वन्द्वं प्रमाणेन विधीयते ।
कुथरेखासु शस्यन्ते वर्तिका त्र्यङ्गुलोन्मिताः ॥८॥
पटारेखासु कुर्वीत मानेन चतुरङ्गुलाः ।
इदानीमभिधास्यामो वसुधाबन्धनक्रियाम् ॥९॥
पक्षिका चैव कूटाक्ष + + + पट एव च ।
तस्य तस्य (किभान?) भूमिबन्धो निगद्यते ॥१०॥
पुण्यनक्षत्रवारेषु माङ्गल्यदिवसेषु च ।
कृतोपवासो भक्त्या च कर्ता भर्ताथ शिक्षकः ॥११॥
अनेकवर्णैः कुसुमैर्गन्धैः (न रूपापाः?) ।
नानाधूपैः सुरभिभिरर्चयित्वारभेत ताम् ॥१२॥

[नवसूत्रात्तुलमृद्बस्तितजलेन सम समम् ।
नवत्वा पात्सदृशं वृक्तनभविद्वात्यपराक्रियः । १३॥
लिङ्गसूत्रविनीक्षेतानिकटं सहतं नवः ।
अनुत्ततमनिस्मं च कुर्याद् यावत् क्षितौ समम् ॥१४॥
सुस्थितं जलवक्षायं?] सम्यगालोक्य धीमता ।
कृत्वा भूमिक्रियामेतां पश्चाद् बन्धनमाचरेत् ॥१५॥
(लुचिमलांस्तिस्व?) व्रीहितण्डुलसन्निभाम् ।
संगृ (स्य? ह्य) तीर्थमथवा पिष्ट्वा कल्कं समाचरेत् ॥१६॥
तेन पिण्डं प्रकुर्वीत शोषयेच्च तमातपे ।
श्रपयेत् कल्कयेद् येन (व्यासाव्द्यषव्यस्तुया?) ॥१७॥
एवमेव (चतुष्कोन्ता?) सप्त वारान् प्रघर्षयेत् ।
हस्तेन संमृशेत् पश्चाद् यथा (लोनं?) च जायते ॥१८॥
अथवा शिक्षिकाभूमौ खरबन्धनमाचरेत् ।
पूर्वोदितस्य कल्कस्य निर्यासे बन्धनं क्षिपेत् ॥१९॥
पञ्चभागप्रमाणेन ग्रीष्मकालेषु शस्यते ।
शरद्यंशत्रयं सार्धं त्रीनंशा (समागमम्?) ॥२०॥
वर्षाकाले हि भागेन प्रदद्यादिति निश्चयः ।
पञ्चभागप्रमाणेन ग्रीष्मसं + + + + + ॥२१॥
बन्धनं च प्रकुर्वीत पूर्वोक्तविधिना क्षितौ ।
(लो? ले) पयेद् रोमकूर्चेण शुष्कां शुष्कामनुक्रमात् ॥२२॥
तोयेन हस्त (क्तवचि?) प्रदातव्यो विचक्षणैः ।
विधिनैवं कृतं श्रेष्ठं शिक्षिकाभूमिबन्धनम् ॥२३॥
बन्धनं कुड्यभूमेश्च यथावत् कथ्यतेऽधुना ।
स्नुहीवास्तुककूश्माण्डकुद्दालीनामुपाहरेत् ॥२४॥
क्षीरमन्यतमस्यापामार्गस्येक्षुरस्य च ।
(तेषाणां वागसूत्रे?) सप्तरात्रं निधापयेत ॥२५॥
शिंशपासननिम्बानां त्रिफलाव्याधिघातयोः ।
स(मो?)मा हरेद् यथालाभं (कथया?) कुटजस्य च ॥२६॥
कषाय (का? क्षा) रयुक्तेन सामुद्रलवणेन च ।
पूर्वं कुड्यं समं कृत्वा कषायैः परिषेचयेत् ॥२७॥

चिक्क (ण? णां?) मृदमादाय स्थूलपाषाणवर्जिता (म्) ।
(मानुषां?) स्ताद्‌द्विगुणान् न्यस्य क्षोदयेद् वालुकामृदाम् ।।२८।।

ककुभस्य रसं दद्यान्माषाणां शाल्मलेरपि ।
श्रीफलानां रसं तद्वद् दद्यात् कालानुरूपतः ।।२९।।

पूर्वकालानुसारेण यत् प्रोक्तं बन्धनं क्षितेः ।
तत् सर्वं सिकतायुक्तं कृत्वैकत्र नवं बुधः ।।३०।।

कुड्यमालेपयेत् पूर्वं हस्तिचर्मप्रमाणतः ।
(विशेषां ष्याथ प्रतिक्षिपेत् तोयं कुर्यादशसन्निभाम्?) ।।३१।।

विशुद्धं, विमलं स्निग्धं पाण्डुरं मृदुलं स्फुटम् ।
पूर्वोदितां समादाय विधिवत् कटशर्कराम् ।।३२।।
ता कुट्टयित्वा घृष्ट्वा च कल्कं कुर्याद् विचक्षणः ।
पू-ोक्तभक्तभागं च निर्यासांश्च प्रदापयेत् ।।३३।।

(विष्वङ्क) यदिवा दद्यात् कटशर्करया समम् ।
त्रीन् वारा (न्) लेपयेत् कुड्यं पूर्वोक्तेन विचक्षणः ।।३४।।
हलेन हस्तमालिप्य प्रदद्यात् कटशर्कराम् ।

जायते विधिनानेन कुड्यबन्धनमुत्तमम् ।।३५।।
साम्प्रतं कथयिष्यामः पट्टभूमिनिबन्धनम् ।
बिम्बाबीजानि संग्रह्य त्यक्त्वा तेषां मलं बुधः ।।३६।।
एवं विशोध्य निष्पावान् यदि वान्यशालितण्डुलान् ।

तेषामन्यतमं श्लक्ष्णं पिष्ट्वा पात्रे विपाचयेत् ।।३७।।
पट्टमालिप्य वन्धेन पूर्वोक्त विधिमाचरेत् ।
पूर्वोक्तनिर्यासयुतां विधाय कटशर्कराम् ।।३८।।
तोयेन तां द्रवीकृत्य पटमालेखयेत् तया ।
अनेन विधिना बन्धश्चित्रकर्मणि शस्यते ।।३९।।

विधिनान्येन वा कुर्यात् पट्टानाम् भूमिबन्धनम् ।
(प्राद्यद्यामिकवालपङ्कनिर्यास?) समन्विताम् ।।४०।।
निर्याससंयुतां दद्यात् त्रिस्ततः कटशर्कराम् ।
पट्टानाम् भूमिबन्धोऽयं विक्षेप्तव्यः प्रयत्नतः ।।४१।।

(गोमयेन कटंपेने शैस्तदनन्तरम् ?)
कटशर्करया युक्तैर्वारांस्त्रीन् कूर्चकेन च ॥४२॥
यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिबन्धः पटेऽपि सः ॥४३½॥
इति निगदितमेवं लक्षणं वर्तिकाना-
(मिहकूपदकुड्यक्ष्मानिविविविधेश्च?) ।
इदमखिलमवैति (प?ग्र)न्थतो योऽर्थतश्च
(प्रतिवति स विधातुर्विभ्रमस्यास्य योगात् ?) ॥४४॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे

भूमिबन्धो नाम

एकपञ्चाशोऽध्यायः

लेप्यकर्मादिक-लक्षणम्

लेप्यकर्म समृल्लक्ष्म लेखालक्ष्म च कथ्यते ।
वापीकूपतटाकानि पद्मिन्यो दीर्घिकास्तथा ।।१।।
वृक्षमूलं नदीतीरं गुल्ममध्यं तथैव च ।
मृत्तिकानामिति क्षेत्राण्युक्तान्येतानि तत्त्वतः ।।२।।
तासां वर्णः सिताक्षौद्रसन्निभो गौर एव च ।
कपिलश्चेति ते स्निग्धाः शस्ता विप्रादिषु क्रमात् ।।३।।
(इन्द्रांशी?) मृत्तिका ग्राह्या स्थूलपाषाणवर्जिता ।
शाल्मलीमाषककुभमधूकत्रिफलोद्भवम् ।।४।।
रसं विनिक्षिपेत् तस्यां प्रक्षिप्य सिकतामपि ।
क्रमुकं (चनका?) बिल्वे सटालोमानि वाजिनः ।।५।।
गवां रोमाणि वा दद्यान्नालिकेरस्य वल्कलम् ।
मृदा संयोज्य मृद्नीयाद् दद्याद् वा द्विगुणांस्तुषान् ।।६।।
वालुका यावती चापि तावती योजयेन्मृदम् ।
भागद्वयं मृत्तिकायां कार्पासाँशेन मिश्रयेत् ।।७।।
तदेकीकृत्य मृद्भागं तृतीयमुपरि क्षिपेत् ।
पूर्वोदितां सन्निधाय ततश्च कटशर्कराम् ।।८।।
क(ल्यं?ल्कं) विधाय (:?) चीरेण रूपं तत्परिवेष्टि (ता?तम्) ।
तेन निर्यासयुक्तेन कुर्यादाकारमादृतः ।।९।।
कटशर्करया लिम्पेत् कूर्चकेन विचक्षणः ।
मृत्तिकाक्वाथसङ्घातात्लेप (क)र्म प्रशस्यते ।।१०।।
(रवयेल्लोहसङ्घातं लसंकार्यसुधामध्यये ।
युक्तं पक्षेत संयोज्य मोममान योजयेत् ।।११।।
अनेपकं समायुक्तं?) कर्तुः स्थानविनाशनम् । लेप्यकर्ममृत्तिकानिर्णयः।।

विलेखा(ल)क्षणं सम्यगिदानीमभिधीयते ।।१२।।

कूर्चनं कर्चकेनाथ द्वितीयं हस्तकूर्चकम् ।
तृतीयं भासकूर्चाख्यं चतुर्थं चल्लकूर्चनम् ॥१३॥
(वर्तनं पञ्चमं वर्तन्यकूर्चमान्यकूर्चनमिष्यते ।
लेप्यकर्मणि तच्छस्तसनामणवः ॥१४॥
जलचूर्णकमानीतमिह सत्सन्तितो?) + + ।
कूर्चकं धारयेद् धीमान् वषश्रवणरोमभिः ॥१५॥
+ + + + + तत्कृतकूर्चकैः ।
वल्कलैर्वा विधातव्यः खरकेशैरथापि वा ॥१६॥
कूर्चको (येमतिर्यापि?) विहितोऽत्र प्रशस्यते ।
(कूर्चकं धारयेद धीमान् वृषश्रवणरोमभिः?) ॥१७॥
तन्तूतः कूर्चकः श्रेष्ठो विले(प?खा)कर्मणि स्वतः ।
आद्यो वटाङ्कुराकारस्ततोऽश्वथाङ्कुराकृतिः ॥१८॥
प्लक्षसूचीनिभश्चान्यस्तृतीयः कूर्चको भवेत् ।
उदुम्बराङ्कुराकारश्चतुर्थः परिकीर्तितः ॥१९।
स्थूला लेखा न कुर्वीत वटाङ्कुरनिभादितः ।
न्यूनलेखा न कुर्वीत प्लक्षाङ्कुरसमेन च ॥२०॥
अश्वत्थाङ्कुररूपेण यत्र (विद्वतसहीकरात्?) ।
उदुम्बराङ्कुराकारो लेप्यकर्मणि शस्यते ॥२१॥
ज्येष्ठः स्यादायतो दण्डो वैणवो + + + ङ्गुलः ॥२२½॥
लेप्यकर्म गदितं समासतः संस्कृ(तं?तेः)विधिरनन्तरं मृदः ।
अत्र सम्यगुदिता विलेखनी कूर्चकस्य रचना (च) पञ्चधा ॥२३॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे

लेप्यकर्मविलेखालक्षणं नाम

द्विपञ्चाशोऽध्यायः

त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

अण्डक-लक्षणम्

अथात्र प्रक्रमायाता कथ्यतेऽण्डकवर्तना ।
कायप्रमाणमपि च जातिभावादिसंश्रयम् ॥१॥
अथ (मधोतिरालिख्य तोरका सन्निवेशयेत् ।
तारका?) त्रयमालेख्य तत्रान (न समायति ॥२॥
ताव(त् प्रमाणमायामं गोल(क)स्योत्तमं विदुः ।
तेन गोलकत्वेन ?) मानोन्माने तु कारयेत् ॥३॥
मुखाण्डकस्य विस्तारो (लेप? षट्केन सम्मितः ।
द्विदैर्घ्यं तु (?) गोलकाः सप्त वापीसंस्थानमेव च ॥४॥
मुखाण्डकमिदं श्रेष्ठं कर्तव्यं चित्रकर्मणि ।
त्रिकोटि वृ(न्ति?त्त) मालेख्यं वृत्ताण्ड(क)मिति क्रमात् ॥५॥
(भावाण्डकान्यथ ब्रूमः सोहस्याभिप्रस्तवेढकम् ? ।
गोलार्धाभ्यधिकं कार्यं (पूर्वेस्तोत्तद्विचक्षणैः?) ॥६॥
अर्धगोलकमायामादलसाण्डकमुच्यते ।
नवगोलकदैर्घ्यं तदद्वहासमुखं (?) भवेत् ॥७॥
पुंसां षडा (दात्तं?यतं) मानं विस्तारात् पञ्चगोलकम् ।
वनिताण्डकमालेख्यं नालिकेरफलोपमम् ॥८॥
चतुर्गोलकविस्तीर्णमायतं पञ्चगोलकान् ।
शिशूनामण्डकं तावत् कर्तव्यं चित्रकर्मणि ॥९॥
(हास्योभिः प्रस्रवेत् ?) तस्य गोलकार्धान् विशेषयेत् ।
आलस्याण्डकमप्येवं रोदनं तद्वदेव तु ॥१०॥
षडगोलक(प्र)विस्तारमायतं सप्तगोलकम् ।
राक्षस्ययाण्डकं कुर्याच्चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥११॥
(हास्योभिप्रस्तवे?) तस्य गोलकार्धान् विशेषयेत् ।
देवाण्डकं प्रमाणेन तदालस्येऽत्र कीर्तितः (?) ॥१२॥

षडगोलक (प्र) विस्तारं गोलकाष्टकमायतम् ।
वृत्तायतं समालेख्यं दिव्याण्डकमिति स्मृतम् ॥१३॥
अथाभिधीयते दिव्यमानुषाण्डक-लक्षणम् ।
गोलकार्ताधिकं धच्च कार्यं मानुषमानतः ॥१४॥
पञ्चगोलकविस्तीर्णं षड्गोलकसमायतम् ।
मुखाण्डं मानुषं कृत्वा (केत्तरस्य?) विधीयते ॥१५॥
शिशुकाण्डकमानेन प्रमथानां मुखाण्डकम् ।
राक्षसाण्डकमानेन यातुधानाण्डकं भवेत् ॥१६॥
दानवस्याण्डकं कुर्याद् देवानां वदनोपमम् ।
गन्धर्वनागयक्षाणां तद्वदेवाण्डकं भवेत् ॥१७॥
विद्याधराणां विज्ञेयं दिव्यमानुषमण्डकम् ।
बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वते ॥१८॥
करामलकव (त्यास्यं पर?) द्वयमप्यदः ।
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित् ॥१९॥
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः ॥१९½॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे

अण्डक-लक्षणं नाम
त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षणम्

ब्रूमोऽथ मानगणनम् परमाण्वादि तद् भवेत् ॥१॥
परमाणू रजो रोम लिक्षा यूका यवोऽङ्गुलम् ।
क्रमशोऽष्टगुणा वृद्धिरेवं मानाङ्गुलं भवेत् ॥२॥
द्व्यङ्गुलो गोलको ज्ञेयः कलां वा तां प्रचक्षते ।
द्वे कले गोलकौ वा द्वौ भागो मानेन तेन तु ॥३॥
आयामाद् विस्तृतेश्चित्रमन्यूनाधिकमाचरेत् ।
देवादीनां शरीरं स्याद् विस्तारेणाष्टभागिकम् ॥४॥
त्रिंशद् भागायतं चैतद् विदध्याच्चित्रशास्त्रवित् ।
असुराणां शरीरं स्याद् भागान् सप्तार्धसंयुतान् ॥५॥
विस्तारेण तदायामादेकान्नत्रिंशदिष्यते ।
सप्तभागं राक्षसानां विस्तारेणायतं पुनः ॥६॥
सप्तविंशतिभागं स्याद् यत् पुनर्दिव्यमानुषम् ।
(सार्धा तु षडंशास्त कुर्यात्याद्वशत्यायतम् ?)॥७॥
षड्भागविस्तृतं कार्यं शरीरं मर्त्यजन्मनि ।
चतुर्विंशतिभागान्+सार्धान् कुर्वीत दैर्घ्यः ॥८॥
पुरुषस्योत्तमस्यैतन्मानमस्माभिरीरितम् ।
मध्यमस्य तु सार्धं स्याद् विस्ताराद् भागपञ्चकम् ॥९॥
आयामस्तस्य तु प्रोक्तो विंशतिस्त्रिभिरन्विता ।
कनीयसः शरीरस्य विस्तारः पञ्चभागिकः ॥१०॥
दैर्घ्यमस्य विधातव्यं विंशतिश्चतुरन्विता ।
दै र्घ्य? र्घ्यं) द्वाविंशतिर्भागा वपुषोऽस्य प्रशस्यते ॥११॥
कार्यं शरीरं कुब्जानां विस्तारात् पञ्चभागिकम् ।
दैर्घ्यमस्य विधातव्यं तथा भागांश्चतुर्दश ॥१२॥

भागपञ्चकस्वितारं वामनानां वपुर्भवेत् ।
कुर्वीत सा(र्ध?र्धान्) सप्तैव भागा(न्) दैर्घ्येण तत् पुनः ।।१३।।
किन्नराणामपि प्रोक्तं प्रमाणमिदमेव हि ।
प्रमथानां तु विस्तारो वपुषोंऽशचतुष्टयम् ।।१४।।
दैर्घ्यं भवेत् पुनस्तस्य भागषट्कप्रमाणतः ।
उक्तं देहप्रमाणस्य भागसूत्रमिदं पृथक् ।।१५।।
देवानामसुराणां च राक्षसानां तथैव च ।
दिव्यामानुषमर्त्यानां कुब्जवामनयोरपि ।।१६।।
किन्नराणां सभूतानां क्रमेणास्मिन्नुदाहृतम् ।।१७½।।
इत्थमण्डकविलेखनक्रमः
कायमानमपि जातिभेदतः ।
भावतश्च कथितं विभा(जन्मना?)वयन्
यो लिखेत् स खलु चित्रवित्तमः ।
अथ मानसमुत्पत्तिर्यथावदभिधीयते ।।१८।।
देवानां त्रीणि रूपाणि सुरजो + + कुम्भकौ ।
स्याद् दिव्यमानुषस्यैकं शरीरं दिव्यामानुषम् ।।१९।।
असुराणां त्रिधा रूपं चक्रमुत्तीर्णकं तथा ।
दुर्दरः शकटः कूर्म (त्रिदिवौ?इति द्वे) रक्षसां पुनः ।।२०।।
पुंसां रूपाणि पञ्च स्युस्तान्युच्यन्ते यथाक्रमम् ।
हंसः शशकरुचकौ भद्र मालव्यएव च ।।२१।।
कुब्जस्तु द्विविधौ ज्ञेयो मेषो वृत्तकरस्तथा ।
वामनास्त्रिविधा ज्ञेयाः सपिण्डास्थानपद्मकाः ।।२२।।
कूश्माण्डकर्वटस्तिर्यक् त्रिविधा प्रमथाः पुनः ।
मयूरः कुर्वटः काशः किन्तरस्त्रिविधो भवेत् ।।२३।।
बालका पौरुषी वृत्ता + + + दण्डका तथा ।
त्रयः (?) पञ्चधा प्रोक्ताः समस्ताश्चित्रवेविभिः ।।२४।।
भद्रो मन्दो मृगो मिश्र इति हस्ती चतुर्विधः ।
जन्मतस्त्रिविधं प्राहुर्गिरिनद्यूषराश्रयम् ।।२५।।
द्विविधा वाजिनो रथ्याः पारसादुत्तरान्ततः ।
सिंहाश्चतुर्धा शिखिरबिलगुल्मतृणाश्रयाः ।।२६।।

व्यालाः षोडश निर्दिष्टा हरिणो गृध्रकः शुकः ।
कुक्कुटः सिंहशार्दूलवृकाजागण्डकीगजाः ॥२७॥
क्रोडाश्वमहिषश्वानो मर्कटःखर इत्यमी ।
शुक्लवासाः शुचिर्दक्षः स्त्रीशूद्रानभिलाषुकः ॥२८॥
आरम्भो देवतार्चानां रोहिण्यामुत्तरेषु च ।
स्थाने कर्मारभेतैतद् विभक्ते संवृतेऽपिच ॥२९॥
साधकं वा भवेद् यत्तु तदारम्भो विधीयते ।
एवं विधानतो योज्यं रूपजातमशेषतः ॥३०॥
जातीनां वशत प्रमाणमुक्तं
दिव्यादिष्वखिलमिदं स्फुटं विदित्वा ।
यश्चित्रं लिखति बहुप्रकारमस्मै
प्राधान्यं वितरति चित्रकृत्समूहः ॥३१॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षणं नाम
चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः

रसदृष्टि-लक्षणम्

रसानाम(थ) वक्ष्यामो दृष्टीनां चेह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥१॥
शृंगारहास्यकरुणा रौद्रप्रेयोभयानकाः ।
वीर(प्रत्ययाक्षौ?) च बीभत्सश्चाद्भुतस्तथा ॥२॥
शा-तश्चैकादशेत्युक्ता रसाश्चित्रविशारदैः ।
निगद्यते क्रमेणैषां सर्वेषामपि लक्षणम् ॥३॥
सभ्रूकम्प (कटक्षपेच?) तथा प्रेमगुणान्वितः ।
यत्रेष्टललिता चेष्टा स शृंगारो रसः स्मृतः ॥४॥
विकासिललितापाङ्गो मृद्गु वा (?) स्फुरिता(ध)रः ।
लीलया सहितो यश्च स हास्यो रस उच्यते ॥५॥
अश्रुक्लिन्नकपोलान्तः लोकसङ्कुचितेक्षणः ।
चित्तसन्तापसंयुक्तः प्रोच्यते करुणो रसः ॥६॥
निर्माजितललाटान्तः संरक्तोद्वृत्तलोचनः ।
दन्तदष्टाधरोष्ठो यः स रौद्रो रस उच्यते ॥७॥
अर्थलाभसुतोत्पत्तिप्रियदर्शनहर्षजः ।
संजातपुलकोद्भेदो रसः प्रेमा स उच्यते ॥८॥
वैरिदर्शनवित्राससम्भ्रान्तोद्भ्रान्तलोचनः ।
हृदि संक्षोभयोगाच्च रसो ज्ञेयो भयानकः ॥९॥
(अष्टावष्टम्भसमेर्था?) सूत्रसङ्कुचितानत; ।
धैर्यवीर्यबलोत्पन्न स वीरस्तु रसः स्मृतः ॥१०॥
टि०—इह वीरादनन्तरवोर्द्वयो रसयोर्लक्षणं लुप्तम् ।
(ईषदुप्तसितत्र कस्तच्च?) स्तिमिततारकः ।
असम्भाव्यं विलोक्यार्थमद्भुतो जायते रसः ॥११॥

अविकारैः प्रसन्नश्च भ्रूनेत्रवदनादिभिः ।
अरागाद् विषयेषु स्याद् यः स शान्तो रसः स्मृतः ॥१२॥
इत्येते चित्रसंयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्त्वेषु योजयेत् ॥१३॥

इति रसाः ।

अथ दृष्टीरभिदध्मो ललिता हृष्टा विकासिता विकृता ।
भ्रुकुटी विभ्रमसंज्ञा सङ्कुचिता (छवितनाप्रीव?) ॥१४॥
स्याच्छङ्किताभिधाना (विविख्याव?) जिह्मा च ।
मध्यस्थेति तथान्या स्थिरा चाष्टादशैवमुद्दिष्टाः ॥१५॥
ऊर्ध्वगता योगिन्यथ दीना दृष्टा च विह्वला चैव ।
एतादृशोऽथ लक्षणमेतासामुच्यते क्रमशः ॥१६॥

विकसित (प्रगल्लाससम्भ्रमत्र?) कटाक्षविक्षेपा ।
शृङ्गारस्योद्भूता दृष्टिर्ललितेति विज्ञेया ॥१७॥
प्रियदर्शने प्रसन्ना प्रोद्गतरोमाञ्चविकसिता पाङ्गा ।
(प्रस्तरसासि ?) जाता हृष्टा दृष्टिः समाख्यता ॥१८॥

विकसितनयनप्रान्ता वि(का)सितापाङ्गनयनगण्डतला ।
क्रीडाकारयुता(न्या) हास्यरसे(स्याद्) विकासिता दृष्टिः ॥१९॥
विख्याता प्रीतिविकारि(?) र्व्यक्तमया भ्रान्ततारका या च ।
ज्ञेया (विकृत्यकारैः सारै च?) भयानका दृष्टिः ॥२०॥

दीप्तोर्ध्वतारकाताम्रपतता मन्ददर्शना ।
दृष्टिरूर्ध्वं निविष्टा तु भ्रुकुटिः परिकीर्तिता ॥२१॥
स्वस्था दृढलक्ष्मा ससौष्ठवव्यक्तताकरा सौम्या ।
(विप्रत्यपरजालाता?) दृष्टिः स्याद् विभ्रमा नाम ॥२२॥

मन्मथमदेन युक्ता स्पर्शरसोन्मीलिताक्षिपुटयुग्मा ।
सुरतसुखानन्दयुता संकुचिता नाम दृष्टिराख्याता ॥२३॥
निर्विकारा क्वचित् तावन्नासिकाग्रावलोकिनी ।
योगिनी नाम सा दृष्टिस्तत्त्वे चित्तस्य योजनात् ॥२४॥
अर्धस्रस्तोत्तरपुटा किञ्चित् संरुद्धतारका ।
मन्दसञ्चारिणी सास्रा शोके दीनाभिधीयते ॥२५॥

संस्थिते तारके यस्याः स्थिरा विकसिता तथा ।
सत्वमुग्दिरतीदृष्टादृष्टिरुत्साहसम्भवा ॥२६॥
म्लानभ्रू पुटपक्ष्मा या शिथिला मन्दचारिणी ।
(क्राम?) प्रविष्टतारा च विह्वला नाम सा स्मृता ॥२७॥
किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चिदुत्ताना तिर्यगायता ।
मूढा चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरिष्यते ॥२८॥
आनिकुञ्चितपक्ष्मा या पुटैराकुञ्चिता तथा ।
(सत्रिजन्त+?) तारा च कुञ्चिता दृष्टिरुच्यते ॥२९॥
लम्बितार्धपुटातिर्यग्रूक्षेक्षणा शनैः ।
निगूढा गूढतारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥३०॥
ऋजुतारा ऋजुपुटा प्रसन्ना रागवर्जिता ।
त्यक्तादरा च विषये मध्यस्था दृष्टिरुच्यते ॥३१॥
समतारा समपुटा समभ्रू रविकारिणी ।
(उपगारा?) विहीना च स्थिरा दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥३२॥
हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्येते सर्वाभिनयदर्शनात् ॥३३॥
आङ्गिके चैव चित्रे च द्वयोस्साधनमुच्यते ।
(भवेदत्रादत?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम् ॥३४॥

दृष्टिः ।

प्रोक्तं रसानामिदमत्र लक्ष्म दृशां च सङ्क्षिप्ततया तवै (त्ये?त्) ।
विज्ञाय चित्रं लिखतां नराणां न संशयं याति मनः कदाचित् ॥३५॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे

रसदृष्टिलक्षणं नाम

पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

षष्ठः पटलः

प्रतिमा-लक्षणम्

आलेख्य-कर्मणः तक्षण-कौशलस्य च सामान्याङ्गम्

१. प्रतिमा-द्रव्याणि, प्रतिमाङ्गोपाङ्गनिर्माणार्थ-मान-विधिः

२. चित्र्यदेवादिरूपेषु आयुधाभूषणलाञ्छनादिसंयोग-लक्षणम्

३. चित्र्य-देव-देवी-प्रतिमाधार—पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षणम्

४. चित्र-प्रतिमा-गुण-दोष-निर्णयः

५. चित्र-प्रतिमा-सामान्य-मुद्राः—शरीर-मुद्राः, पाद-मुद्राः हस्त-मुद्राश्च :—

अ ऋज्वागतादि-स्थान-मुद्राः

ब वैष्णवादि-स्थानक-मुद्राः

स पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्तमुद्राः—संयुताः, असंयुताः नृत्याश्च ।

प्रतिमा - लक्षणम्

प्रतिमानामथ ब्रूमो लक्षणं द्रव्यमेव च ।
सुवर्णरूप्यताम्राश्मदारुलेख्यानि शक्तितः ॥१॥

चित्रं चेति विनिर्दिष्टं द्रव्यमर्चासु सप्तधा ।
सुवर्णं पुष्टिकृद् विद्याद् रजतं कीर्तिवर्धनम् ॥२॥
प्रजाविवृद्धि(जं?दं) ताम्रं शैलेयं भूजयावहम् ।
आयुष्यं दा(वरच?रवं) द्रव्यं लेख्यचित्रे धनावहे ॥३॥

प्रारभेद् विधिना प्राज्ञो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
हविष्यनियताहारो जपहोमपरायणः ॥४॥

शयानो धरणीपृष्ठे (कुशास्तरणे तदन्तरम् ?)
अप्राप्नाया(?) द्वयोर्मध्यं भवेत् पञ्चाक्षिसम्मितम् ॥५॥
नेत्रश्रवणयोर्मध्यं भवेदङ्गुलपञ्चकम् ।
कर्णौ चाक्षिसमौ ज्ञेयाबुत्सेधाद् द्विगुणायतौ ॥६॥

(सा कर्णपाली स्यान्मध्यं पत्पिष्यल्यकृकूटयोः ।
द्विभागोलकायता पिष्पल्याश्रिताङ्गुलविस्तृता?) ॥७॥

अरोमप्रभवा ज्ञेया व्याकृष्टधनुराकृतिः ।
एवम्प्रमाणं स्यादेषां कर्णपृष्ठाश्रयोऽपिच ॥८॥

ऊर्ध्वबन्धादधोबन्धः कर्णमूलसमाश्रि (ता?तः) ।
अध्यर्धं गोलकं ज्ञेयः पृष्ठश्चैवमेव सः ॥९॥

निष्पावसदृशाकारा कर्तव्या कर्णपिप्पली ।
आयामेनाङ्गुलं सा स्याद् विस्तारेण चतुर्य(या?वा) ॥१०॥
पिप्पल्याधातयोर्मध्ये (?) लकार इति संज्ञितः ।
स्याद(ध्य)धिङ्गुलायामो विस्तारेण च सोऽङ्गुलम् ॥११॥

मध्ये लकारो निम्नः स्यान्मानाद् यवचतुष्टयम् ।
मूले पिप्पलिकायाः स्याच्छ्रोत्रच्छिद्रं चतुर्यवम् ॥१२॥
या (गोलकारपीगूष्मो स्तृतिकेति ?) प्रकीर्तिता ।
अर्धाङ्गुलायता सा स्याद् यवद्वितयविस्तृता ॥१३॥
लकारावर्तयोर्मध्ये पीयूषी सा प्रकीर्तिता ।
अङ्गुलद्वितयायामा विस्तृता सार्धमङ्गुलम् ॥१४।
कर्णस्य बाह्या रेखा या तामावर्तं प्रचक्षते ।
षडङ्गुलप्रमाणा स्याद् वक्रो वृत्तायतश्च सः ॥१५॥
मूलांशोऽर्धाङ्गुलः कार्यः क्रमान्मध्ये यवद्वयम् ।
अग्रे यवप्रमाणश्च विस्तारेण विधीयते ॥१६॥
लकारावर्तयोर्मध्यमुद्घात इति कीर्तितम् ।
अधोभागे+पीयूष्या विस्तारेण यवत्रयम् ॥१७॥
ऊर्ध्वतः कर्णविस्तारो गोलकाद् द्वियवान्वितः ।
मध्ये च द्विगुणं नालं मूले मात्रा स(पद्म?षड्य)वा ॥१८॥
समुदायप्रमाणेन गोलक द्वितयायतः ।
कर्णप्रसप्तः (?) कर्तव्यो निम्नो(ञ्चूमत?)विभागवान् ॥१९॥
अङ्गुलं पश्चिमं नालं पूर्वमर्धाङ्गुलं भवेत् ।
कुर्वीत कोमले नाले क(ल?ला) द्वितयमायते ॥२०॥
श्रवणस्य विभागोऽयं (पर्वा?यथा)वत् परिकीर्तितः ।
अन्यूनाधिकमानः स्यात् प्रशस्तो दूषितोऽन्यथा ॥२१॥
चिबुकं द्वयङ्गुलायामं तस्यार्धमधरं विदुः ।
तदर्धमुत्तरोष्ठः स्याद् भाजी चार्धाङ्गुलो(ष्टधा?च्छ्रया) ।२२॥
नासापुटौ तु विज्ञेयौ चतुर्थं भाग(मष्ट?मोष्ठ)योः ।
तयोः प्रान्तौ तु कर्तव्यौ करवीरसमौ शुभौ ॥२३॥
तारकान्तःसमे चैव सृक्कणी परिचक्षते ।
नासिका स्या(त्)प्रमाणेन चतुरङ्गुलमाय(ते?ता) ॥२४॥
पुट(भा?प्रा)न्ते च विस्तारो नासाग्रस्याङ्गुलद्वयम् ।
विस्तारेणाङ्गुलान्यष्टौ तदर्धमपि चायतम् ॥२५॥

प्रमाणगुणसंयुक्तं ललाटं परिकीर्तितम् ।
आरभ्य चिबु(कां? काद्) यावत् (कु? के)शान्तं पश्चिमात् तथा ॥२६॥
ग(णिक? ण्डा)न्तं शिरसो मानं भवेद् द्वात्रिंशदङ्गुलम् ।
+ + + कर्णयोर्मध्ये (मष्टको?)ऽष्टादशाङ्गुलः ॥२७॥

+ ग्रीवयोः परीणाहो विंशतिश्चतुरन्विता ।
(श्री? ग्री)वातः स्यादुरोभा(गा? ग) उरसो नाभिरेव च ॥२८॥
नाभेर्मेढं भवेद् भागौ द्वावूरुद्वयमेव च ।
ऊर्वोः समे मते जङ्घे जानुनी चतुरङ्गुले ॥२९॥

चतुर्दशाङ्गुलौ पादौ स्मृतावायाममानतः ।
षडङ्गुलौ तु विस्तारादुत्सेधाच्चतुरङ्गुलौ ॥३०॥
पञ्चाङ्गुलपरीणाहावङ्गुष्ठौ त्र्यङ्गुलायतौ ।
अङ्गुष्ठकसमा चैव स्यादायामा(त्) प्रदेशिनी ॥३१॥

तस्याः षोडशभागेन हीना स्यान्मध्यमाङ्गुलिः ।
अष्टभागेन म(ध्ये? ध्या)या हीनां विद्यादनामिकाम् ॥३२॥

तस्याश्चैवाष्टभागेन हीना ज्ञेया कनिष्ठिका ।
पादोनमङ्गुलं कुर्यादङ्गुष्ठस्य नखं बुधः ॥३३॥

अङ्गुलीनां नखान् कुर्यात् (खं?) पञ्चत्र्यंशसंमितान् ।
कुर्वीताङ्गुष्ठकोत्सेधं त्रियवान्वितमङ्गुलम् ॥३४॥

प्रदेशिन्यङ्गुलोत्सेधा हीना (:) शेषा यथाक्रमम् ।
जङ्घामध्ये परीणाहो भवेदष्टादशाङ्गुलः ॥३५॥

जानुमध्ये परीणाहोऽङ्गुलान्येकविंशतिः ।
तस्यैव सप्तमं भागं विद्याज्जानुकपालकम् ॥३६॥

(कु? ऊ)रुमध्ये परीणाहो भवेद् द्वात्रिंशदङ्गुलः ।
(भागार्धमांशैं?) वृषणौ मेढं वृषणसंस्थितम् ॥३७॥
षडङ्गुलपरीणाहं कोशस्तु चतुरङ्गुलः ।
अष्टादशाङ्गुलमिता विस्तारेण कटिर्भवेत् ॥३८॥

अङ्गुलार्धं (भवेन्नारीरोधोवश्वाङ्गुलं?) भवेत् ।
नाभिमध्ये परीणाहः षट्चत्वारिंशदङ्गुलः ॥३९॥

द्वादशाङ्गुलमात्रं तु स्तनयोरन्तरं विदुः ।
स्तनोरुपरिष्टात्तु कक्षप्रान्तौ षडङ्गुलौ ॥४०॥
उत्सेधात् पृष्ठविस्तारो विंशतिश्चतुरन्विता ।
उरसः सह पृष्ठेन परीणाहः प्रकीर्तितः ॥४१॥

षडङ्गात् परीमाणादङ्गुलानीति निश्चयः (?) ।
परीणाहाच्चतुर्विंशत्यङ्गुलाष्टौ च विस्तृता ॥४२॥
ग्रीवा कार्या भुजायामः षट्चत्वारिंशदङ्गुलः ।
पर्वोपरितानं बाहोः कार्यमष्टादशाङ्गुलम् ॥४३॥

षोडशाङ्गुलमात्रं तु द्वितीयं पर्व कथ्यते ।
बाहुमध्ये परीणाहो भवेदष्टादशाङ्गुलः ॥४४॥
प्रबाहोस्तु परीणाहो भवति द्वादशाङ्गुलः ।
आयामेन तलश्चापि कीर्तितो द्वादशाङ्गुलः ॥४५॥

अङ्गुलीरहितः प्राज्ञैः सप्ताङ्गुल उदाहृतः ।
पञ्चाङ्गुलानि विस्तीर्णो लेखालक्षणलक्षितः ॥४६॥
पञ्चाङ्गुलानि मानेन कर्तव्या मध्यमाङ्गुलिः ।
पर्वणोऽर्धं तु मध्याया हीनां विद्यात् प्रदेशिनीम् ॥४७॥

प्रदेशिनीसमा चैव स्यादायामादनामिका ।
पर्वार्धमानहीना च प्रमाणेन कनिष्ठिका ॥४८॥
अङ्गुलीनां नखाः कार्याः सर्वे पर्वार्धसंमिताः ।
आयाममात्रमेतासां परीणाहं प्रचक्षते ॥४९॥

अङ्गुष्ठकस्य दैर्ध्यं स्यादङ्गुलानां चतुष्टयम् ।
पञ्चाङ्गुलं परीणाहः स्पष्टचारुयवाङ्कितः ॥५०॥

तुङ्गात्तमानपर्यन्तात् किञ्चिद्धीना नखा मताः ।
अङ्गुष्ठकप्रदेशिन्योरन्तरं द्व्यङ्गुलं भवेत् ॥५०॥

स्त्रीणामप्येवमेतत् स्यात् स्तनोरुजघनाधिकम् ।
त्रीणि चत्वारि चत्वारि त्रीणि चत्वार्यथापि च ॥५२॥
एकादशैकादश वा दशवा विंशतिस्त्रयम् ।
विंशतिस्त्रीणि च स्त्रीणां मानमेतत् प्रकीर्तितम् ॥५३॥

कनिष्ठं मानमेतत् स्यान्मध्यं सत्र्यंशमष्टकम् ।
कलानामष्टकं सार्धमुत्तमं परिकीर्तितम् ॥५४॥
उरसश्च भवेत् तासां विस्तारोऽष्टादशाङ्गुलः ।
कर्तव्यः कटिविस्तारो विंशतिश्चतुरन्विता ॥५५॥
एतत् प्रमाणमुद्दिष्टं प्रतिमानां समासतः ॥५६½॥

प्रमाणमेतत् सकलामराणामर्चासु निर्दिष्टमनुक्रमेण ।
कार्यं सदा शिल्पिरप्रमत्तैर्यथोचितद्रव्यसमुद्भवासु ॥५७॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे

प्रतिमालक्षणं नाम

षट्पञ्चाशोऽध्यायः

देवादिरूपप्रहरणसंयोग-लक्षणम्

त्रिदशानामथाकारान् ब्रूमः प्रहरणानि च ।
दैत्यानामथ यक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ॥१॥
विद्याधरपिशाचानां + + + + यथायथम् ।
ब्रह्मानलार्चिःप्रतिमः कर्तव्यः सुमहाद्युतिः ॥२॥
स्थूलाङ्गः श्वेतपुष्पश्च श्वेतवेष्टनवेष्टितः ।
कृष्णाजिनोत्तरीयश्च श्वेतवासश्चतुर्मुखः ॥३॥
दण्डः कमण्डलुश्चास्य कर्तव्यो वामहस्तयोः ।
अक्षसूत्रधरस्तद्वद् मौञ्ज्या मेखलया वृतः ॥४॥
कार्यो वर्धयमानस्तु जगद् दक्षिणपाणिना ।
एवं कृते तु लोकेशे क्षेमं भवति सर्वतः ॥५॥
ब्राह्मणा सर्वे वर्धन्ते सर्वकामैर्न संशयः ।
यदा विरूपा दीना वा कृशा रौद्रा कृशोदरी ॥६॥
ब्रह्मणोऽर्चा भवेद् वर्णा (?) सा नेष्टा भयदायिनी ।
निहन्ति कारकं रौद्रा दीनरूपा च शिल्पिनम् ॥७॥
कृशा व्याधिं विनाशं च कुर्यात् कारयितुः सदा ।
कृशोदरी तु दुर्भिक्षं विरूपा चानपत्यताम् ॥८॥
एतान् दोषान् परित्यज्य कर्तव्या सा सुशोभना ।
ब्रह्मणोऽर्चा विधानज्ञैः प्रथमे यौवने स्थिता ॥९॥
चन्द्राङ्कितजटः श्रीमान् नीलकण्ठः सुसंयतः ।
विचित्रमुकुटः शम्भुर्निशाकरसमप्रभः ॥१०॥
दोर्भ्यां द्वाभ्यां चतुर्भिर्वा युक्तो वा दोर्भिरष्टभिः ।
पट्टिशव्यग्रहस्तश्च पन्नगाजिनसंयुतः ॥११॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णो नेत्रत्रितयभूषणः ।
एवंविधगुणैर्युक्तो यत्र लोकेश्वरो हरः ॥१२॥

परा तत्र भवेद् वृद्धिर्देशस्य च नृपस्य च ।
यदारण्ये श्मशाने वा विधीयेत महेश्वरः ॥१३॥
एवंरूपस्तदा कार्यः कारकस्य शुभावहः ।
अष्टादशभुजो दोष्णां विंशत्या वा समन्वितः ॥१४॥
शतबाहुः कदाचिद्वा सहस्रभुज एव च ।
रौद्ररूपो गणवृतः सिंहचर्मोत्तरीयकः ॥१५॥
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रदशनः शिरोमालाविभूषितः ।
चन्द्राङ्कितशिराः श्रीमान् पीनोरस्कोग्रदशनः ॥१६॥
भद्रमूर्तिस्तु कर्तव्यः श्मशानस्थो महेश्वरः ।
द्विभुजो राजधान्यां तु पत्तने स्याच्चतुर्भुजः॥ १७॥
कर्तव्यो विंशतिभुजः श्मशानारण्यमध्यगः ।
एकोऽपि भगवान् भद्रः स्थानभेदविकल्पितः ॥१८॥
रौद्रसौम्यस्वभावश्च क्रियमाणो भवेद् बुधः ।
उद्यन् यथा भवेद्भानुर्भगवान् सौम्यदर्शनः ॥१९॥
स एव तीक्ष्णतामेति मध्यन्दिनगतः पुनः ।
तथारण्यस्थितो नित्यं रौद्रो भवति शङ्करः ॥२०॥
स एव सौम्यो भवति स्थाने सौम्य व्यवस्थितः ।
स्थानान्येतानि सर्वाणि ज्ञात्वा किम्पुरुषादिभिः ॥२१॥
प्रमथैः सहितः कार्यः शङ्करो लोकशङ्करः ।
एतद् यथावत् कथितं संस्थानं त्रिपुरद्रुहः ॥२२॥
कार्तिकेयस्यः संस्थानमिदानीमभिधीयते ।
तरुणार्कनिभो रक्तवासाः पावकसप्रभः ॥२३॥
ईषद्बालाकृतिः कान्तो मङ्गल्यः प्रियदर्शनः ।
प्रसन्नवदनः श्रीमानोजस्तेजोऽन्वितः शुभः ॥२४॥
विशेषान्मुकुटैश्चित्रैः मुक्तामणिविभूषितः ।
षण्मुखो वैकवक्त्रो वा शक्तिं रोचिष्मतीं दधत् ॥२५॥
नगरे द्वादशभुजः खेटके षड्भुजो भवेत् ।
ग्रामे भुजद्वयोपेतः कर्तव्यः शुभमिच्छता ॥२६॥
शक्तिः शरस्तथा खड्गो मुस्टण्ठी मुद्गरोऽपि च ।
हस्तेषु दक्षिणेष्वेतान्यायुधान्यस्य दर्शयेत् ॥२७॥

एकः प्रसारितश्चान्यः षष्ठो हस्तः प्रकीर्तितः ।
धनुः पताका घण्टा च खेटः कुक्कुटकस्तथा ॥२८॥
वामहस्तेषु षष्ठस्तु तत्र संवर्धनः करः ।
एवमायुधसम्पन्नः सङ्ग्रामस्थो विधीयते ॥२९॥
अन्यदा तु विधातव्यः क्रीडालीलान्वितश्च स
छागकुक्कुटसंयुक्तः शिखियुक्तो मनोरमः ॥३०॥
नगरेषु सदा कार्यः स्कन्दः परजयैषिभिः ।
खटके तु विधातव्यः षण्मुखो ज्वलनप्रभः ॥३१॥
तथा तीक्ष्णायुधोपेतः स्रग्दामभिरलङ्कृतः ।
ग्रामेऽपि द्विभुजः कार्यः कान्तिद्युतिसमन्वित ।
दक्षिणे च भवेच्छक्तिर्वामे हस्ते तु कुक्कुटः ।
विचित्रपक्षः (स?सु) महान् कर्तव्योऽतिमनोहरः ॥३३॥
एवं पुरे खेटके च ग्रामे (वामिलं?) शुभम् ।
कार्त्तिकेयं + + कुर्यादाचार्यः शास्त्रकोविदः ॥३४॥
अविरुद्धेषु कार्येषु खेटे ग्रामे पुरोत्तमे ।
कार्तिकेस्य संस्थानमेतद् यत्नेन कारयेत् ॥३५॥
बलस्तु सुभुजः श्रीमांस्तालकेतुर्महाद्युतिः ।
वनमालाकुलोरस्को निशाकरसमप्रभः ॥३५॥
गृहीतसीरमुसलः कार्यो दिव्यमदोत्कटः ।
चतुर्भुजः सौम्यवक्त्रो नीलाम्बरसमावृतः ॥३७॥
मुकुटलङ्कृतशिरोरोहो रागविभूषितः ।
रेवतीसहितः कार्या बलदेवः प्रतापवान् ॥३८॥
विष्णुर्वैदूर्यसंकाशः पीतवासाः श्रियावृतः ।
वराहो वामनश्च स्यान्नरसिंहो भयानकः ॥३९॥
कार्यो वा दाशरथी रामो जामदग्न्यश्च वीर्यवान् ।
द्विभुजो षट्भुजो वापि चतुर्बाहुररिन्दमः ॥४०॥
शङ्खचक्रगदापाणिरोजस्वी कान्तिसंयुतः ।
नानारूपस्तु कर्तव्यो ज्ञात्वा कार्यान्तरं विभुः ॥४१॥
इत्येषु विष्णुः कथितः सुरासुरनमस्कृतः ।
त्रिदशेशः सहस्राक्षो वज्रभृत् सुभुजो बली ॥४२॥

किरीटी सगदः श्रीमान् श्वेताम्बरधरस्तथा ।
श्रोणिसूत्रेण महता दिव्याभरणभूषितः ॥४३॥
कार्यो राजश्रिया युक्तः पुरोहितसहायवान् ।
वैवस्वतस्तु विज्ञेयः (कालेः केसं?) परायणः ॥४४॥
तेजसा सूर्यसंकाशो जाम्बूनदविभूषितः ।
सम्पूर्णचन्द्रवदनः पीतवासा (स्तु? :शु) भेक्षणः ॥४५॥
विचित्रमुकुटः कार्यो वराङ्गदविभूषितः ।
तेजसा सूर्यसङ्काशः कर्तव्यो बलवाञ्छुभः ॥४६॥
धन्वन्तरिर्भरद्वाजः प्रजानीयतयस्तथा ।
दक्षार्थाः सदृशा कार्या कार्यो रूपाणिरपि ? ॥४७॥
अर्चिष्मान् ज्वलनः कार्यः (यत्कण्ठाश्व?) समीरणः ।
सौम्यः कार्यस्तथा (विस्या?) + + रूद्रशरीरिणः ॥४८॥
रक्तवस्त्रधराः कृष्णा नानाभरणभूषिताः ।
कर्तव्या राक्षसाः सर्वे बहुप्रहरणान्विताः ॥४९॥
पूर्णचन्द्रमुखा शुभ्रा बिम्बोष्ठी चारुहासिनी ।
श्वेतवस्त्रधरा कान्ता दिव्यालङ्कारभूषिता ॥५०॥
कटिदेशनिविष्टेन वामहस्तेन शोभना ।
सपद्मेन (वान्तेन?) दक्षिणेन शुचिस्मिता ॥५१॥
कर्तव्या श्रीः प्रसन्नास्या प्रथमे यौवने स्थिता ।
गृहीतशूलपरिघ (पाहिका?) पट्टिसध्वजा ॥५२॥
बिभ्राणा खेटकोपेतलघुखड्गं च पाणिना ।
घण्टामेकां च सौवर्णीं दधती घोररूपिणी ॥५३॥
कौशिकी पीतकौशेयवसना सिंहवा(ह)ना ।
(सेचोष्टौ?) + विधातव्याः शुक्लाम्वरधराः + + ॥५४॥
शोभमानाश्च मुकुटैर्नानारत्नविभूषितैः ।
सदृशावश्विनौ कार्यौ लोकस्य शुभदायकौ ।
शुक्लमाल्याम्बरधरौ जाम्बूनदविभूषितौ ।
त्रिपञ्चदशपूतिरस्येदं भृङ्गवन्मेचकप्रभाम् ॥५६॥
वैदूर्यशकंसङ्काशा? हरिततश्मश्रवोऽपि च ।

रोहिता विकृता रक्तलोचना बहुरूपिणः ॥५७॥
नागः शिरोरुहालीनैर्विरागाभरणाम्बराः ।
कार्याः पिशाचा भूताश्च परुषासत्यवादिनः ॥५८॥
(बहुप्रकारसन्दहा ?) विरूपा विकृताननाः ।
घोररूपा विधातव्या ह्रस्वा नाना (सु?यु) धाश्च ते ॥५९॥
सुभीमविक्रमा भीमाः (:)सङ्घा यज्ञोपवीतिनः ।
वर्मभिः शाटिकाचित्रैर्युताः कार्याः सदा बुधैः ॥६०॥
येऽपि नोक्ता विधातव्यास्तेऽपि कार्यानुरूपतः ।
यस्य यस्य च यल्लिङ्गमसुरस्य सुरस्य च ॥६१॥
यक्षराक्षसयोर्वापि ना (ना?ग) गन्धर्वयोरपि ।
तेन लिङ्गेन कार्यः स यथा सा (शु ? घु) विजान (जा?ता) ॥६२॥
प्रायेण (वा ?) वीर्यवन्तो हि दानवाः क्रूरकर्मिणः ।
किरीटिनश्च कर्तव्या विविधायुधपाणयः ॥६३॥
तेभ्योऽपीषत् कनीयांसो दैत्याः कार्या गुणैरपि ।
दैत्येभ्यः परिहीणास्तु यक्षाः कार्याः मदोत्कटाः ॥६४॥
हीनास्तेभ्योऽपि गन्धर्वा गन्धर्वेभ्योऽपि पन्नगाः ।
नागेभ्यो राक्षसा हीनाः क्रूर (विक्रिमतसूषिणः ?) ॥६५॥
विद्याधराश्च यक्षेभ्यो हीनदेहधराः स्मृताः ।
चित्रमाल्याम्बरधराश्चित्रचर्मासिपाणयः ॥६६॥
नानावेषधरा घोरा भूतसङ्घा भयानकाः ।
पिशाचेभ्योऽधिकाः स्थूलास्तेजसा परुषास्तथा ॥६७॥
अन्यूनाधिकरूपांश्च कुर्वीत प्रायशः शुभान् ॥६८½॥
"पूर्णं भ्रष्टमिदं पद्यम्" ॥६८॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
देवादिरूपप्रहरणसंयोगलक्षणं नाम
सप्तपञ्चाशोऽध्यायः

अष्टपञ्चाशोऽध्यायः

पंच-पुरूष-स्त्री-लक्षणम्

पञ्चानां हंसमुख्यानां देहबन्धादिकं नृणाम् ।
दण्डिनीप्रमुखानां च स्त्रीणां तद् ब्रूमहे पृथक् ॥१॥
हंसः शशोऽथ रुचको भद्रो मालव्य एव च ।
पञ्चैते पुरुषास्तेषु मानं हंसस्य कथ्यते ॥२॥
अष्टाशीत्यङ्गुलो हंसस्यायामः परिकीर्तितः ।
विज्ञया वृद्धिरन्येषां चतुर्णां द्वय्ङ्गुलक्रमात् ॥३॥
तस्याङ्गुलद्वयं सार्धं ललाटं नासिका मुखम् ।
ग्रीवा च वक्षश्चायामात् भवेदेकादशङ्गुलम् ।
एवमेवोदरं नाभिमेढ्रयोरन्तरं दश ।
विंशतिश्चाङ्गुलान्यूरू जङ्घे च त्रीणि जानुनी ॥५॥
त्रीण्यङ्गुलान्यङ्गुले च केशभूरङ्गुलद्वयम् ।
केशान्तमानं सर्वेषामाधिकं स्यात् स्वमानतः ॥६॥
विस्तारेण भवेद् वक्षस्तस्यैवाङ्गुलविंशतिः ।
द्वादशाङ्गुलविस्तारौ बाहू हंसस्य निर्दिशेत् ॥७॥
दशाङ्गुलौ प्रकोष्ठौ च (हस्ततथे) + +
तथा पृथक्पृथक् चछ्रोणिः पीनाङ्गुलि (?) ततो भवेत् ॥७॥
हंसस्वभावेन पृथग + + म्भारनासीकः (?) ।
शशस्य त्र्यङ्गुलं + +नासिका वक्त्रमेव च ॥६॥
ग्रीवापि तत्प्रमाणैव वक्षस्त्वेकादशाङ्लम् ।
तथोदरं तथा नाभिमेढ्रयोरन्तरं दश ॥१०॥
ऊरू विंशतिमात्रौ च शशस्य परिकीर्तितौ ।
त्र्यङ्गुले जानुनी जङ्घे मात्राविंशतिमायते ॥११॥
गुल्फौ च त्र्यङ्गुलायामौ तावन्मात्रं शिरो भवेत् ।
आयामोऽयं शशस्यै व स्यान्नवत्यङ्गुलोन्मितः ॥१२॥

द्वाविंशत्यङ्गुलं वक्षो विस्तारेणास्य कीर्तितम् ।
बाहुप्रबाहू पाणी च शशकस्यापि हंसवत् ॥१३॥
समयाच्च स कर्तव्यः स्वभावच्च कृशोदरः ।
(तथोयवेत् केशोरुजङ्घो द्विद्वान ?) विचक्षणः ॥१४॥
रुचकस्य मुखायामः प्रोक्तः सार्धदशाङ्गुलः ।
ग्रीवाङ्गुलत्रयं सार्धमायामेनास्य कीर्तिता ॥१५॥
एकादशाङ्गुलान्याहुर्वक्षस्तस्य प्रमाणतः ।
तावत्येवोदरं तस्य नाभिमेढ्रान्तरं दश ॥१६॥
विंशतिश्चाङ्गुलान्यूरू जानुनी चाङ्गुलत्रयम् ।
विंशत्यङ्गुलमायामं जङ्घयोस्तस्य निर्दिशेत् ॥१७॥
अङ्गुलत्रितयं गुल्फौ कुर्यात् तस्य शिरोऽपि च ।
द्विनवत्यङ्गुलायामो रुचकः परिकीर्तितः ॥१८॥
इत्यायामोऽस्य विस्तारो वक्षसोऽङ्गुलविंशतिः ।
भुजौ दशाङ्गुलायामौ प्रकोष्ठौ तद्वदेव च ॥१९॥
एकादशाङ्गुलौ हस्तौ विस्तारेणास्य कीर्तितौ ।
पीनांसः पीनबाहुश्च स(लि? ली)लगतिचेष्टितः ॥२०॥
बलवान् वृत्तबाहुः स्याद् रुचको रुचकाकृतिः ।
भद्रस्य प्राहुरायामं मस्तकस्याङ्गुलात्रयम् ॥२१॥
एकादशाङ्गुला + + ग्रीवा सार्धाङ्गुलत्रया ।
वक्षो जठरमप्यस्य सपादैकादशाङ्गुलम् ॥२२॥
नाभिमेढ्रान्तरं चास्य विद्यात् सार्धदशाङ्गुलम् ।
आयाममूर्वोर्जानीयात् सपादाङ्गुलविंशतिम् ॥२३॥
जङ्घे च तावदायामे जानुगुल्फं त्रिमात्रकत् ।
चतुर्नवतिरायामो भद्रस्यैष प्रकीर्तितः ॥२४॥
आयाम एष विस्तारो वक्षसस्त्वेकविंशतिः ।
पृथग् वक्षः पृथक् श्रोणिः वृत्तःवाहः सुसंस्कृतिः (?) ॥२५॥
भद्राकारो भवेद् भद्रो वृत्तवक्त्रः स्वभावतः ।
मालव्यस्य भवेन्मूर्धा प्रमाणेनाङ्गुलत्रयम् ॥२६॥
(चतुर्मात्रललाटं च नाश वक्त्राशिरोधरा ।
मात्रा द्वादश वक्षेस्ये नाभिमेढ्रान्तरोदरे?) ॥२७॥

अष्टादशाङ्गुलौ चोरू जङ्घे अप्येवमेव हि ।
चतुरङ्गुलकौ + + जानुनी चतुरङ्गुले ॥२८॥
मालव्यस्यायमायामः षण्ण वत्यङ्गुलो मतः ।
विस्तारो वक्षसस्तस्य मात्राः षड्विंशतिः स्मृतः ॥२६॥
बाह्वोः षोडशमात्रश्च प्रबाह्वो रेवमेव सः ।
(पार्ष्ण्यौं द्वादमाशत्रस्ये मालव्यस्त्वेप विस्तुतिः?) ॥३०॥
पीनांसो दीर्घबाहुश्च पृथुवक्षाः कृशोदरः ।
वृत्तोरुकटिजङ्घश्च मालवः पुरुषोत्तमः ॥३१॥
हसस्य वक्रं पृथ(ग् ? थु) गण्डभागं
कृशं शशस्यायतमास्यमाहुः ।
विस्तारदैर्घ्याद् भवकस्य तुल्यं (१)
सुखं सुवृत्तं त्विहच (?) भद्रवक्रे ॥३२॥
(स्यान्मालावस्या लेपनं तु कान्तमयोज्यं ।
देही तु रुपैश्च भवन्ति युक्तास्ते कर्मणि सर्वगुणान्वितास्ते) ॥३३॥
(स दुर्लभं स्यात् पुरुषः प्रमेय–
मानोऽस्ति कीर्ण इति ह षष्टः?) ॥३४॥
(मांसलेन शरीरेण ग्रीवासिरा अया + + ।
मांसलायतशाखा च नारी वृत्तेति सा मता) ॥३५॥
पृथुवक्त्रा कटिह्स्वा ह्स्वग्रीवा पृथूदरी ।
पुंवत्काण्डकतुल्या स्यात् सा नारी पौरुषी मता ॥३६॥
अल्पकायशिरोग्रीवा लघुशाखा-भवेच्च या
कृशाल्पब्रह्मसत्वा च सा नारी बालकी स्मृता (?) ॥३७॥
पुंस्पर्शात् पश्यता (?) या स्यात् कौमारे प्राप्तयौवना ।
अन्य सा बालकी प्रोक्ता स्त्रीलक्षणविचक्षणैः ॥३८॥
हंसादिपुंसामिदमेवमुक्तं
यद्वा यथालक्षणमानमत्र ।
स्त्रीणां च सम्यग् (गदिता सुखानाद्)
यो वेत्ति मान्यः स भवेन्नृपाणाम् ॥३६॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
पञ्चपुरुषस्त्रीलक्षणं नाम अष्टपञ्चाशोऽध्यायः

दोष-गुण-निरूपण-लक्षणम्

कथ वर्ज्यानि रूपाणि ब्रूमहेऽर्चादिकर्मसु ।
यथोक्तं शास्त्रतत्त्वज्ञैर्गोब्राह्मणहितार्थिभिः ॥१॥
अशास्त्रज्ञेन घटि(ता?तं) शिल्पना दोषसंयुतम् ।
अपि माधुर्यसम्पन्नं न ग्राह्यं शास्त्रवेदिभिः ॥२॥
कश्लिष्टसन्धि विभ्रान्तां वक्रां चावनतां तथा ।
अस्थितामुन्नतां चैव काकजङ्घाँ तथव च ॥३॥
प्रत्यङ्गहीनां विकटां मध्ये ग्रन्थिनतां तथा ।
ईदृशीं देवतां प्राज्ञो हितार्थनैव कारयेत् ॥४॥
अश्लिष्टसन्ध्या मरणं भ्रान्तया स्थानविभ्रमम् ।
वक्रया कलहं विद्यान्नतया वयसः क्षयम् ॥५॥
नित्यमस्थितया पुंसामर्थस्य क्षयमादिशेत् ।
भयमुन्नतया विद्याद्धृद्रोगं च न संशयः ॥ ६॥
देशान्यरेषु गमनं सततं काकजङ्घया ।
प्रत्यङ्गहीनया नित्यं भर्तुः स्यादनपत्यता ॥७॥
विकटाकारया ज्ञेयं भयं दारुणमर्चया ।
अधोमुख्या शिरोरोगं (तथानयापि च?) ॥८॥
एतैरुपेता दोषैर्या वर्जयेत् तां प्रयत्नतः ।
अन्यैरपि युतां दोषैरर्चां ब्रूमोऽथ सम्प्रत्ति ॥९॥
(उद्वद्धपिण्डिका सासिसासि?) स्वामिनो दुःखमावहेत् ।
(कुक्षिष्टिप्राय?) दुर्भिक्षं रोगान् कुब्जार्चिता नृणाम् ॥१०॥
पार्श्वहीना तु भवति राज्यस्याशुभदर्शनी ।
(शालायासनया स्थानं स्त्रीश्र?) प्रतिमया भवेत् ॥११॥
आसनालयहीनायां बन्धनं स्थानविच्युतिः ।
नानाकाष्ठसमायुक्ता या चैवायसपिण्डिता ॥१२॥

सन्धिभिः (प्रविसहिर्या?) सानर्थभयदा भवेत् ।
(सम्बन्धाकृष्ट?) लोहेन त्रपुणा वा कदाचन ॥१३॥
दारुणा च तथैवोक्ता प्रतिमा (यास्तु? शास्त्र) वेदिभिः ।
सन्धयश्चापि कर्तव्याः सुश्लिष्टाः पुष्टिमिच्छता ॥१४॥
अर्चनाम धराधेन (?) शास्त्रदृष्टविधानतः ।
बध्नीयात् ताम्रलोहेन सुवर्णरजतेन वा ॥१५॥
(कृतेन केणुना चान्यथा स्तुं सामबद्धावरुजावहा?)।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन स्थपतिः शास्त्रकोविदः ॥१६॥
कुर्यादर्चां यथान्यायं सुविभक्तां प्रमाणतः ।
(न क्षतां नोपदिगां च न च विर्वजिता ॥१७॥
न प्रत्यङ्गैः प्रहीनं च घाणपर्दैर्नखादिभिः?) ।
सुविभक्तां यथोत्सेधां प्रसन्नवदनां शुभाम् ॥१८॥
निगूढसन्धिकरणां समायतिमृजुस्थिताम् ।
ईदृशीं कारयेदर्चां प्रमाणगुणसंयुताम् ॥१९॥
समोपचितमांसाङ्गाः पुरुषाः स्युः समासतः ।
प्रमाणलक्षणयुता वस्त्ररत्नविभूषिताः ॥२०॥
ज्ञात्वा गुणान् परिकलय्य च दोषजात-
मर्चां यथोदितगुणां विदधीत भूत्यै ।
शिष्यत्वमेत्य विविध(त्स?) मुपासतेऽन्ये
तं शिल्पिनः कृतधियश्च मुहुः स्तुवन्ति ॥२१॥

इतिमहाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
दोषगुणनिरूपणं नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षणम्

अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नवस्थानविधिक्रमम् ।
(संपात्यारुघाणां?) हि जायन्ते नव वृत्तयः ॥१॥
पूर्वमृज्वागतं तेषां ततोऽर्धर्ज्वागतं भवेत् ।
ततः साचीकृतं विद्यादध्यर्धाक्षमनन्तरम् ॥२॥
चत्वार्यूर्ध्वागतादीनि परावृत्तानि तानि च ।
ऋज्वागतपरावृ (त्त?त्तं) ततोऽर्धर्ज्वागतादिकम् ।३॥
साचीकृतं परावृत्तं ततोऽध्यर्धाक्षपूर्वकम् ।
पार्श्वागतं च नवमं स्थानं भित्तिकविग्रहम् ॥४॥
ऋज्वर्धऋजुनोर्मध्ये चत्वारि व्यन्तराणि च ।
अर्धर्जु साचीकृतयोर्मध्ये च व्यन्तरत्रयम् ॥५।
(द्व्यर्धर्ज्वा?) साचीकृतयोर्मध्ये द्वे व्यन्तरे परे ।
(परोध्यर्धक्षपार्श्व?) व्यन्तरं चैकमन्तरे ।६॥
ऋज्वागतपरावृत्तपार्श्वाभ्यागतयोर्दश ।
अन्तरे व्यन्तराणि स्युः स्थानकान्यपराण्यपि ॥७॥
ऋज्वागताद्यं मध्यं च विग्रहं (वेन्वा + + + ।
ऋज्वागतां + + + + शेषभाव्यन्तरा व्यया ?) ॥८॥
अर्धापाङ्गमर्धपुटमर्धार्धपुटमेव च ।
अर्धर्ज्वंसेऽपि कथितं सिलीदव्यन्तरं व्ययः ?) ॥९॥
अर्धसाचीकृतं चैव स्वस्तिकं च ततः परम् ।
(साचीकृतोशे?) द्वावुक्तावंशौ द्व्यर्धाक्षसंज्ञिते ॥१०॥
द्व्यर्धाक्षाँशपरावृत्तं द्व्यर्धाक्षांस च ते उभे (?) ।
(द्विज्वाक्ष?) व्यन्तरे प्रोक्ते चित्रशास्त्रविशारदैः ॥११॥
ऋज्वागतादध्यर्धाक्षं (?) यथा प्रोक्तानि संज्ञया ।
व्यन्तराणि तथैव स्युः परावृत्ते यथाक्रमम् ॥१२॥

वचित्र्यं भित्तिके नास्तीत्येव चित्र(विचित्र्यं वि?) विदो विदुः ।
एकान्नत्रिंशदेवं च स्थानानि व्यस्तवर्त्मना ॥१३॥
वैतस्त्यमन्तरं स्थाप्यं पादयोः सुप्रतिष्ठितम् ।
हिक्कायां पादयोश्चान्तभूमौ लम्बे प्रतिष्ठिते ॥१४॥
प्रोक्तमृज्वागतं पूर्वं प्रमाणेन निरूपितम् ।
ततोऽर्धर्ज्वागतस्येदं प्रमाणमुपलक्षयेत् ॥१५॥
ब्रह्मसूत्रं तु कर्तव्यं मुखस्यैव तु मध्य(गः?गम्) ।
नेत्ररेखासमत्वेन तिर्यक्कालो भवेन्मुखम् (?) ॥१६॥
अपाङ्गस्याक्षिकूटस्य कर्णस्य च भवे(त्) क्षयः ।
अन्यत्र कर्णमानं स्यादर्धाङ्गुलविशेषितम् ॥१७॥
दृक्सूत्रे ब्रह्मलेखाया अपरे स्यात् (कलाहवम् ।
यच्छमात्राश्रुपातोक्षि श्रीयतान्योपवस्तथा?) ॥१८॥
त्रियवाः श्वेतभागः स्यात् तारा च प्रोक्तमानतः ।
विस्तारः श्वेतभागश्च करवीरोऽपि चोक्तवत् ॥१९॥
परभाः (?) करवीरं स्याद् ब्रह्मसूत्रात् तथाङ्गुलम् ।
पूर्वभाकरवीरात्तु (?) सङ्गमश्चाङ्गुलं भवेत् ॥२०॥
कर्णनेत्रान्तरं प्रोक्तं कला(भ्य?ध्य)र्धाङ्गुलाधि (कम्?का) ।
(पूर्वकू सर्वदिस्याविक्षायत् कथयेत् पराम ?) ॥२१॥
पुटोङ्गुलं ब्रह्मसूत्रात् कपोलाद् द्वयङ्गुलं भवेत् ।
पूर्वे परत्र मात्रार्धं पुटः स्याच्छेषमुक्तवत् ॥२२॥
(परभागान्तराष्ट?) स्यादङ्गुलं द्वियवाधिकम् ।
अधरः परभागे तु यवषट्कं विधीयते ॥२३॥
अधरान्ता कला (?) गण्डो ब्रह्मसूत्रात् पुनर्हनुः ।
परभागेऽङ्गुलं सार्धं मुखलेखाङ्गुलं ततः ॥२४॥
(आरुड वा यत्कार्यं मुखयां पर्यन्तलेखया ।
परिवर्तसुखादेशा?) ज्ञात्वा कार्या प्रयत्नतः ॥२५॥
अपादमध्यं हि ज्ञातः ?) सूत्रेऽन्यस्मिन् प्रवर्तिते ।
(खरे लुप्येत तुर्यांशः पूर्वत्वेवाविवर्धते ?) ॥२६॥
कक्षाधरः परे भागे सूत्रतः पञ्चगोलकः ।
पूर्वभागे (तृतं ?) विद्यात् (पद्गो ? षड्गो) लपरिमाणतः ॥२७॥

मध्ये सूत्रात् (पर?) पार्श्वलेखा + + यावच्चतुष्कलम् ।
उरसो मध्य (मो? मात्) सूत्रात कक्षा स्यान्नव (माभवा?) ॥१८॥
(बृगंतलेखात्तस्मात्वं विधाकलत्रयम् ।
स्तनाः पार्श्वकलां कुर्यात् स्तनं वा पतमण्डलम् ?) ॥२९॥
परतो हस्तकः कार्यः कर्मयोगानुसारतः ।
(पार्श्वपर्यन्त सर्वा भागे षषंडलालम्?) ॥३०॥
तथैव पूर्वहस्तस्य यथायोगं प्रकल्पना ।
(अभ्ययस्वाग + दीनां?) क्रिया स्याद् दक्षिणे करे ॥३१॥
मध्ये षडङ्गुला रेखा बाह्यसूत्रात् परे भवेत् ।
पूर्वस्मिन् बाह्यलेखा तु मध्ये (सा?स्या) दष्टमात्रका ॥३२॥
नाभिदेशे परे भागे बाह्यासौ सप्तमात्रका ।
कलामात्रं भवेन्नाभिस्तस्याः पूर्वं नवाङ्गुला ॥३३॥
परे भागे कटिः सप्त मात्रा दश च पूर्वतः ।
ऊरुलेखा परे भागे मुखमानस्य मध्यतः ॥३४॥
प्राग्भागस्य बहिर्लेखा + + + परजानुतः ।
(परभागेन्द्रदास्तेश्च सूत्रस्यात् तद्वदङ्गुले?) ॥३५॥
परस्य नलकस्य स्याल्लेखा प्रागङ्गुलान्तरे ।
परभागस्य षष्ठाँशाः (सूत्रा प्रागङ्गुलद्वयोः?) ॥३६॥
नलेन परपादस्य भूमिलेखा विधीयते ।
ततोऽङ्गुष्ठोङ्गुलेनाधः पार्ष्णिरूर्ध्वं तदर्धतः ॥३७॥
अङ्गुष्ठाग्रं ब्रह्मसूत्रात् परस्मिन् पञ्चमात्रकम् ।
तलं च परभागज्ञेस्तिर्यक् पञ्चाङ्गुलं स्मृतम् ॥३८॥
(सत्वितस्तलघाष्र्ण्येः?) स्यादङ्गुष्ठाग्रं कलात्रये ।
अङ्गुल्योऽङ्गुष्ठतः सर्वा (व्रजत्परयं?) कमात् ॥३९॥
(सन्निवेशसवासाद द्विरङ्गुल्यतो?) नवाङ्गुलः ।
यथोक्तं जानु पूर्वं स्यात् सूत्रतश्चतुरङ्गुले ॥४०॥
नलकस्तद्वदेवास्य नलकौ त्र्यङ्गुलान्तरौ ।
(सूत्रादक्षः कलास्तिस्राङ्गुष्ठस्त्वङ्गुलत्रयम् ॥४१॥
भूमिसूत्राद् गतोऽधस्तात् पूर्वाङ्गुष्ठो भवेत् कला ।
अङ्गुष्ठोऽङ्गुलयश्चेति सर्वमन्यद् यथोदितम् ॥४२॥

(दश्यपार्श्वतलप्रविपारंहौ ?) मध्यमे तलम् ।
एवमुक्तप्रमाणेन ज्ञात्वा युक्त्या समादिशेत् ।।४३।।
अर्धर्ज्वागतमित्येतत् प्रवरं स्थानमीरितम् ।
लक्ष्म साचीकृतस्याथ स्थानकस्याभिधीयते ।।४४।।
विन्यस्येद् ब्रह्मसूत्रं प्राक् स्थानबोधस्यक सिद्धये ।
ललाट परभागे स्यात् केशलेखा तथा कला ।।४५।।
परभागभ्रुवो लेखा + + + र्धमुदाहृता ।
(परता + क्षिलेखायां कालिका द्वियतो ज्ञत?) ।।४६।।
ज्योतिषः स्यात् परे भागे तारा दृश्या यवोन्मिता ।
यवमात्रं ततो ज्योतिस्तस्मात् तारा यवद्वयम् ।।४७।।
श्वेतं च करवीरं च ततः प्रागुक्तमानतः ।
कनीनिका तु नासाया मूलं विद्याद् यवान्तरम् ।।४८।।
नासामूलं प्रमाणेन ततो ज्ञेयं यवत्रये ।
ब्रह्मसूत्रात् पूर्वभागे (नगन्तो?) ध्र्वगोलकौ ।।४९।।
(आपाङ्गं स्तात्रेतो?) विद्याद् द्विगोलकमितेऽन्तरे ।
तस्माद् भागेन कर्णान्तः कर्णः स्याद् विस्तरेण तु ।।५०।।
द्वियवोना कला चक्षुर्व्यावृत्त्या परिवर्धितः ।
पूर्वस्य करवीरेण सह श्वैत्यं यवत्रयम् ।।५१।।
द्वितीयश्वैत्यदृक्ताराप्रसृतिः प्रोक्तमानतः ।
कपोललेखा परतो (यवद्वा ता?) कला भवेत् ।।५२।।
ब्रह्मसूत्रान्नासिकाग्रं परस्मिन् सप्तभिर्यवैः ।
नासापुटः पूर्वभागे स्याद् यवाधिकमङ्गुलम् ।।५३।।
पूर्वे भागे यवं गोजी तत्रीपान्ते विधीयते ।
परभागोत्तष्ठः स्यात् प्रमाणेनार्धमात्रकः ।।५४।।
त्रियवश्चाधरोष्ठः स्याच्छेषश्चापचयस्तयोः ।
पाल्या मध्ये भवेत् सूत्रं पाल्यास्तु चिबुकं परे ।।५५।।
हनुपर्यन्तलेखा च सूत्रादर्धाङ्गुले भवेत् ।
हनोर्मध्यगतं सुत्रं परे स्यात् परिमण्डलम् ।।५६।।
सहैकसूत्रे परदृक् पर्यन्तेन परिस्फुटा ।
मुखपर्यन्तलेखार्धहनोरुपरि चाधरः ।।५७।।

कुर्याल्लेखाभिरेताभिः परभागं विचक्षणः ।
(सूत्राङ्गुलोर्ध्वमात्रायाँ तस्माद् ग्रीवा यथोदिता ॥५८॥
सूत्रसंयोगात् पूर्वस्मिन्नङ्गुले सयवेऽङ्लः ?) ।
हिक्काद्यर्धाङ्गुलं सूत्रात् पूर्वे स्यात् सुप्रतिष्ठिता ॥५६॥
बाह्यलेखा हि तत्सूत्रात् परस्मिन्नङ्गुलाष्टके ।
(तालें यवोनग्रोवातो नग्रीवज्ञेयौसूनदूर्वकौ ?) ॥६०॥
हिक्कासूत्रात् समारम्भः वक्षोभागोऽग्रिकं (?) भवेत् ।
(तावन्मात्रे तरेवाहु ?) तस्मात् प्रभृति निर्दिशेत् ॥६१॥
हिक्कासूत्रात् परे भागे स्तनश्चाङ्गुलपञ्चके ।
रेखान्तसूचकः कार्यो मण्डलं सार्धमङ्गुलम् ॥६२॥
तस्मादनन्तरं बाह्यभागमात्रं विनिर्दिशेत् ।
हिक्कासूत्रात् समारम्भः स्तनः (पूर्वषडङ्गुले?) ॥६३॥
स्तनात् षडङ्गुले (तिर्यगक्षो स्मा द्वौ ?) द्विभागिकः ।
कक्षतो द्विकलेऽधस्ताद् बाह्यलेखा विधीयते ॥६४॥
आभ्यन्तरा बाह्यालेखा स्तनात् पञ्चाङ्गुलेऽन्तरे ।
ब्रह्मसूत्राच्च भागेन मध्यभागे (परि?) विदुः । ६५॥
(मध्यात्त्वककयावहः परे?) तिर्यग् विभज्यते ।
मध्यप्रान्तः पूर्वभागे भवेत् सूत्राद् दशाङ्गुलः ॥६६॥
तिर्यङ् नाभिप्रदेशः स्यात् परतो ब्रह्मसूत्रतः ।
यवैश्चतुर्भिरधिकमङ्गुलानां चतुष्टयम् ॥६७॥
पूर्वभागे विनिर्दिष्टः स एवैकादशाङ्गुलः ।
मध्येनैति परस्योरोः सूत्रं नाभ्यन्तराश्रितम् ॥६८॥
प्रयात्यपरजाच्चैतात् (?) पूर्वतः कलया च तत् ।
जान्वधोभागतश्चार्धकलया त्रियवेन च ॥६९॥
जङ्घामध्येन लेखायाः प्रसक्तं नलकस्य तु ।
(षांते वैरवं?) परतश्चतुर्भिः सूत्रमिष्यते ॥७०॥
अनेनैवानुसारेण बहिर्लेखा विधीयते ।
ब्रह्मसूत्रात् परे भागे कटिरङ्गुलपञ्चके ॥७१॥
(तामालमात्रा तु सा पूर्थे मेढ़ाग्रं सूत्रसङ्गतम् ।
सूत्रादरभागोरू मूलाग्राये ?) ॥७२॥

सूत्रादपरभागोरुमध्ये रेखा कलाद्वये ।
सूत्रात् पूर्वोरुमूलं स्यात् पूर्वतः कलया तथा ॥७३॥
कलाद्वये र विज्ञेया रेखा पूर्वस्य जानुतः ।
सार्धाङ्गुलयवं जानु तत्पार्श्वं चार्धमङ्गुलम् ॥७४॥
सूत्रेण परपादस्य मध्यरेखा विभज्यते ।
आदिमध्यान्तलेखायां सूत्रशौचमुदाहृता (?) ॥७५॥
सूत्रात् प्राग्भागमलके (?) प्रान्तः मञ्चभिरङ्गुलैः ।
अर्धाङ्गुलं क्षयः कार्यः परभागोरुजङ्घयोः ॥७६॥
पराक्षिमध्यगं सूत्रं लम्बभूमिप्रतिष्ठितम् ।
परपादतलान्तात् प्रागङ्गुलेन विधीयते ॥७७॥
+ + सूत्रात् पूर्वपादस्य तलमष्टाङ्गुलं भवेत् ।
अधस्तात् तलयोः सूक्ष्मा स्याल्लेखाष्टादशाङ्गुलम्॥७८॥
अङ्गुष्ठकाद्वकमात् (?) प्रदेशिन्यङ्गुलाधिका ।
(परपादतलावस्तून पूर्वाह्यङ्गुष्ठमूलगम् ॥७९॥
सूत्रं यथाति?) सा भूमिलेखेति परिकीर्तिता ।
सूत्रावर्धाङ्गुलेनोर्ध्वं तस्मात पार्ष्णिः परस्य च ॥८०॥
अङ्गुष्ठादङ्गुलीपातः पूर्वपादेऽनुसारतः ।
उपप्रदेशिनीमानात् कुर्यादत्र प्रदेशिनीम् ॥८१॥
अपराश्चाङ्गुलीः सर्वाः क्रमेण क्षपयेत् ततः ।
इति साचीकृतं स्थानमेतदुक्तं यथार्थतः ८२॥
अध्यर्धाक्षमिदानीं च स्थानकं संप्रचक्ष्महे ।
ब्रह्मसूत्रं मुखे कृत्वा मानमत्र विधीयते ॥८३॥
केशान्तलेखा सूत्रात् स्यान्मात्रैका यवसंयुता ।
[भ्रुवः सद्वियवामात्रा लेखा कृशयवाङ्गुलाः ॥८४॥
उक्तोयमन्तरे वर्त्म ताराय अर्धमालिखेत ।
स्वैत्यं चतुर्यवं दृश्यशेषं सा तिरस्कृतम् ॥८५॥
कपोतरेखा परतो यववर्जितमङ्गुलम् ।
सूत्रापूर्वापुटान्तः स्यादर्धाङ्गुलमितेन्तरे ॥८६॥
नासिकान्तोऽङ्गुलं सूत्रात् परे पूर्वेतपाङ्गुलम् ।
मूले नासापुटः साद्रः सूत्रं गोज्याश्च मध्यगम् ?] ॥८७॥

यवार्धमात्रा गोजी स्यादुत्तरोष्ठः परस्य यः ।
स ब्रह्मसूत्रादारभ्य विज्ञेयो द्वियवोन्मितः ॥८८॥
परे त्वधस्तान्नासाया रेखा चार्धाङ्गुलैर्भवेत् ।
परभागेऽधरोष्ठस्य प्रमाणं + यवं मतम् ॥८९॥
हनुपर्यन्तलेखाया मध्ये सूत्रं प्रतिष्ठितम् ।
सूत्रात् प्राक् करवीरः स्याद् द्वियवोनाङ्गुलद्वयम् ॥९०॥
यवार्धं स च दृश्येत श्वैत्यं सार्धयवं ततः ।
+ तारा त्रियवा ज्ञेया शेषमुक्तप्रमाणतः ॥९१॥
कर्णावर्तादधः कर्णमध्यभागेन संमितम् (?) ।
द्व्यङ्गुलः कर्णविस्तारः कर्णावर्ताच्चतुर्यवे ॥९२॥
शिरःपृष्ठस्य लेखा स्यादिति ज्ञात्वोक्तमाचरेत् ।
कर्णसूत्राद् बहिर्ग्रीवा विधातव्यैकमङ्गुलम् ॥९३॥
गलो ग्रीवा च हिक्का च सूत्राद् प्रागङ्गुलोत्तरे ।
हिक्कासूत्राद् भवेदूर्ध्वमंसलेखा तथाङ्गुलम् ॥९४॥
ब्रह्मसूत्रात् परे भागे स्यादं सोऽङ्गुलसंमिते ।
(वक्षोऽङ्गुलं ब्रह्मसूत्रां + + नस्ति कलान्तरे (?) ॥९५॥
भागमात्रे भवेत् कक्षासूत्रात् पूर्वः स्तनस्य च ।
कक्षातस्त्रिकलं यावत् पार्श्वलेखा विधीयते ॥९६॥
(दूरादग्रभुजस्तस्यादग्रे कर्मानुसारतः ।
प्रासादमध्यः सूत्रः स्यादेकादशभिरङ्गुलैः ॥९७॥
परभागस्य मध्यस्त?) सूत्रात् स्यादङ्गुलैस्त्रिभिः ।
अङ्गुलेन परे भागे सूत्रतो नाभिरिष्यते ॥९८॥
नाभेरुदरलेखा तु विज्ञातव्याङ्गुलत्रये ।
श्रोणी कर्णो भवेन्नाभे(?)मुखमर्धाङ्गुलान्वितम् ॥९९॥
ब्रह्मसूत्रात् कटिः पूर्वे त्रिभागा त्र्यङ्गुला परे ।
(ब्रह्मसूत्राश्रित मेढ्रस्लेल चापरतो भवेत् ॥१००॥
पूर्वोक्तः मध्यभेखास्यात् सूत्रात् प्रत्यङ्गुलमन्तरे?) ।
तस्यैव मूलरेखा च सूत्रात् प्राग् द्व्यङ्गुलेऽन्तरे ॥१०१॥
मूललेखा परस्योरोः सूत्रात् स्याद् द्विकलेऽन्तरे ।
पर्यन्तजानुनो भागे पर्यन्तोपरि जानतः ॥१०२॥

परभागिका जातद्वैं(?) सूत्रस्य सम्यक् प्रतिष्ठितम् ।
जानुमध्ये गता लेखा बाह्यलेखाश्रिता भवेत् ॥१०३॥
अध्यर्धमात्रं जानु स्यादधोलेखा तु तस्य या ।
अर्धाङ्गुलेन सा सूत्रात् पूर्वतः प्रविधीयते ॥१०४॥
सूत्रात् परे पराङ्गुष्ठमूलपादोनमङ्गुलम् ।
मूलादङ्गुष्ठकस्याग्रं सार्धैः स्यादङ्गुलैस्त्रिभिः ॥१०५॥
सूत्रात् परं स्याज्जङ्घाया लेखाङ्गुलचतुष्टये ।
तस्यास्तु पूर्वजङ्घाया लेखा स्यादङ्गुलद्वये ॥१०६॥
पूर्वजानु कलामानं शेषं कुर्याद् यथोदितम् ।
परपादतले (स्तम्भं?) यत् तिर्यक् सुप्रतिष्ठितम् ॥१०७॥
(तत्प्राक्प्रदेलस्योर्ध्वं?) सार्धया कलया भवेत् ।
(प्राग्भङ्गोऽङ्गुष्ठमूलेच्छस्तत्र स्वीया?) कनिष्ठिका ॥१०८॥
(कलामात्रं निजाङ्गुष्ठादंधासागं?) प्रपद्यते ।
(यत् पराङ्गुलम्बसूत्रं प्रतिपद्यते?)
यत् पराङ्गुष्ठमूलोत्थं लम्बसूत्रं प्रपद्यते ॥१०९॥
(मध्येन पूर्वभागाप्ति सबन्धाङ्गुष्ठकस्य तत् ।
पूर्वपार्ष्णितलादूर्ध्वं विदध्यादङ्गुलत्रये ॥११०॥
पार्ष्णेः परस्य पादस्य पूर्वपादं तिरस्कृतम् ।
अध्यर्धाक्षं यथाशास्त्रमेवं स्थानकमालिखेत् ॥१११॥
अथ पार्श्वागतं नाम स्थानं पञ्चममुच्यते ।
व्यावर्तितमुखस्यान्ते ब्रह्मसुत्रं विधीयते ॥११२॥
ललाटबाह्यलेखां च सूत्रस्पृष्टां प्रदर्शयेत् ।
सूत्रात् तु नासिकावंशः (संवृद्धय्य द्वाक्षमानतः?) ॥११३॥
अपाङ्गो द्विकले सूत्रात् कर्णो (यंशात्?) कलाद्वये ।
कर्णो द्व्यङ्गुलविस्तारः शिरःपृष्ठं कला ततः ॥११४॥
अस्य मध्यगतं सूत्रमास्यार्धं स्थापयेत् ततः ।
अङ्गुले चिबुकं सूत्राद्धनुमध्यं चतुर्यवे ॥११५॥
सार्धाङ्गुले ततः कण्ठ तिग्रीवाङ्गुले नतः ।
अङ्गुलेन ततो हिक्का चतुर्भिर्ब्रह्मसूत्रतः ॥११६॥
मूर्ध्ना श्रवणपाल्यन्तेनैति सूत्रं तदुच्यते ।

ग्रीवायाङ्गुल्यमध्येन(?) मध्यसूत्रं तदुच्यते ॥११७॥
भागे हिक्कामध्यसूत्रादण्डमूलं कलाद्वये ।
मात्राष्टके च पृष्ठं तो(?) हृल्लेखाप्येवमेव हि ॥११८॥
स्तनस्य मण्डलं तस्मादङ्गुलेन विधीयते ।
कक्षा च पूर्वभागे स्यान् सूत्रात् पञ्चभिरङ्गुलैः ॥११९॥
मात्रात्रयेणापरस्मिन् भागे कक्षा विधीयते ।
उभयोरन्तयोः प्राहुर्मध्यमष्टाङ्गुलं बुधाः ॥१२०॥
अङ्गुलैर्दशभिर्मध्यं पर्यन्तो मध्यसूत्रतः ।
मध्यपृष्ठं चतुर्भिः स्यान्नाभिपृष्ठं च पञ्चभिः ॥१२१॥
नाभ्यन्तरेखा नवभिः कटिपृष्ठं कलात्रये ।
उदरप्रान्तलेखा च ज्ञेया दशभिरङ्गुलैः ॥१२२॥
मात्राभिरष्टिभिः सूत्रात् स्फिजो मध्यं प्रचक्षते ।
वस्तिशीर्षे च नवभिः स्फिगन्तोऽष्टभिरङ्गुलैः ॥१२३॥
अष्टभिर्मेढ्रमूलं स्यादूरुमध्यं च सप्तभिः ।
अङ्गुलैः पञ्चभिर्मूलमूरोः पाश्चात्यमुच्यते ॥१२४॥
चतुर्भिरङ्गुलैः सार्धं करमध्यं च पृष्ठतः ।
अग्रतः पञ्चभिः सार्धैस्तदेव प्राहुरङ्गुलैः ॥१२५॥
करमध्याङ्गुलैर्मध्यं सूत्रमध्ये विधीयते ।
जान्वर्धे मध्यसूत्रं स्याद् भागो लेखा च जानुतः ॥१२६॥
भवेदुभयतः सूत्रं जङ्घा मध्ये च कीर्तिता ।
जङ्घा षडङ्गुला सूत्रं मध्ये स्यान्नलकस्य च ॥१२७॥
उभयोः पार्श्वयोः कार्यो नलकश्चाङ्गुलद्वयम् ।
चतुर्भिरङ्गुलैः पार्ष्णिर्मध्यसूत्राद् विधीयते ॥१२८॥
यथोक्तमानेनाङ्गुल्यस्तथा पादतलं भवेत् ।
पार्श्वागतमिदं प्रोक्तं स्थानं भित्तिकसंज्ञकम् ॥१२९॥

पार्श्वागतस्थानम् ॥

अतः परं परावृत्तस्थानकान्यभिदध्महे ।
ऋज्वागतपरावृत्तं तत्रादावभिधीयते ॥१३०॥
तत्राङ्गुलद्वयं कर्णौ विधातव्यौ पृथक् पृथक्
पार्ष्णिपर्यन्तयोर्मध्यं तथा सप्ताङ्गुलं भवेत् ॥१३१॥

अङ्गुलत्रितयं सार्धं पार्ष्णी कार्यौ पृथक् पृथक् ।
कनिष्ठानामिकामध्या दर्शयेच्चतुरङ्गुलम् ॥१३२॥
अङ्गुष्ठानामिकामध्याकनिष्ठ(वलिखेन्तरे?) ।
परावृत्तमिदं शेषमृज्वागतवदादिशेत् ॥१३३॥
अध्यर्धाक्षादिकादीनि यानि स्थानानि तेषु यत् ।
भवेद् यस्य परावृत्तं तद्वशात् तस्य तद् भवेत् ॥१३४॥
+ + यस्य हि यद् दृश्यं स्थानकस्याङ्गमीरितम् ।
तद्दृश्यं परावृत्ते तस्यादृश्यं च दृश्यते(?) ॥१३५॥
स्थानानि गदितानि + जीवेषु द्विपदेषु च ।
निर्जीवेष्वपि ज.नीयाद् यानासनगृहादिषु ॥१३६॥
स्थानानि मूलभूतानि नवैतानि वस्तुतः ।
यानि विंशति-भक्तानि तद्भेदानेव तान् विदुः ॥१३७॥
मूर्धस्थिता यदा दृष्टा ऋज्वादीनि विलोकयेत् (?) ।
स्थानानि तेषां यन्मानं तदस्मात् तदिहोच्यते ॥१३८॥
विस्तृत्याष्टादश न्यस्येदायत्या द्विगुणानि च ।
(अङ्गुल्यन्यादारास्त्रं?) यथाभागं यथोचितम् ॥१३९॥
आयामस्यार्धदेशे च विस्तारोऽस्याग्रतोऽष्टभि ।
++++++ (पृष्ठप्रदेशार्द्र+मङ्कयेत् ?) ॥१४०॥
तन्मध्यगामिनी (स्त?सू)त्रे न्यस्येदायतविस्तृते ।
अङ्गानां स्यात् तदवधिर्निर्गमो (वष्टमाणकः ॥१४१॥
सूनत्योगतो गर्भसूत्रादित्यादि?) ।
स्तनगर्भो गर्भसूत्राद् विस्तृ(तो?तौ) स्यात् षडङ्गुलः ॥१४२॥
षडङ्गुलः स्यात् स्तनयोस्ति..र्यग् गर्भ(वि)निर्गमः ।
तिर्यग गर्भा(त्) पृष्ठपक्षौ स्फिजावपि दशाङ्गुले ॥१४३॥
(ने?न)वाङ्गुले पृष्ठवंशः स्फिजो(:)सप्ताङ्गुलेऽन्त(रम्?रे) ।
कक्षाया मूलमायामाद् गर्भतश्च दशाङ्गुलम् ॥१४४॥
नि.र्गमोऽग्रेङ्गुलं तस्य सूत्रात् सप्त च पृष्ठतः ।
गर्भसूत्रात् ततस्तिर्यक् पादांशोऽष्टादशाङ्गुलः ॥१४५॥
गर्भाव यवप्रदेशश्च (?) भवेत् पञ्चभिरङ्गुलैः ।

अष्टाभिर्जठरं गर्भात् पार्श्वयोः पुरतोऽपि च ।।१४६।।
उदरस्य + मं पृष्ठं पश्चात् सप्तभिरङ्गुलैः ।
सा(र्धे द्वा? धँर्द्वा)दशभिर्मूलवुर्वो(रथो?) मतोऽङ्गुलैः ।।१४७।।
पञ्चाङ्गुलं निर्गमस्तत् + स्यात् सप्त च पृष्ठतः ।
ऊरुमूलस्य पृष्ठात् तु स्फिजौ त्र्यङ्गुलनिर्गतौ ।।१४८।।
मेढ्रमग्रे ततो ज्ञेयं गर्भसूत्रात् षडङ्ले ।
तिर्यक्सूत्राज्जानुपार्श्वं सा(र्धे? धँ)र्नवभिरङ्गुलैः ।।१४९।।
आयामसूत्राज्जान्वन्तपृष्ठेऽग्रे चतुरङ्गुलः (?) ।
नलकश्च भवेद् गर्भात् तिर्यगस्य षडङ्गुलः ।।१५०।।
गर्भसूत्रात् तु नलकः पृष्ठतश्चतरङ्गुलः ।
सूत्रान्ताङ्गुल्यपर्यन्तः (?) स्यात् सार्धैः षड्भिरङ्गुलैः ।१५१
अक्षः ?) सार्धाङ्गुले सूत्राद् भवेद् विस्तृतिदर्शनात् ।
चतुर्दशाङ्गु ला?ल): पादो दैर्घ्येणात्र प्रकीर्तितः ।।१५२।।
गर्भादष्टाङ्गुलाग्रोऽसौ पश्चादपि षडङ्गुलः ।
जानुनोरक्षश्च स्यादन्तरमङ्गुलं मिथः(?) ।।१५३।।
ऊर्वोरङ्गुलमुद्दिष्टं (न भलयो?) श्चतुरङ्गुलम् ।
ऋज्वागतमिति प्रोक्तमर्धजौ मध्यसूत्रतः ।।१५४।।
(परिवर्ततगुलगं सावावप्यङ्गुलद्वयम् ।
तस्मात् सावेस्त सार्धाक्षये? त्र्यङ्गुले परिवर्तनी ।।१५५।।
+ + + भित्रिके परावृत्तेऽप्ययं विधिः ।
ऋज्वागतार्धर्जुकसाचिसंज्ञाध्यर्धाक्षपार्श्वागतसंज्ञकानि ।।१५६।।
तेषां परायृत्तचतुष्टयं च प्रोक्तान्यथो विंशति(र)न्तराणि ।
इतिमहाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्निवास्तुशास्त्र

ऋज्वगतादिस्थानलक्षणं नाम
षष्टितमोऽध्यायः

वैष्णवादि-स्थानक-लक्षणम्

अथान्यान्यभिधीयन्ते चेष्टास्थानान्यनेकशः ।
यानि ज्ञात्वा न मुह्यन्ति + + चित्रविचक्षणाः ॥१॥
वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।
प्रत्यालीढमथालीढं स्थानान्येतानि लक्षयेत् ॥२॥
(अश्वक्रामत्तमथायामविहितानाकत्रयं स्त्रीणाम् ?) ।
द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥३॥
तयोः समन्वितस्त्वैकस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
किञ्चिदञ्चितजङ्घं च (शगात्रोज्यचसंयुतम्?) ॥४॥
वैष्णवस्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम् ।
समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥५॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ।
तालास्त्रयोऽधतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥६॥
अश्रमेकं द्वितीयं च पादं पक्षस्थितं लिखेत् ।
(नैषमोरु?) भवत्येवं स्थानं वैशाखसंज्ञितम् ॥७॥
विशाखो भगवानस्य स्थानकस्याधिदैवतम् ।
ऐन्द्रं स्यान्मण्डलं पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ॥८॥
त्र्यश्रपक्षस्थितिश्चैव कटिर्जानुसमा तथा ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं पञ्चतालान्तरस्थितम् ॥९॥
आलीढं स्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ।
कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामपादं प्रसारयेत् ॥१०॥
आलीढं परिवर्तेन प्रत्यालीढमिति स्मृतम् ।
दक्षिणस्तत्र समः(?) पादस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥११॥
समुन्नतकटिर्वामश्चावहित्थं तदुच्येत् ।
एकः समस्थितः पादो द्वितयोऽग्रतलान्वितः ॥१२॥
(शूद्बमविद्धं यात?) श्चक्रान्त उच्यते ।
स्थानत्रयमिदं स्त्रीणां नृणामपि भवेत् क्वचित् ॥१३॥
कटीपार्श्वे करौ वक्त्रमुरो ग्रीवा शिरस्तथा ।
स्थानकेषु समस्तेषु कार्यमेतत क्रियानुगम् ॥१४॥
क्रियाणां पुनरानन्त्यात् समस्तेन न शक्यते ।

वक्तुं तथापि दिङ्मात्रमस्माभिः संप्रदश्यते ॥१५॥
हृष्टायाः प्रियसविधे नार्याः पुरुषस्य वा प्रियाभ्यर्णे ।
भवति स्थितसंस्थानं त्रिभिरिति तच्च कथयामः(?) ॥१६॥
यद्ब्रह्मसूत्रमृज्वागते भवेत् (तन्मतृभ गेऽपि?) ।
अवयव विभागतस्तत् कथयामः साम्प्रतं क्रमशः ॥१७॥
(शीर्नं तत्रय वि?) नासिकाधरपुटेषु सृक्कणि च ।
(कंगते परचूचुकपूर्वेण कलान्तरे?) नाभौ ॥१८॥
पश्चादूरोर्मध्ये पश्चिमगुल्फस्य तद्वदन्ते च ।
स्थाने त्रिभङ्गनामनि सूत्रस्य गतिर्विनिर्दिष्टा ॥१९॥
पादौ तालान्तरितौ कर्तव्यौ स्थानके त्रिभङ्गाख्ये ।
षोडशविंशत्यङ्गुलमध्येऽन्तरितौ (पितुदडिदाक्षे?) ।२०।
गमनं त्रिविधं प्राहुर्द्रुतमध्यविलम्बितप्रभेदेन ।
(स्थानेष्वर्धनेत्राख्यभिलिषु त्रयगमध्ये?) ॥२१॥
प्रान्ते करवीरस्याथ + + + + सृक्वपर्यन्ते ।
कण्ठान्ते (परभागा स्तनतोगुलदुम्मपर्यन्ते ?)॥२२॥
नाभ्यासन्ने मध्ये मेढ्रस्य तथा परस्य नलकस्य ।
प्रान्ते वज्जा?)याते गमने स्याद ब्रह्मसूत्रगतिः ॥२३॥
(सोधोगमने तु पूर्वे लोचनखीरके पुटे तद्धि ।
तविबुकरान्ते स्तनचूकस्य मध्ये?) तथा नाभौ ॥२४॥
मध्ये मेढ्रस्यान्ते + + + परजानुनः क्रमेणैव ।
अपराङ्गुष्ठकमूले विज्ञेयं ब्रह्मसूत्रमिति ॥२५॥
परपादप्राद्वक्षि (?) स्थितया क्रियते तथा च पूर्वाह्णे ।
कुर्यात् तलमिह भूतलसूत्रार्धं + मुलोत्क्षिप्तम् ॥२६॥
भूपगतेऽपाङ्गे (चिबुकांशो?) गोलकान्तरे नाभेः ।
सूत्रपरत्वतः पूर्वेण परावसार्धक्षे (?) ॥२७॥
पार्श्वगते संस्थाने पश्चिमपादोऽत्र सप्तगोलः स्यात् ।
द्व्यर्धाक्षगमनमुक्तं ब्रूमः पार्श्वगतेर्गमनम् ॥२८॥
आवर्ते + + कूटे गण्डप्रान्ते च सृक्कभागस्य ।
गलवर्त्तौ स्तनमध्ये गोलत्रितयान्तरे नाभेः ॥२९॥
(स्फिक्पार्श्वपश्चिमजानुनश्चा पूर्वार्तमामृतं सूत्रम् ।

स्यादपरपार्ष्णिपूर्वस्थितं चभिवेत्थोने?) ॥३०॥
क्षपयेत् परभागाह्णि (?) स्वस्मात्मानाद् यथोदितादत्र ।
(पूर्वाह्ण ?) रङ्गुष्ठः कर्तव्यो भूमिसूत्रस्थः ॥३१॥
पश्चादङ्गुष्ठाग्रं सुश्लिष्टं स्याद् विलम्बिते गमने ।
अङ्गुष्ठाङ्गुले ब्रह्मसूत्रतस्तालिके मध्ये (?) ॥३२॥
द्रुतगमनेऽङ्गुष्ठाग्रं कर्तव्यं षोडशाङ्गुले, तस्मात् ।
(परपादाभूमेसः?) प्रोत्क्षिप्तो भवति पूर्वपादश्च ॥३३॥
इति सर्वेषु ज्ञेयं गमनस्थानेषु संस्थानम् ।
सूत्राणामन्येषां विदधीत बुधः स्थितिं यथायोगम् ॥३४॥
(विन्यासयोषणक्षिप्तग?) दृष्टिहस्तादिविनिवेशैः ।
अथ स्थानचतुष्कस्य प्रविच्छन्दककीर्तनात् ॥३५॥
अन्या अपि क्रिया लेख्याः सम्भवन्तीह या नृणाम् ।
शिष्याणां प्रतिपत्त्यर्थं सूत्राणि त्रीणि पातयेत् ॥३६॥
ब्रह्मसूत्रगते सूत्रे ये च पार्श्वे समाश्रये ।
ऊर्ध्वानि त्रीणि सूत्राणि स्थाकेष्व (भिष्वपि?) ॥३७॥
कुर्वीत तेषु मध्ये यद् ब्रह्मसूत्रं तदुच्यते ।
भित्तिके पुनरन्यस्य भागस्यापेक्षया मतम् ॥३८॥
पार्श्वस्थं ब्रह्मसूत्रं स्यात् कार्यतो मध्यगं हि तत् ।
ये द्वयोः पार्श्वयोः सूत्रे + + + + हि ते स्मृते ॥३९॥
प्रदेशावयवस्यात्र निष्पत्त्यै यद्यदीप्सितम् ।
तत्र सूत्रं विधातव्यं तिर्यगूर्ध्वानुसारतः ॥४०॥
अपेक्षितानि यावन्ति प्रत्यङ्गव्यक्तिसिद्धये ।
तावन्त्यवयवव्यक्तिसिद्ध्यै तिर्यङ् नियोजयेत् ॥४१॥
ऊर्ध्वानि त्रीणि सूत्राणि तिर्यङ्मानानुसारतः ॥४२½॥
स्थानानि वैष्णवमुखान्युदितान सम्यक् ।
(त्रिमंगितडिते?)गमनैरुपेते ॥
सूत्रस्य पातनविधिश्च यथावदुक्तो ।
ज्ञाते न भवेत् तदिह सूत्रभृतां वरिष्ठः ॥४३॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे
वैष्णवादिस्थानकलक्षणं नाम एकषष्ठितमोऽध्यायः ।

पताकादिचतुष्षष्टिहस्तलक्षणम्

चतुःषष्टिरिहेदानीं हस्तानामभिधीयते ।
लक्षणं विनियोगश्च योगायोगविभागतः ॥१॥
पताकस्त्रिपताकश्च तृतीयः कर्तरीमुखः ।
अर्धचन्द्रस्तथारालः शुकतुण्डस्तथापरः ॥२॥
मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खटकामुखः ।
सूच्यास्य पद्मकोशाहि शिरसौ मृगशीर्षकः ।३॥
काङ्गूलकालपद्मश्च चतुरो भ्रमरस्तथा ।
हंसास्यो हंसपक्षश्च सन्दंशमुकुलावपि ॥४॥
ऊर्णनाभस्ताम्रचूढ इत्येषा चतुरन्विता ।
हस्तानां विंशतिस्तेषां लक्षणं कर्म चोच्यते ॥५।
प्रसारिताग्राः सहिता यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ॥६॥
उत्क्षिप्तेन शिरो यावत्पाणिना उरसा पुनः ।
नतेन वामतः किञ्चिद् भ्रुकुटीकुटिलभ्रु च ॥७॥
स्तोकविष्फारिताक्षण प्रहारमभिनिर्दिशेत् ।
प्रतापनं तथोद्भूतो (नरेसोग्रतेन च?)॥८॥
तथैवाविकृतास्येन भालस्थः किञ्चिद् विचलितः करः ।
पताकस्फोरिताक्षेण भ्रुकुटीकुञ्चितभ्रुवा ॥९॥
कार्योऽहमिति गर्वः स्याच्चित्रशास्त्रविशारदैः ।
अर्थेषु वक्ष्यमाणेषु संयुतं चैनमाचरेत् ॥१०॥
द्वितीयहस्तयुक्तो यः स हस्तः संयुतः स्मृतः ।
(तत्राग्निसूपणाचाभः पुरतो क्षिणतः पुनः ?) ॥११॥
ऊर्ध्वं प्रसर्प्य कर्तव्यः प्रचलद्भिरलाङ्गुलिः ।
विदध्यादित्थमेवोक्तं वर्षधारानिरूपणम्

(कित्वधामियंतं तौ तावमच्छन्तौ च?) दर्शयेत् ।
पुष्पवृष्टिप्रपतेन प्रचलद्भिरलाङ्गुलिः ॥१३॥
कार्यं हस्तद्वयं वक्रं त्रयोऽप्यत्राधिकारिघः(?) ।
(कैतेव ?) + + चोत्तानं विधाय स्वस्तिकं बुधः ॥१४॥
कुर्वाणो विच्युतिं तस्य पल्वलं सम्प्रदर्शयेत् ।
पुष्पोपहारं (सष्पाणि?) ये चार्था भूतलस्थिता (:) ॥१५॥
तानुन्नमितवामभ्रूः किञ्चिदुद्ग्राहयञ्छिरः ।
तादृशं हस्तयुग्मं तु कुर्यादविकृताननः ॥१६॥
अधोमुखं च तेनव कर्तव्या घटना मिथः ।
संवृतं वाथ विश्लिष्टं तारः + + + + + +॥१७॥
दर्शनीयं च वदनमस्मिन्नविकृतं सदा ।
पाल्यं छन्नं च कर्तव्यं संक्तेन परस्परम् ॥१८॥
किञ्चिद्विनसमूर्धा च विधायाधोमुखौ तलौ ।
मिबिडं निबिडेनैव निर्विकारमुखाम्बुजः ॥१६॥
उरसोऽग्रे तथोर्ध्वेन परावृत्ते च हस्तयोः ।
युगलेन मनश्शर्क्ति प्रयत्नेन प्रदर्शयेत् ॥२०॥
गोप्यं वामेन गुप्तेन किञ्चिद्विनतमस्तकः ।
किञ्चिदाकुञ्चितां वामां भ्रुवं कृत्वा प्रदर्शयेत् ॥२१॥
पार्श्वस्थेन पताकेन (पाण्यङ्गद्वितयेन तु ।
अधिकस्थेन पताकेन?) पाण्यब्जद्वितयेन तु ॥२२॥
अविकारिमुखो वायोः कुर्यादभिनयं ततः ।
नतोत्त + शिरास्तेन (द्विहित भ्रुकुटिमानके?) ॥२३॥
वेलामुर्वीं च मतिमान् पाणियुग्मेन दर्शयेत् ।
पुरःस्थितेन वानेन दक्षिणेन तु पाणिना ॥२४॥
(तसृष्टे?) सर्पता स्तोकमुद्ग्राहितशिरा नरः ।
वेगं प्रदर्शयेन्नित्यमविकारि दधन्मुखम् ॥२५॥
(इत्युश्वेनुश्च?) चलता हस्तयोर्द्वितयेन तु ।
मूर्ध्ना तदनुगेनैव तथैव विकृताननः ॥२६॥
क्षोभस्याभिनयं कुर्याद्धस्ताभिनयकोविदः ।
(उधस्तृधो मुखेनावः यतःपरार्थतापि च?) ॥२७॥

पताकेनाभिनेतव्यो विधाय भ्रुकुटिं मनाक् ।
पार्श्वव्यवस्थितेनोर्ध्वं चलदङ्गुलिना मुहुः ॥२८॥
उत्साहनं विधातव्यमुन्नम्य च शिरोधराम् ।
तिर्यग्विष्फार्यमाणेन प्रभूतमभिनिर्दिशेत् ॥२९॥
महतोऽभिनयः कार्यः पार्श्वयोरूर्ध्वसर्पिणा ।
भ्रान्तेनोत्तानितेनाविकृतास्येन महाजनम् ॥३०॥
रूपयेदुच्चमुच्चेन पताकेनैव पाणिना ।
इतस्ततः प्रचलता दर्शयेत् पुष्कराहतिम् ॥३१॥
(सत्ताक्षपेण ववत्रेण चलयै + मुखेन च?) ।
स्थितेन पार्श्वयोस्तिर्यग् रिच्यमानेन दर्शयेत् ॥३२॥
पक्षोत्क्षेपक्रियां नित्यं वक्त्रेण विकृतेन च ।
उत्तानितेन वामेन विधृतेनेतरेण तु ॥३३॥
पुरःप्रसर्पिणा धौतं हस्तानुगतदृष्टिना ।
निघृष्टतलहस्तेन भ्रुकुट्या मृदितं पुनः ॥३४॥
प्रघृष्टमेकरूपेण द्वितीयेन प्रसर्पता ।
(तेन?) स्योपरि हस्तेन निविष्टेन विधीयते ॥३५॥
अन्योन्यघर्षणात् पिष्टं भ्रुकुट्या च प्रदर्शयेत् ।
पार्श्वस्थितेन शैलेन्द्रं दूरविष्फारितेन च ॥३६॥
प्रदर्शयेत् समुत्क्षिप्य मनाग् भ्रूलतिकां शनैः ।
शैलधारणमन्योन्यसक्तेनाभिमुखेन च ॥३७॥
पार्श्वयोः सम्प्रवेश्याधः कृतभ्रुकुटिना ततः ।
कार्यमुत्क्षिप्यमानेन शैलप्रोत्पाटनं तथा ॥६८॥
शिरःप्रदेशसंस्थेन दूरमुत्तानितेन च ।
समुन्नतभ्रुवा कार्या पर्वतोद्धरणक्रिया ॥३९॥

इति पताकहस्तः॥

पताके तु यदा वक्र नामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
त्रिपताकः स विज्ञेयः कर्म चास्याभिधीयते ॥४०॥
(अयं + + अवि?) चलन्मध्याकनिष्ठिकः ।
अत्रोहेन विधातव्यो नतमूर्ध्ना तथा मनाक् ॥४१॥
उन्नामेन समुत्क्षिप्तपुरोभागेन चामुना ।

नमता शिरसा कुर्यात् तथावतरणक्रियाम् ॥४२॥
पार्श्वतः सर्पता कार्यमनुनैव विसर्जनम् ।
पराङ्मुखाना (रयोग्र?) भ्रुकुटिं विरचय्य वा ॥४३॥
धारणं पार्श्वसंस्थेन प्रवेशोऽधो नतेन च ।
प्रवेशं कुर्वताकारो (वेकुब्जनविकारिताः?) ॥४४॥
उत्क्षिप्ताङ्गुलियुग्मेन तथोत्तानेन चामुना ।
उन्नामनं विचालव्यनविकारिमुखेन च ॥४५॥
पार्श्वतो नमता कार्यः प्रणामो नतमस्तकैः ।
निदर्शनं तथोद्वृत्तेनोर्ध्वाङ्गुलिशिखेन च ॥४६॥
प्रसर्पितमुखस्याग्रे निदर्शनं विविधवचनं च ।
उत्तानेना (सुमाङ्गुल्या ग्रहीत्वा?) नामिकाख्यया ॥४७॥
मङ्गल्यानां समालम्भः पदार्थानां विधीयते ।
पराङ्मुखेन शिरसः प्रदेशे सर्पता तथा ॥४८॥
प्रदर्शयेच्छिरःसन्निवेशमेतेन पाणिना ।
एतानि दर्शनीयानि सर्वाण्यविकृताननैः ॥४९॥
हस्तद्वयेनोभयतः केशानासन्नवर्तिना ।
उष्णीषमुकुटादीनि प्राप्नोतीति निरूपयेत् ॥५०॥
कर्तव्यः श्रोत्रनासास्यपिधाने तु समीपगः ।
पाणिः कृतभ्रुकुटिना तथोर्ध्वस्थाङ्गुलिद्वयः ॥५१॥
अधोमुखं प्रस्थिताभ्यां (मङ्गुलीभ्यां) प्रदर्शयेत् ।
चलाभ्यां मुकुलाभ्यां च हस्तस्यास्यैव षट्पदान् ॥५२॥
दर्शयेत् पाणियुग्मेन कदाचित् पक्षिणो लघून् ।
पवनप्रभृतींश्चैव पदार्थानपरानपि ॥५३॥
चलिताङ्गुलिना हस्तद्वयेना धो नतेन च ।
अधोमुखेन वा स्रोतो दर्शयेत् सर्पता पुरः ॥५४॥
ऊर्ध्वावस्थितिना गङ्गास्रोतः सूत्रनिभेन च ।
अधोविनमता पाणिद्वितयेन प्रदर्शयेत् ॥५५॥
पुरः प्रसर्पतैकेन चलता विकृताननः ।
हस्तेन सर्पाभिनयं विदधीत विचक्षणः ॥५६॥
अङ्गुलिद्वितयेनाधोमुखेनाश्रुप्रमार्जनम् ।

कुर्यात् कनीनिकादेशसर्पिणा विनताननः ॥५७॥
अधश्चार्धं च सर्पन्त्या भालदेशे त्वनामया ।
तिलकं रचयेदेकामन्नम्य भ्रूलतां शनैः ॥५८॥
तया चैवानामिकया कार्या स्याद् रोचनाक्रिया ।
आलभ्य रोचनां मूर्ध्नि तथैव च विचिक्षिपेत् ॥५९॥
तयैव च विधातव्यमलकानां प्रदर्शनम् ।
उत्तानितेन हासश्च त्रिपताकेन पाणिना ॥६०॥
वदनस्याग्रतस्तिर्यगङ्गुलिद्वयचालनात् ।
त्रिपताकाङ्गुलीभ्यां तु चलिताभ्यामुरोग्रतः ॥६१॥
शिखण्डिशारिकाकाककोकिलादीन् प्रदर्शयेत् ।
हस्तस्यानुगतां दृष्टिं (त्रैलोक्य?) + + कारयेत् ॥६२॥
इतित्रिपताकः ॥

त्रिपताके यदा हस्ते भवेद पृष्ठावलोकिनी ।
तर्जनी मध्यमायाश्च तदासौ कर्तरीमुखः ॥६३॥
नमता संयुतेनेत स्ततः तञ्चरणं पदैः ।
(तेतस्य स्तंद्वंलनंत्वं हि युगस्य तदमातया?) ॥६४॥
अधोमुखेन कर्तव्यमनयैव च रङ्गणम् ।
ललाटवर्तिना शृङ्गं संयुतेनोन्नतभ्रुवा ॥६५॥
प्रदर्शयेत् तदुल्लिखता लेख्यमभ्युन्नतभ्रुवा ।
अधोमुखेन चैकेन तथाधो नमता मनाक् ॥६६॥
दर्शयेत् पतनं वाधो गच्छता मरणं तथा ।
नमतेतस्ततः शक्रविक्षेपेण(?) विवर्जितम् ॥६७॥
पाणिना व्रजताधस्तात् कुञ्चितभ्रूर्नमच्छिराः ।
न्यस्तं प्रदर्शयेत् (कार्यादृकसंयम्यमाचस्तं कुर्यान्निर्घाटनं तथा ॥
पीनं वालद्रुमीः कञ्चुकरानुगा?) । इति कर्तरीमुखः ॥
यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवत् ॥३९॥
सोऽर्धचन्द्र इति प्रोक्तः करः कर्मास्य कथ्यते ।
तेनोन्नतभ्रूरेकेन शशिलेखां प्रदर्शयेत् ॥७०॥
मध्यमौपन्य + मायस्तं कुर्यान्निर्घाटनं तथा ।
पीनं बालद्रूमाः कम्बु कलशा बलयानि च ॥७१॥

प्रदर्शनीयान्येतेन संयुतेनेति चापरे ।
रशनाकुण्डलादीनां तलपत्रस्य चामुना ॥७२॥
कीटजघनयोश्चाभिनयस्तद्देशवर्तिना ।
अस्याप्यनुगता दृष्टिः कार्या सर्वत्र नर्तकैः ॥७३॥ इति अर्धचन्द्रः ॥
आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।
शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता अरालेऽङ्गुलयः स्मृताः ॥७४॥
आस्तृतेनाग्रतोऽनेन किञ्चिदभ्युत्थितेन च ।
सत्त्वशौण्डीर्यगाम्भीर्यधृतिकान्तीः प्रदर्शयेत् ॥७५॥
दिव्याः पदार्था ये चान्ये तानप्यविकृताननः ।
दर्शयेदुन्नतभ्रूश्च पाणिनानेन नर्तकः ॥७६॥
आशीर्वादं तथैकेन स्त्रीकेशग्रहणं च यत् ।
निर्वर्णनं च सर्वाङ्गमात्मनो यद् विधीयते ॥७७॥
उत्कर्षणं च तत् सर्वं कार्यमभ्युन्नतभ्रुवा ।

दर्शयेद्धस्तयुग्मेन प्रदक्षिणगतेन च ॥७८॥
विवाहं संप्रयोगं च कौतुकानि बहूनि च ।
अङ्गुल्यग्रसमायोगरचितस्वस्तिकेन च ॥७९॥
परिमण्डलयातेन प्रादक्षिण्यं प्रदर्शयेत् ।
परिमण्डलसंस्थानं तथानेन महाजनम् ॥८०॥
द्रव्यं महीतले यच्च रचितं तत् प्रदर्शयेत् ।
दानं वारणमाह्वानमनेकवचनं तथा ॥८१॥
दर्शयेच्चलता तेन हस्तेनासंयुतेन च ।
खेदापनयनं कार्यं गन्धाघ्राणं तथामुना ॥८२॥
तत्प्रदेशे प्रवृत्तेन पाणिना नृत्तकोविदैः ।
योषितां विषये त्वेष पाणि प्रायेण युज्यते ॥८३॥
कर्माण्येतानि सर्वाणि त्रिपताकवदाचरेत् ।
नाहमित्यभिनेतव्यमास्यदेशस्थितेन च ॥८४॥
अस्यानुयायिनीं दृष्टिं विदधीत भ्रुवौ तथा । इत्यरालः ॥

अरालस्य यदा वक्रानामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ॥८५॥
शुकतुण्डः स विज्ञेयः कर्म चास्याभिधीयते ।
न त्वमित्यमुना तिर्यक् प्रसृतेन प्रदर्शयेत् ॥८६॥

एवमेव प्रयोक्तव्यो युक्त पथ्ये शमे यमे ॥१४६॥
द्वाभ्यामेकेन वा स्तोकं मण्डलावस्थितेन च ।
विचारितं प्रयोक्तव्यं विहृतं लज्जितं तथा॥१४७॥
वदनं तत्र कर्तव्यमविकार्यं नतभ्रुवा ।
वितर्कितमुरोभ्यर्णे मण्डलावस्थितेन तु ॥१४८॥
अधोमुखेन पुरतः कार्यं विश्लिष्यता तथा ।
मुखं चाविकृतं तत्र कायमभ्युन्नते भ्रुवौ ॥१४९॥
शिरस्तु वामतो (तत्र नतं च पुनः?) ।
उभाभ्यां नयनाभ्यां तु मृगकर्णप्रदर्शनम् ॥१५०॥
कार्यं तद्देशवर्तिभ्यां सभ्रूक्षेपं विचक्षणः ।
उत्तानेन युतेनाथ पत्राकारं प्रदर्शयेत् ॥१५१॥
हस्तेन चंतुराख्येन विनमय्य भ्रुवं मनाक् ।
लीलां रतिं स्मृतिं बुद्धिं संज्ञामायाविचारणाः ॥१५२॥
सङ्गतं प्रणयं शौचं माधुर्यं भावमक्षमम् ।
पुष्टिं (सविच?) शीलं च चातुर्यं मार्दवं सुखम् ॥१५३॥
प्रश्नं वार्तां च वेषं च युक्तिं दाक्षिण्ययौवने ।
विभवाविभवौ स्तोकं सुरतं शाद्वलं मृदु ॥१५४॥
गुणागुणौ गृहा दारा वर्णा नानाविधाश्रयाः ।
चतुरेणाभिनेतव्यास्ते सर्वेऽपि यथोचितम् ॥१५५॥
क्वचित् प्रभावता क्वापि (भ्रमता?) मृदुता क्वचित् ।
प्रतीतिर्जायतेऽर्थस्य यस्य यस्य यथा यथा ॥१५६॥
प्राज्ञैस्तथा तथा शीर्षेऽभिनेयाऽयुक्तपाणिना ।
भ्रूदृष्टि (चकुरगोश्च?) कार्यास्तदनुसारतः ॥१५७॥
मण्डलस्थेन हस्तेन पीतं रक्तं च दर्शयेत् ।
किञ्चिन्नतभ्रूः शिरसा परिमण्डलितेन च ॥१५८॥
तेन प्रदर्शयेत् कृष्णं नीलं च परिमृद्नता ।
चतुरेण कपोतादीन् वर्णान् स्वाभाविकेन च ॥१५९॥ इति चतुरः ॥
मध्यमांङ्गुष्ठसंदंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ।
ऊर्ध्वमन्ये प्रकीर्णे द्वे अङ्गुल्यौ भ्रमरे करे ॥१६०॥
कुमुदोत्पलपद्मानां ग्रहणं तेन पाणिना ।

तथैव दीर्घवृन्तानामन्येषामपि रूपयेत् ॥१६१॥
कर्णपूरो विधातव्यः कर्णदेशे स्थितेन च ।
दृष्टिभ्रुवौ चाभिनये तेषां कार्ये करानुगे ॥१६२॥   इति भ्रमरः ॥
तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरन्तराः ।
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषद्वे सम्प्रसारिते ॥१६३॥
किञ्चित् प्रस्पन्दिताङ्गुष्ठेनामुनोत्क्षिप्य च भ्रुवौ ।
निस्सारमल्पं सूक्ष्मं च दर्शयेन्मृदुलं लघु ॥१६४॥
कर्तव्योऽभिनये चैषां दृग्भ्रुवौ च करानुगे ।   इति हंसवक्त्रः ॥
अङ्गुल्यः प्रसृतास्तिस्त्रस्तथाचोर्ध्वा कनीयसी ॥१६५॥
अङ्गुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः ।
उत्तानेन वहिस्तियङ् निवापजलमोक्षणम् ॥१६६॥
कर्तव्यं तेन गण्डस्य रूपस्य गण्डवर्तनभ् ।
कुर्वीत् चैनमुत्तानं भोजने च प्रतिग्रहे ॥१६७॥
तथाचमनकार्ये च कर्तव्योऽयं द्विजन्मनाम् ।
अधस्तादन्तयोरेनं कुर्यात् स्वस्तिकयोगिनम् ॥१६८॥
किञ्चिन्नतेन शिरसा + + + ।
उभाभ्यां पार्श्वयोस्तिर्यग्वैताभ्यां स्तम्भदर्शनम् ॥१६९॥
कुर्वीतैकेन रोमाञ्चं वामबाहुप्रसर्पिणा ।
संवाहनेऽनुलेपे च स्पर्शं तद्देशवर्तिनम् ॥१७०॥
विषादे विभ्रमे स्त्रीणां स्तनान्तःस्थं यथारसम् ।
अधस्तलं प्रयुञ्जीत तथैनं हनुधारणे ॥१७१॥
अस्यानुयायिनीं दृष्टिं पाणेः कुर्याद् भ्रुवौ तथा ।   इति हंसपक्षः ॥
तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंशस्त्वरालस्य यदा भवेत् ॥१७२॥
आभुग्नतलमध्यश्च सन्दंश इति स स्मृतः ।
स चाग्रमुखपार्श्वानां भेदेन त्रिविधो भवेत् ॥१७३॥
तं पुष्पावचये पुष्पग्रथने च प्रयोजयेत् ।
तृणपणग्रहे केशसूत्रादेश्च परिग्रहे ॥१७४॥
शिल्पैकादेशग्रहणे त्वग्रसंदंशकं स्थिरम् ।
आकर्षणे तथा कृष्णे वृन्तात् पुष्पस्यचोद्धृतौ ॥१७५॥
विदध्यादेवमेवैनं शलाकादिनिरूपणे ।

कुन्तलाङ्गदगण्डानां कुण्डलानां च रूपणे ।।११६।।
तद्देशवर्तिनी कार्या प्रचलन्ती च सा मुहुः ।
ललाटसंवृत्तोद्वृत्ता कार्याहमिति रूपणे ।।११७।।
प्रसारितोन्नमिता वा रिपूद्देशे विधीयते ।
कार्या प्रकम्पिनी साग्रे चोग्रकोपप्रदर्शने ११८।।
कोऽसावित्यपि निर्देशे कार्या तिर्यग्विनिर्गमा ।
कर्णकण्डूयने शब्दश्रवणे श्रोत्रसंश्रया ।।११९।।
कार्ये हस्तद्वयाङ्गुल्यौ संयुते संमुखे युते ।
वियोगे विघटन्त्यौ तु कलहे स्वस्तिकाकृती ।।१२०।।
(चतुधनिता?) कार्ये परस्परनिपीडने ।
ऊर्ध्वाग्रचलिता यावत् कर्तव्यै के+वर्णने ।।१२१।।
कुर्याद् दृशं भ्रुवौ चास्य हस्तस्यानुगते बुधः । इति सूचीमुखः ।।
यस्याङ्गुल्यस्तु विरलाः सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः ।।१२२।।
ऊर्ध्वाश्च सङ्गताग्राश्च स भवेत् पद्मकोशकः ।
श्रीफलस्य कपित्थस्य ग्रहणं तेन रूपयेत् ।।१२३।।
बीजपूरकमुख्यानामन्येषामपि दर्शनम् ।
कार्यं फलानां तत्तुल्यरूपेणोर्ध्वस्थितेन च ।।१२४।।
कुर्यात् प्रसारितास्येन योषित्कुचनिरूपणम् ।
कुर्याद् दृष्टिभ्रुवौ चास्य हस्तस्यानुगते बुधः ।।१२५।।इति पद्मकोशकः।।
अङ्गुल्यः संहताः सर्वाः सहाङ्गुष्ठेन यस्य तु ।
तथा निम्नतलाश्चैव स तु सर्पशिराः करः । १२६।।
उत्तानितं तु कुर्वीत सेचनोदकदानयोः ।
अधोमुखं विचलितं भुजगस्य गतौ पुनः ।।१२७
(विधात द्विगुणां वामबाहुतस्थिशरादधः?) ।
विदध्यात् सर्पशिरसा हस्तेनास्फोटनक्रियाम् ।।१२८।।
रचितभ्रुकुटिः कुर्यादेवं तिर्यक्छिरो दधत् ।
पुरतोऽधोमुखेनेभकुम्भास्फालनमाचरेत् ।।१२९।।
दृष्टिभ्रू सहिता कार्या हस्तस्यास्यानुयायिनी । इति सर्पशिराः ।।
अधोमुखीनां सर्वासामङ्गुलीनां समागतिः ।।१३०।।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकावूर्ध्वे तदासौ मृगशीर्षकः ।

इह साम्प्रतमस्त्यद्यत्यत्र चैनं प्रयोजयेत् ॥१३१॥
स्याच्छस्त्रालम्भने तिर्यगुत्क्षिप्तश्चाक्षपातने।
स्वेदापमार्जने कार्योऽधोमुखस्तत्प्रदेशगः ॥१३२॥
कुट्टमिते संचलितः कर्तव्योऽधोमुखश्च सः।
अस्यानुयायिनी दृष्टिः पाणेः कुर्याद् भ्रुवापि ॥१३३॥ इतिमृगशीर्षकः॥
त्रेताग्निसंस्थिता मध्या तर्जन्यङ्गुष्ठका मताः।
काङ्गूलेऽनामिका वक्रा तथाचोर्ध्वा कनीयसी ॥१३४॥
तेनोत्तानेन कर्कन्धूप्रभृतीनि प्रदर्शयेत्।
तरुणानि फलान्यन्यद् वस्तु किञ्चिच्च यल्लघु ॥१३५॥
वाक्यान्यङ्गुलिविक्षेपैः स्त्रीणां रोषकृतानि च।
मुक्तामरकतादीनां रत्नानां च प्रदर्शनम् ॥१३६॥
हस्तेनानेन कर्तव्यं भ्रुवौ चोत्सृष्टदृष्टिगे।   इति काङ्गूलः॥
आवर्तिन्यः करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ॥१३७॥
पार्श्वागता विकीर्णाश्च सोऽलपद्मः प्रकीर्तितः।
तिर्यक् पुरःस्थितः कार्यो हस्तोऽयं प्रतिषेधने ॥१३८॥
कस्य त्वमिति नास्तीति वाक्ये शून्ये च धीमता।
आत्मोपन्यसने स्त्रीणां सन्देशे चोच्छ्रितो भवेत् ॥१३९॥
अस्य चानुगता दृष्टिर्विधातव्या भ्रुवौ तथा।   इत्यलपद्मः॥
अङ्गुल्यः प्रसृतास्तिस्रस्तथाचोर्ध्वा कनीयसी ॥१४०॥
तासां मध्ये स्थितोऽङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः।
अधोमुखः प्रचलितो (मतस्येन ततत्कथा?) ॥१४१॥
विनये च नये चायं कार्योऽभिनयवेदिना।
नैपुण तून्नतशिराः सत्त्वे कृत्वोन्नतां भ्रुवम् ॥१४२॥
विदध्याच्चतुरं हस्तमुत्तानं नियमे पुनः।
किन्तु भ्रुवं च कुटिलां विनयं प्रति नाचरेत् ॥१४३॥
अधोमुखेन हस्तेन तेन बालं प्रदर्शयेत्।
बालप्रदर्शने कुर्याद् भ्रुकुटीविनतं शिरः ॥१४४॥
तेनोत्तानेन वलता दर्शयेदातुरं नरम्।
तिर्यक् प्रसर्प्य तूत्तानो बहिश्चाविकृताननैः ॥१४५॥
सत्ये चानुमतौ चैव हस्त एष विधीयते।

व्यावृत्तेन तु हस्तेन न कृत्यमिति निर्दिशेत् ।
प्रसारितेन पुरतो नमतताभिमुखं मुहुः ।।८७।।
कुर्यादावाहनं तिर्यङ्नमता तु विसर्जनम् ।
व्यावृत्तेन तु हस्तेन न कृत्यमिति वारताम् ।।८८।।
(अवेक्षे निपोनिषेक अ?) परावृत्तेन शस्यते ।
दृष्टिभ्रुवौ चानुगते हस्तस्यास्य समाचरेत् ।।८९।। इति शुकतुण्डः ।।

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः ।
तासामुपरि चाङ्गुष्ठाः स मुष्टिरभिधीयते ।।९०।।
एष प्रहारे व्यायामे कार्यः सभ्रुकुटिमुखैः ।
पार्श्वस्थहस्तयुग्मेन निर्गमे नु विधीयते ।।९१।।
यष्टयसिग्रहणे गात्रमर्दने स्तनपीडने ।
असंयुतो विधातव्यो सुदृष्टिभ्रूवो तथा ।।९२।। इति मुष्टिः ।।

अस्यैव तु यदा मुष्टेरूर्ध्वोऽङ्गुष्ठः प्रयुज्यते ।
हस्तः स शिखरो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ।।९३।।
अयं वामो विधातव्यः कुशरश्मिधनुर्ग्रहे ।
हस्तद्वयं व्याप्रियतो(?) सृणिग्रहणकर्मणि ।।९४।।
शक्तितोमरमोक्षे तु सव्यहस्तः प्रयुज्यते ।
पादौष्ठरञ्जने चैव चलिताङ्गुष्ठको भवेत् ।।९५।।
अलकस्य समुत्क्षेपे तत्प्रदेशस्थितो भवेत् ।
कुर्यादनुगतामस्य दृष्टि भ्रूयुगलं तथा ।।९६।। इति शिखरः ।।

अस्यैव शिखराख्यस्य व्यङ्गुष्ठकनिपीडिता ।
यदा प्रदेशिनी वक्रा स कपित्थस्तदा स्मृतः ।।९७।।
चापतोमरचक्रासिशक्तिवज्रगदादिना ।
एतेनान्यानि शस्त्राणि सर्वाण्यभिनयेद् बुधः ।।९८।।
सत्यप्यभिनये जन्म + + + विक्षिपेन्मुहुः ।
अत्रापि हस्तानुगतं दृष्टिभ्रूकम शस्यते ।।९९।। इति कपित्थः ।।

उत्क्षिप्तवक्रा तु यदानामिका सकनीयसी ।
अस्यैव तु कपित्थस्य तदासौ खटकामुखः ।।१००।।
अनेन होत्रं हव्यं च नमतान्नं विधीयते ।

द्वाभ्यामाकर्षणच्छत्रप्रग्रहाणां प्रदर्शनम् ॥१०१॥
एकेन च स्यादादर्शधारणं व्यञ्जनं पुनः ।
अवक्षेपसमुत्क्षेपौ व्यावृत्तेन तु खण्डनम् ॥१०२॥
भ्रमता तु विधातव्यममुना परिपेषणम् ।
दीर्घदण्डग्रहे चैव वस्त्रान्तालम्बने तथा ॥१०३॥
कुशकेशकलापादिग्रहे स्रग्दामसंग्रहे ।
दृष्टिभ्रूसहितो हस्तः प्रयोक्तव्यो विचक्षणः ॥१०४॥इति खटकामुखः॥
खटकाख्ये यदा हस्ते तर्जनी संप्रसारिता ।
हस्तः सूचीमुखो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥१०५॥
एतदीयप्रदेशिन्या व्यापारः प्रायशो भवेत् ।
नतोऽर्वाक् कम्पितो लोलव्यालोद्वाहितकभ्रमाः ॥१०६
(ते स तत्र नत्र कर्मणि युज्यते ।
भ्रुमाया?) भिनयेच्चक्रं जृम्भितं चलयानया ॥१०७॥
विलोलया पताकादीन् .... या ।
धूपदीपप्लुतावल्लीपल्लवान् वालपत्रमात् ॥१०८॥
(.........भ्रद्वया?) पुष्पमञ्जरीम् ।
चलया वक्रगमनं चूलिकामुद्ध + + या ॥१०९॥
(सा बुधा चादाहु विधातर्धकम्पितपा?) ।
धूपदीपलतावल्लीपल्लवान् वालपन्नगान् ॥११०॥
शिखण्डकान् मण्डलं च नयनं चोर्ध्वलोलया ।
तारकानासिकादण्डयष्टीरूर्ध्वस्थयानया ॥१११॥
दंष्ट्रिणो दर्शयेद् वक्त्रासन्नयाधो नताग्रया ।
तिर्यङ्मण्डलया सर्वं तया लोकं प्रदर्शयेत् ॥११२॥
आये दीर्घे च दिवसे विदध्यादुन्नतामिमाम् ।
विनमन्तीं पुनः कुर्यादपराह्णप्रदर्शने ॥११३॥
कर्तव्या वदनाभ्याशे सा कुञ्चितविजृम्भिता ।
अङ्गुलिः नृत्ततत्त्वज्ञैर्वाक्यार्थस्य निरूपणे ॥११४॥
सोऽयं तदिति निर्देशे प्रसृतोत्तानकम्पिता ।
रोष प्रकम्पिताग्राच हस्तेनाभ्युन्नतेन च ॥११५॥
प्रसृताग्रेण नमता च कर्तव्या स्वेदरूपणे।

रोषे धिगिति वाक्ये च बहिर्भागप्रसर्पिणम् ॥१७६॥
(यज्ञोपचितं?) तत्प्रदेशे स्थितेन च ।
उत्तानेनोरसोऽग्रे तु संयुतेन च वेधनम् ॥१७७॥
(वचनं वलहा किञ्चित् समध्येनाधोमुखेन च ?)।
ग्रहणं गुणसूत्रस्य वाणलक्षनिरूपणम् ॥१७८॥
ध्यानं योगं च हृद्देशवर्तिना संप्रदर्शयेत् ।
स्तोकाभिनये कर्तव्यः संयुतस्तूरसः पुरः ॥१७९॥
कुत्सासूयाकोमलेषु सदोषवचनेषु च ।
विवर्तिताग्रः कर्तव्यो वामो विघटितो मनाक् ॥१८०॥
प्रवालचरने वर्तिग्रहणे नेत्ररञ्जने ।
आलेख्ये चैष कतव्यस्तथालक्तकपीडने ॥१८१॥
अस्य भ्रुवौ च दृष्टिं च कुर्यादनुगतां ततः । इति सन्दंशः ॥
समागताग्रसहिता यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।१८२॥
ऊर्ध्वं हंसमुखस्येव स भवेन्मुकुलः करः ।
कर्तव्यः संहतोऽत्रातो मुकुलाम्भोरुहादिषु ॥१८३॥
पुरः प्रसर्प्योच्चलितः कर्तव्यो विटचुम्बकः । इति मुकुलः ॥
पद्मकोशस्य हस्तस्य त्वङ्गुल्यः कुञ्चिता यदा ॥१८४॥
ऊर्णनाभः स विज्ञेयश्चौर्यकेशग्रहादिषु ।
चौयकेशग्रहे चैष कर्तव्योऽधोमुखः करः ॥१८५॥
शिरःकण्डूयने मूर्धनः प्रदेशे प्रचलन्मुहुः '
तिर्यग्वर्ती विधातव्यः कुष्ठव्याधेर्निरूपणे ॥१८६॥
अधोमुखः स्थितेनाधः सिंहव्याघ्रादिरूपणे ।
कार्यो भ्रुकुटिवक्त्रेण संयतोऽस्य ग्रहस्तथा ॥१८७॥
अत्रापि दृष्टिभ्रूकर्म प्राग्वदेव विधीयते । इत्यूर्णनाभः ॥
मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ॥१८८॥
मृगव्यालादिवित्रासे बालसन्धारणे तथा ।
अयं हस्तो विधातव्यो भर्त्सने भ्रुकुटीयुतः ॥१८९॥
सिंहव्याघ्रादियोगे च विच्युतः शब्दवान् भवेत् ।
दृष्टिभ्रुवौ च कर्तव्ये नि त्यमस्यानुगे बुधः ॥१९०॥
अपरैः छिदितासंज्ञो हस्तोऽयं परिकीर्तितः । इति ताम्रचूडः ॥

असंयुतानां हस्तानां चतुर्विंशतिरीरिता ॥१६१॥
अथोदशाथ कथ्यन्ते संयुता नामलक्षणैः ।
अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥१६२॥
खटकावर्धमानश्चाप्युत्सङ्गनिषधावपि ।
डोलः पुष्पपुटस्तद्वन्मकरो गजदन्तकः ॥१६३॥
अवहित्थाभिधानश्च वर्धमानस्तथापरः ।
त्रयोदशैते कथिता हस्ताः संयुक्तसंज्ञिताः ॥१६४॥
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषात् सोऽञ्जलिः स्मृतः ।
शिरश्च विनतं किञ्चित् तत्र कार्यं विपश्चिता ॥१६५॥
कार्यो गुरुनमस्कारो मुखस्यासन्नवर्तिना ।
वक्षःस्थितेन मित्राणां न स्थाननियमः स्त्रियाः ॥१६६॥ इत्यञ्जलिः ॥
उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योन्यं पार्श्वसङ्ग्रहात् ।
हस्तः कपोतनामा स्यात् कर्म चास्याभिधीयते ॥१६७॥
कुर्यात् प्रणमनं वक्षःस्थितेन तु नमच्छिराः ।
गुरुसंभाषणं कुर्यात् तेन शीतं भयं तथा ॥१६८॥
विनयस्याभ्युपगमे चायमित्यभिधीयते ।
तेनैवाङ्गुलिसंघृष्यमाणमुक्तेन पाणिना ॥१६९॥
एतावदिति नेदानीं कृत्यं चेति प्रदर्शयेत् । इति कपोतः ॥
अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्यान्योन्याभ्यन्तरनिःसृताः ॥२००॥
स कर्कट इति ज्ञेयः करः कर्मास्य कथ्यते ।
समुन्नतशिराः किञ्चिदुत्क्षिप्तभ्रूश्च जृम्भणम् ॥२०१॥
अनेनैवाङ्गमर्दं च कामार्तानां निरूपयेत् । इति कर्कटः ॥
मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ स्त्रीप्रयोजितौ ॥२०२॥
उत्तानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ।
समन्ततस्तदूर्ध्वं च विस्तीर्णं च वनानि च ॥२०३॥
ऋतवो गगनं मेघा .....? । इति स्वस्तिकः ॥
खटकः खटके न्यस्तः खटकावर्धमानकः ॥२०४॥
शृङ्गारार्थे प्रयोक्तव्यः परावृत्तस्तथापरः ।
कार्यो विटगतौ नम्रमूर्धा + तत्प्रमाणतः ॥२०५॥ इति खटकः ॥
अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानो वर्धमानकौ ।
उत्सङ्ग इति ज्ञेयः + स्पर्शग्रहणे करः ॥२०६॥

उत्सङ्गसंज्ञकौ स्यातां हस्तौ तत्कर्म चोच्यते ।
विनियोगस्तयोः कार्यः (बालाकः प्रहरेणः तु?) ॥२०७॥
विधातव्याविमौ हस्तौ स्त्रीणामीर्ष्यायिते तथा ।
दक्षिणं वापि वामं वा न्यस्येत् कूर्परमध्यगम् ॥२०८॥ इत्युत्सङ्गः ॥
अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु प्रलम्बितौ ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संस्मृतः ॥२०९॥ इति दोलः ॥
यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्याङ्गुलिनिरन्तरः ।
द्वितीयः पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पपुटः (पराणि च ॥२१०॥
ग्रास्थान्यथो यानि यानि?) द्रव्याण्येतेन दर्शयेत् ।
जलादानापयने कुर्यात् + + + + + + ॥२११। इति पुष्पपुटः ॥
पताकौ तु यदा हस्तावूर्ध्वाङ्गुष्ठावधोमुखौ ।
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदासौ मकरध्वजः ॥२१२॥ इति मकरः ॥
कूर्परे सन्धितौ हस्तौ यदा स्तां सर्पशीर्षकौ ।
गजदन्तः स विज्ञेयः करः कर्मास्य तस्य च ।२१३॥ इति गजदन्तः ॥
शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्याभिमुखाञ्चितौ ।
शनैरधोमुखाविद्धौ सोऽवहित्थ इति स्मृतः ॥२१४॥
उत्कण्ठाप्रभृतीनि च कुर्यादितेन हस्तेन । इत्यवहित्थः ॥
हंसपक्षस्थितौ यदि स्यातां पूर्वंमुक्तौ पराङ्मुखौ ॥२१५॥
बर्धमानः सः विज्ञेयः कर्म चास्य निगद्यते । इतिवर्धमानः ॥
..................लक्षणम् भ्रष्टम् ॥२१६॥ इति निषधः ॥
एतेषां नृत्तहस्तत्वेऽप्यभिनीत्युपयोगिताम् ।
समा + + जितां तत्र स्वयमभ्यूह्य कल्पयेत् ॥२१७॥
चेष्टयांगेन हस्तेन प्रयोगः सत्वकैरपि ।
गण्डोष्ठनासापार्श्वोरुपादचारादिभिस्तथा ॥२१८॥
यथा यथा प्रतीतिः स्यात् प्रयतेत तथा तथा ।
कृतानुकरणं ... .॥२१९॥
नृत्त-हस्ता :—लक्षणं नृत्तहस्तानामिदानीमभिधीयत
चतुरश्रौ तथोद्वृत्तौ स्वस्तिकौ विप्रकीर्णकौ ॥२२०॥
पद्मकोशाभिधानौ चाप्यरालखटकामुखौ ।
आविद्धवक्त्रकौ सूचीमुखरेचितसंज्ञकौ ॥२२१॥
अर्धरेचितसंज्ञौ तु तथैवोत्तानवञ्चितौ ।

पल्लवाख्यौ करौ चाथ केशबन्धौ लताकरौ ॥२२२॥
करिहस्तौ तथा पक्षवञ्चिताख्यौ ततः परम् ।
पक्षप्रद्योतकौ चैव तथा गरुडपक्षकौ ॥२२३॥
ततश्च दण्डपक्षाख्यावूर्ध्वमण्डलिनौ ततः ।
पार्श्वमण्डलिनौ तद्वदुरोमण्डलिनावपि ॥२२४॥
अनन्तरं करौ ज्ञेयावुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ।
मुष्टिकस्वस्तिकाख्यौ च नलिनीपद्मकोशकौ ॥२२५॥
ततश्च कथितौ हस्तावलपल्लवकोल्बणौ ।
ललितौ वलिताख्यावित्येकान्नत्रिंशदीरिता ॥२२६॥
पुरस्ताद् वक्षसो हस्तौ प्रदेशेऽष्टाङ्गुले स्थितौ ।
समानकूर्परांसौ तु संमुखौ खटकामुखौ ॥२२७॥
चतुरश्राविति प्रोक्तौ नृत्तहस्तविशारदैः । इति चतुरश्रौ ॥
तावेव हंसपक्षाख्यौ व्यावृत्तिपरिवर्तनात् ॥२२८॥
नीतौ स्वस्तिकतां पश्चात् च्यावितौ मणिबन्धनात् ।
विप्रकीर्णाविति प्रोक्तौ नृत्ताभिनयकोविदैः ॥२२९॥इति विप्रकीर्णौ ॥
तावेव हंसपक्षाख्यौ कृत्वा व्यावर्तनक्रियाम् ।
अलपल्लवतां नीतौ ततश्च परिवर्तितौ ॥२३०॥
विधायोर्ध्वमुखौ हस्तौ कर्तव्यौ पद्मकोशकौ । इति पद्मकोशकौ ॥
पुनर्विवर्तितं कृत्वा परिवर्तनकं ततः ॥२३१॥
अरालं दक्षिणं कुर्याद् वामं च खटकामुखम् ।
खटकाख्यास्त्रयो हस्ताः स्वक्षेत्रेऽसौ विधीयते ॥२३२॥
भुजांसकूर्परैः सार्धं कुटिलावर्तितौ यदा । इत्यरालखटकामुखौ ॥
हस्तावधोमुखतलावाविद्धावुद्धताबुभौ ॥२३३॥
विनतौ नामतो विद्यादिमावाविद्धवक्त्रकौ ।
आविद्धवक्त्रकौ चैव गदावेष्टनयोगतः ॥२३४॥इत्याविद्धवक्त्रकौ ॥
यदा तु सर्पशिरसौ तलस्थाङ्गुष्ठकौ करौ ।
तिर्यक्स्थौ प्रसृताग्रौ च सूच्याख्यौ करौ तदा ॥२३५॥इतिसूचीमुखौ॥
हस्तौ सूचिमुखावेव मणिबन्धनविच्युतौ ।
व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां वर्तितौ तदनन्तरम् ॥२३६॥
हंसपक्षत्वमानीय कुर्यात् कमलवर्तिताम् ।
तथा द्रुतभ्रमौ कृत्वा रेचितौ पार्श्वयोः शनैः ॥२३७॥

रेचिताविति विज्ञेयौ हस्तौ हस्तविशारदः ॥ इति रेचितौ ॥
कूर्परांसाञ्चितौ हस्तौ नीतौ च त्रिपताकताम् ।२३८॥
किञ्चित् त्र्यश्रस्थितावेतौ ज्ञेयावुत्तानवञ्चितौ ।इत्युत्तानवञ्चितौ ॥
बाहुवर्तनया कृत्वा पूर्वंव्यावर्तितक्रियाम् ।२३९॥
चतुरश्रकपरिवृत्तिभ्यां चतुरश्रः कृतो यदा ।
वामहस्तस्तदितरः (कृत्वादेष्वित?) रेचितः करः ।२४०॥
अर्धरेचितसंज्ञौ तौ विज्ञातव्यौ तदा बुधैः । इत्यर्धरेचितौ ॥
व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां र्तितौ चतुरश्रवत् ॥२४१॥
बाहुवर्तनया बाहुशीर्षाद व्यावर्तनेन वा ।
करणेन विनिष्क्रान्तौ यदि वाभ्यर्णमागतौ ॥२४२॥
पताकावेव निर्दिष्टौ पल्लवौ नामतः करौ । इति पल्लवौ
उद्वेष्टितवर्तनया गत्या च स्रस्तया स्थितौ मूर्ध्नः ॥२४३॥
पार्श्वद्वितये पल्लवसंस्थानौ केशबन्धाख्यौ । इति केशबन्धौ ॥
अभिमुखमुभौ निविष्टौ (भुविष्टितर्तनक्रमादसौ?) ॥२४४॥
पल्लवहस्तौ पार्श्वद्वितये स्यातां लतासञ्ज्ञौ । इति लताहस्तौ ॥
व्यावर्तितकरणाभ्यां (करिहस्ते?) दक्षिणो लताहस्तः ॥२४५॥
उन्नतविलोलितः स्यात् त्रिपताको वामहस्तस्तु । इति करिहस्तौ ॥
उद्वेष्टितपरिवर्तनया त्रिपताकावभिमुखौ यदा घटितौ ॥२४६॥
करिहस्तसन्निविष्टौ करौ तदा पक्षवञ्चितकौ । इति पक्षवञ्चितकौ॥
तावेव त्रिपताकौ हस्तौ कटिशीर्षसन्निविष्टाग्रौ ॥२४७॥
विपरावृत्तिविधानात् पक्षप्रच्योतकौ नाम्ना ।इति पक्षप्रद्योतकौ॥
अधोमुखतलाविद्धौ ज्ञेयौ गरुडपक्षकौ ॥२४८॥ इतिगरुडपक्षकौ ॥
हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ॥२४९॥ इति दण्ड पक्षौ
ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तावूर्ध्वदेशविवर्तनात् ।
तावेव पर्श्वविन्यस्तौ पार्श्वमण्डलिनौ स्मृतौ ॥२५०॥
इति पार्श्वमण्डलिनौ ॥
उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितयश्चापवेष्टितः ।
भ्रामितावुरसः स्थाने हि उरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥२५१॥इत्युरोमण्डलिनौ॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते समराङ्गणसूत्रधारनाम्नि वास्तुशास्त्रे पताकादिचतुःषष्टिहस्तलक्षणं नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ।

परिशिष्टम्

चित्र-लक्षणम्

प्रक्कथनम्

वास्तु-शास्त्रीय-ग्रन्थेषु चित्रशास्त्रप्रतिपादकानां ग्रन्थानामतीव वैरल्य-मस्ति। तेषु सर्वप्रख्याततमं पुराणे विष्णु-धर्मोत्तरे चित्रसूत्रं तु सर्वे जानन्त्येव नग्नजितः चित्रलक्षणं मूलरूपेण नोपलभ्यते। वास्तु-शास्त्रीय-ग्रन्थेषु च त्रयो ग्रन्था एव चित्रशास्त्रं प्रतिपादयन्ति—समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्, अपराजित पृच्छा, शिल्प-रत्नञ्च।

मानसोल्लासापराभिधऽभिलषितार्थचिन्तामणावपि आलेख्यकर्म सुदृढं निरूप्यते। अतः ग्रन्थपञ्चकमिदमालोड्य चित्रलक्षणमिदं संकलितम्। यश्च विषयविभागः प्रपञ्चितः, या च नवीना सरणिरासादिता, यश्च प्रबन्धप्रवाहः प्रवर्तितः तेन सर्वेणाशासे ग्रन्थोऽयं मौलिक इव समुत्पत्स्यते, विश्वविद्यालयीय-कलाछात्राणाञ्च कृते पाठ्यपुस्तकमिवोपकरिष्यते।

समराङ्गणीयश्चित्र-खण्डोऽत्र परिशिष्टे निष्कासितः केवलं टिप्पणीभि र्विषयाः निर्दिष्टाः यतोहि पञ्चमे खण्डे अविकलः भागः समराङ्गणीयः निवेशितः पूर्वमेव प्रकाशितरिति दिक्।

विषयानुक्रमणी

चित्रलक्षणे

१. चित्रप्रशंसा

(i) वि० ध०

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥
यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां ।
यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः ।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीश—
स्तथा कलानामिह चित्ररूपः ॥

(ii) स० सू० ७१

'चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्'

(iii) अ० पृ० २२४

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी ।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
वृक्षगुल्मलातावल्ल्य-स्वेदजाणुजरायुजा : ।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागराः ॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा ।
चित्रमूलोद्भवाः सर्वे संसारद्वीपसागराः ॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णं वै चित्ररूपकाः ।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम् ॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीदं परात्परम् ।
आत्मवद्वै सर्वमिदं ब्रह्मतेजोऽनुपश्यताम् ॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमसं यथा ।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
विश्वं विश्वावतारश्च त्वनाद्यन्तश्च सम्भवेत् ।
आदिचित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा ॥
शिवशक्तेर्यथारूपं संसारे सृष्टिकोद्भवः ।
चित्ररूपमिदं सर्वं दिनं रात्रिस्तथैव च ॥
निमिषश्च पलं घट्यो यामः पक्षक एव च ।
मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः ॥
चित्ररूपमिदं सर्वं संवत्सरयुगादिकम् ।

कल्पादिकोद्भवं सर्वं सृष्ट्याद्यं सर्वकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारचिता तथा ।
तेषां चित्रमिदं ज्ञेयं नानात्वं चित्रकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिगणाः सर्वे तद्रूपाः पिण्डमध्यगाः ।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि ॥
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम् ।
चित्रावतारे भावं च विधातुर्भाववर्णतः ॥
आत्मानं च शिवं पश्येद् यद्वय्य जलचन्द्रमाः ।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं शिवशक्तिमयं परम् ॥
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षं चित्रमयं तथा ।
शिवशक्त्यालयं चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम ॥
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममार्गतः ।
लीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ॥
चित्रावताररूपं तु कथितं च परात्परम् ।
यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
देवो देवी शिवः शक्तिः व्याप्तं यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीमवध्ये च जीवकम् ॥
कूपो जले जलं कूपे विधिपर्य्यायतस्तथा ।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

२. चित्रोत्पत्तिः

वि० ध०

अतः परं प्रवक्ष्यामि चित्रं तवानघ ।
उर्वशीं सृजतः पूर्वे चित्रसूत्रं नृपात्मज ॥
नारायणेन मुनिना लोकानां हितकाम्यया ।
प्राप्तानां वञ्चनार्थाय देवस्त्रीणां महामुनिः॥
सहकाररसं गृह्य उर्व्यां चक्रे वरस्त्रियम् ।
चित्रेण सा ततो जाता रूपयुक्ता वराप्सराः ॥
यां दृष्ट्वा व्रीडिताः सर्वा जग्मुस्ता देवयोषितः ।
एवं महामुनिः कृत्वा चित्रं लक्षणसंयुतम् ॥
ग्राहयामास स सदा विश्वकर्माणमच्युतम् ।

३. चित्रं नृत्यं गीतञ्च

वि० ध०

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ।
दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः ॥

करास्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम् ।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम् ।।
नत्ते प्रमाणं येनोक्तं तत्प्रवक्ष्याम्यतः श्रृणु ।
देवतारूपनिर्माणं कथयस्व ममानघ ।।
यस्मात्संन्निहिता नित्यं शास्त्रवत्साकृतिर्भभेत् ।
चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यङ्नराधिप ।।
प्रतिमालक्षणं वेत्तुं न शक्यन्तेन कर्हिचित् ।
चित्रसूत्रं समाचक्ष्व भृगुवंशविवर्धन ! ।।
चित्रसूत्रविदेवाथ वेत्ति वाग्लक्षणं यतः ।
विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुविदम् ।।
जगतो न क्रिया कार्या द्वयोरपि यतो नृप ।
नृत्यशास्त्रं समाचक्ष्व चित्रसूत्रं वदिष्यसि ।।
नृत्यशास्त्रविधानं च चित्रं वेत्ति यतो द्विज ।
आतोद्यं यो न जानाति तस्य नृत्तं हि दुर्विदम् ।।
आतोद्येन विना नृत्तं विद्यते न कथञ्चन ।
आतोद्यं त्वं हि धर्मज्ञ नृत्यशास्त्रं वदिष्यसि ।
तस्मिन्सुविदिते वेत्ति नृत्यं भार्गवसत्तम ।

४. षडङ्गं चित्रम्

यशो० (का० सू०)

रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम् ।।

५. चित्रप्रकाराणि

वि० ध०

सत्यं च वैणिकं चैव नागरं मिश्रमेव च ।
चित्रं चतुर्विधं प्रोक्तं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ।।
यत्किञ्चल्लोकसादृश्यं चित्रं तत्सत्यमुच्यते ।
दीर्घाङ्गं सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम् ।।
चतुरस्रं सूसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम् ।
प्रमाणं स्थानलम्भाढयं वैणिकं तन्निगद्यते ।।
दृढ़ोपचितसर्वाङ्गं वर्तुलं नद्यनोल्वणम् ।
चित्रं तं नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम् ।।
चित्रमिश्रं समाख्यातं सामान्यं मनुजोत्तम ।

(ii)

असंख्यातानि सत्वानि शक्यन्ते नैव भाषितुम्।।
तत्तद्रूपानुसारेण लेखनीयानि कोविदैः ।।

सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिविम्बवत् ।
तच्चित्रं विद्धमित्याहुर्शिवकर्मादयो बुधाः ॥
आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते ।
आकरामात्रसंपत्वे तदविद्धमिति स्मृतम् ।
शृङ्गारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ॥
सद्रवैर्वर्णकैर्लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः ।
चूर्णितैर्वर्णकैर्लेख्यं धूलिचित्रं विदुर्बुधाः ॥
सुप्रमाणं तथा विद्धमविद्धं भावचित्रकम् ।
रसधूलिगतं प्रोक्तं मानसोल्लासपुस्तके ॥
निर्मितं चित्रलक्ष्मेदं चित्रं लोचनहारकम् ।
भूलोकमल्लदेवेन चित्रविद्याविरिञ्चिना ॥
चित्रं लक्षणसंयुक्तं लेखयित्वा महीपतिः ।

(iii) शिल्प० तच्चित्रं तु त्रिधा ज्ञेयं तस्य भेदोऽधुनोच्यते ॥
सर्वाङ्गदृश्यकरणं चित्रमित्यभिधीयते ॥
भित्यादौ लग्नभावेनाप्यर्धं यत्र प्रदृश्यते ।
तदर्धचित्रमित्युक्तं यत्तत् तेषां विलेखनम् ॥
चित्रभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्पविशारदैः ।
रसचित्रं तथा धूलीचित्रं चित्रमिति त्रिधा ।
एतान्यनलवर्णानि चूर्णयित्वा पृथक् पृथक् ॥
एतैश्चूर्णैः स्थण्डिले रम्ये क्षणिकानि विलेपयेत् ।
धूलीचित्रमिदं ख्यातं चित्रकारैः पुरातनैः ॥
सादृश्यं दृश्यते यत्तु दर्पणे प्रतिविम्बवत् ।
तच्चित्रमिति विख्यातं नालमाकारमात्रकम् ॥
शृङ्गारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
......................रसचित्रमिति स्मृतम् ॥

६. चित्रोद्देशाः चित्रबिषयाःवा (i) स० सू० (मूलम्) ७१, परिष्कृतम् ५०

(ii) म० पृ० २३३ चित्रकर्म प्रवक्ष्यामि रूपालङ्कारसंयुतम् ।
कीर्तिवक्त्रोद्भवाकारं? कथये तव साम्प्रतम् ॥
भृकुटिकुटिलान्त्रनेत्रवाराहकर्णमेषशृङ्गोद्भवम् ।

मृगकपोलसिंहवक्त्रं कीर्तिःस्यान्मुखोपमाख्याता ॥
भृकुटिः स्याद् बद्धकर्णाऽश्वस्कन्धः केशरावृतः।
क्रममध्ये परावृत्तो ह्रस्वपादः सिंहोत्तमः ॥
सिंहव्यालं मेषव्यालं शुकव्यालं च सौकरम् ।
माहिषं मूषकव्यालं कीटव्यालं च व्याकरम् ।
हंसकुक्कुटमायूरं त्रिपल्ली सर्पव्यालकम् ॥
इति षोडश व्यालानि उक्तानि मुखभेदतः ।
शरीरं हि महद्रूपं हस्तपादपुच्छादिकम् ॥
व्यालानन्तरतो रूपमनेकाकारतः स्मृतम् ।
त्रुटितं त्रिभङ्ग चैव ललितं कुञ्चितं तथा ॥
गमितालीढप्रत्यालीढावृत्तं परिवर्तकम् ।
उद्भिन्नं भिन्नसूत्रं च व्यावर्त्तं च महोद्भवम् ॥
नानारूपं समाख्यातं शोकं च पद्मकेशरम् ।
द्विरष्टोक्तानि साकूतं रूपाणि विविधानि च ॥
वैयाघ्रं समपादं च आलीढं च प्रत्यात्मकम् ।
पूर्वापिरयाम्योत्तर रहोबोधव्या च ममापतिः? ॥
नवषणोक्ताक्षा लक्षयेच्चित्रसूत्रधानेन ।
धैरसाख्याता शान्तादि सहतोद्भवा? ॥
धवलोत्तुङ्गमाडानि वेश्मानि विविधानि च ।
नगरग्रामपुरादिदेशानां च पुनः क्रमम् ।
द्वीपसागरोद्भवानि सर्वाणि मण्डलानि च ॥
सर्वजीवोद्भवं पूर्वं लक्षयेच्चित्रसूत्रकम् ।
चित्राभ्यासोद्भवाः सर्वे सुरासुरनरोत्तमाः ॥
मेघाश्चित्रवर्णरूपा आदित्याश्चैव चन्द्रमाः ।
ग्रहनक्षत्राद्याः सर्वे अर्चिर्वह्निसंयुताः ॥
दिक्पालादिका लक्ष्या इन्द्राद्याः सुप्रदक्षिणम् ।
गजाश्वखरपादाद्या प्रसङ्ख्यातास्तथैव च ॥

....

सभादौ च विन्तेदार्थां यूक्तं नृत्यनाट्यादिकम् ॥
एवमादि समस्तं च चित्राभ्यासाच्च लक्षयेत् ।

लतावृक्षादिकान् वाथ नागान् वा सागरानपि ।
श्रोत्राभ्यां वाथ नेत्राभ्यां मनसा वाथ निश्चितान् ।।
आलिखेत किट्टिलेखिन्या सुमुहूर्ते सुलग्नके ।
स्वस्थचित्तः सुखासीनः स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ।।

(चित्राविषयाः)

चित्राभासं पुनस्तेषामेकमार्गं समाश्रयेत् ।
बहिरन्तश्च सर्वेषां यत्र युञ्जीत सर्वतः ।
सुमङ्गलकथोपेतं मन्त्रमूर्त्यादिसंयुतम् ।
सङ्ग्रामं मरणं दुःखं देवासुरकथास्त्वपि ।।
नग्नं तपस्विलीलां च न कुर्यान्मानुषालये ।
भित्त्यादौ तत्र लेख्यं स्याच्चित्रं चित्रतराकृति ।।
स्वागमाखिलवेदादिपुराणोक्तकथान्वितम् ।
नानावर्णान्वितं रम्यं न न्यूनं नाधिकं क्वचित् ।।
तत्रतत्रोचिताकाररसभावक्रियान्वितम् ।
चित्रं विचित्रफलदं भर्तुः कर्तुश्च सर्वदा ।।
अतोऽन्यदशुभं चित्रं विपरीतफलप्रदम् ।
न लेखयेत् तन्न लिखेल्लोकद्वयसुखेच्छया ।।

७. चित्राङ्गानि स० सू० — मू० ७१, परि० ५०

८. भूमिबन्धनं चित्रभित्तिर्वा स० सू० मू० — ७२, परि० ५१

(ii) मानसो०, अ०चि०,

सुधया निर्मितां भित्तिं श्लक्ष्णां क्षतविवर्जिताम् ।
लेपयेच्चित्रकर्मार्थं लेपद्रव्यं प्रचक्ष्यते ।।
माहिषं त्वचमादाय नवं तोयेन मेलयेत् ।
नवनीतमिवायाति यावच्चिक्कणतां भृशम्
तत्कल्कं चिक्कणीभूतं शलाकाः परिकल्पयेत ।
यत्नेन शोषयेत्पश्चाद्यावत्काठिन्यमाप्नुयुः ।।
वज्रलेपो मयाऽख्यातः चित्रे सर्वत्र शस्यते ।
तं कृत्वा मृत्तिकापात्रे तोयं क्षिप्त्वा प्रतापयेत् ।।
स तप्तो द्रवतां याति सर्ववर्णेषु तद्द्रवः ।
मिश्रणीयप्रमाणेन यथा वर्णो न नश्यति ।।
आदाय मृत्तिकां श्वेतां वज्रलेपेन मिश्रयेत् ।
तया लेपं प्रकुर्वीत शुष्कभित्तौ त्रिवारतः ।।

शङ्खचूर्णं सितापिष्टं वज्रलेपसमन्वितम् ।
आदाय भित्तिकां लिम्पेद्यावत्सा श्लक्ष्णतां व्रजेत् ॥
धातुं नीलगिरौ जातं श्वेतं चन्द्रसमप्रभम् ।
नगनाम्नैव विख्यातं शिलायां परिपेषितम् ॥
मिश्रितं वज्रलेपेन समादाय च पाणिना ।
लिम्पयेन्मृदुलेपेन स्वच्छमच्छं शनैश्शनैः ।

(iii) शिल्प०

लिपेत् कुड्यं ततश्चित्रं लेपयेदथवा पुनः ।
दग्ध्वा शङ्खादिकं काष्ठैश्चूर्णितं यत् सुधा हि सा ॥
× × चूर्णं × × चतुर्थांशमुद्गक्वाथलवैः सह ।
गुलतोयेन संसिञ्चेत् तच्चूर्णं बालुकान्वितम् ॥
× × × × प्रमाणं हि सुधातुर्यांशमानतः ।
कालाग्निपक्वकदलीफलपिष्टं तु योजयेत् ॥
तत्पिष्टस्य प्रमाणं हि सुधावेदांशकं स्मृतम् ।
द्रोण्यां क्षिप्त्वाथ सम्मर्द्य गते मासत्रये पुनः ॥
पेषयेद् दृषदि क्षिप्त्वा दृषदा गुलवारिणा ।
नवनीतमिवायाति यावत् तावत् सुपेषयेत् ॥
अथ कुड्यादिकं सम्यग् संशोध्य समतां नयेत् ।
नारिकेलत्वचामग्रैः सुसूक्ष्मं शिथिलीकृतैः ॥
पूनस्तद्गुलतोयेन सिक्त्वा नीत्वा दिनाल्पकम् ।
पश्चात् तत्र सुधापिष्टं तत्र दर्व्या विलेपयेत् ॥
दर्व्याकारविशालादि सर्वमौचित्यभेदतः ।
लौही दारुमयी वाथ श्लक्ष्णपृष्ठा भवेदिह ॥
तद्दर्वीपृष्ठभागेन निम्नोन्नतविवर्जितम् ।
लिप्त्वा पिष्टसुधां सम्यङ् मन्दं मन्द पुनः क्रमात्॥
नारिकेलत्वचालिप्य शुद्धतोयसमवन्तिाम् ।
शुष्के तस्मिन् वर्णलेपं कुर्यात् चित्रार्थमेव हि ॥
फलकादौ तक्षणेन स्निग्धे वर्णं विलेपयेत् ।
सुधालेपो न कर्तव्यश्चित्रार्थं फलकादिषु ॥

९. लेप्यकर्म वर्णलेपो वा
(i) वि० ध०

त्रिप्रकारेष्टिकाचूर्णं त्र्यंशं क्षिप्त्वा मृदस्ततः ।
गुग्गुलं समधूच्छिष्टं मुरुकं गुडम् ॥

कुसुम्भं तैलसंयुक्तं कृत्वा दध्यात्समांशकम् ।
त्रिभागमग्निदग्धाया सुधायास्तत्र चूर्णयेत् ॥
बिल्वजं द्व्यंशमिश्रं तत्प्रक्षिप्य मषकं कषम् ।
बालुकांशं ततो दद्यात्स्वानुरूपेण बुद्धिमान् ॥
ततः शकलतोयेन प्लावयेत्पिच्छिलेन तम् ।
परिक्लिन्नं समग्रं तन्मासमात्रं निधापयेत् ॥
मार्दवं मासमात्रेण गतमुद्धृत्य यत्नतः ।
दद्यात्प्रलेपं निपुणः शुष्कं कुड्ये विमृश्य तु ॥
श्लक्ष्मणं समं स्ववष्टब्धं निम्नोन्नतविना कृतम् ।
न चातिघनतां यातं न चातितनुताङ्गतम् ॥
यदा शुष्कं भवेत्कुड्यं तत्प्रलिप्तमसत्कृतम् ।
तया मृदा सर्जरसा तैलभागावियुक्तया ॥
श्लक्ष्णीकुर्यात्प्रयत्नेन लेपनैः श्लक्ष्णमञ्जनैः ।
मुहुर्मुहुश्च क्षीरेण सिक्त्वा मार्जनयत्नतः ॥
सद्यः शोषमुपायातं कुड्यं तन्मनुजेश्वर ।
अपि वर्षशतस्यान्ते न प्रणश्येत्तु कर्हिचित् ॥
अनेनैव प्रकारेण द्विविधैर्वर्णकैर्युताः ।
कर्तव्याश्चित्रवपुषा विविधा मणिभूमयः ॥
कुड्ये शुष्के ि ग ौ शस्ते रूक्षे च गुणसंयते ।
चित्रायोगे विशेषेण श्वेतवासा यतात्मवान् ॥
ब्राह्मणान्पूजयित्वा तु स्वस्ति वाच्य प्रणम्य च ।
तद्विदश्च यथान्यासं गुरूँश्च गुरुवत्स ाः ॥
प्राङ् मुखो देवताध्यायी चित्रकर्म समाचरेत् ।
श्वेतकाद्रवकृष्णाभिर्वर्तिकाभिर्यथाक्रमम् ॥
आलिख्य स्थापयेद्विद्वान्प्रमाणे स्थानके तथा ।
ततस्तु रञ्जयेद्रङ्गैर्यथास्थानानुरूपतः ॥
श्यामा गौरी तथा तस्यच्छविः स्यात्तां प्रदर्शयेत्
तस्याश्च लक्षणं प्रोक्तं प्राप्ताया नृप विस्तरे ॥

(ii) स० सू० — मू० ७३, परि० ५२ ।

(iii) ह० पृ० २३२ लेपकर्म प्रवक्ष्यामि यदुक्तं पूर्वमेव हि ॥

श्वेतां रक्तां तथा पीतां मृत्तिकां च समाहरेत् ॥
कापिलं तु घृतं क्षीरमतसीमाथमेव च ॥
यवगोधूभचूर्णं तु वर्णं च वसुकघृतम् ॥
क्षीरवृक्षत्वचा मिश्रं बकुलं गुडमंयुतम् ।
सेन्द्रवृक्षं प्रेषणीयं मासं वा पक्षतोऽधिकम् ॥
पाषाणगर्भचूर्णं तु सूक्ष्मं कृत्वा समस्तकम् ।
पट्टत उद्धरेत्लेप (कल्कं) मर्दयेत्तैलवारिभिः ॥
प्रक्षिप्तातसीतैलेन सुपिष्ठं कज्जलोपमम् ।
पिण्डान्कृत्वा मुष्टिमात्रानातपैः शुष्कतापितान् ॥
आस्फोटिते वज्रसमाः आतयः सिद्धिकामदः ।
अतस्तु स्फुटिते पिण्डे बन्धद्रव्यादिकं क्षिपेत् ॥
सुधायाश्च प्रवक्ष्यावि बन्धनं दलनं तथा ।
शैलजा बन्धका वापि श्वेताः पाषाणकोत्तमाः ॥
खण्डशश्चैव कर्त्तव्या प्रमाणे धात्रिकोपमाः ।
सुसंचिताः अमैर्युक्ता आनेया उपलान्तरे ॥
तथा वरेष्टिकामध्ये आधारानि सुनि.. क्षिपेत् ।
समस्तं ज्वालयेन्मध्ये यावदशनिशान्तकम् ॥
मल्लिकायावकं कृत्वा स्थूणिकाकारमस्तकम् ।
क्षिपेद्बिल्वरसाद्यं च मासं वा पक्षतोऽधिकम् ॥
शिलोत्थार्धकयुक्तं च मर्द्दयेत्सुधयोत्तमा ।
त्रिचारा उत्तमाख्याता रूपार्थेन चतुर्थिका ॥
अर्चारूपोद्भवा कार्या मानयुक्तिश्च शास्त्रतः ।
सन्चित्य त्विष्टिकाबन्धं हस्तपादशीर्षादितः ॥
सूक्ष्मे द्व्यङ्गुलो लेपः स्थूले त्वङ्गुलमात्रकः ।
दिनेऽर्धे च दिनान्ते वा दद्याल्लेपानुलेपनम् ॥
सर्वाङ्गे लिप्तमात्रं च सूक्ष्मतेजः समुद्भवेत् ।
शीर्षे काचोत्तमखण्डटीकाभरणसंयुता ॥
वर्णे रसविशेषां च मसिरेखां समुद्धरेत् ।
अङ्गप्रत्यङ्गकोपाङ्गदृष्टिकाभिरनेकधा ।
विचित्रवस्त्रालङ्कारैर्भूषितां चित्रकोपमाम् ।

स्वभावजैरलङ्कारैर्नखकेशादिभिः क्रमात् ॥
भृङ्गहस्ता गजदन्ता बद्धपर्य्यङ्कसंस्थिता।
योगमुद्रा करयुग्मे करोद्धृतगजादिका ॥
हारकेयूरसंम्युक्ता कुण्डलाभ्यामलङ्कृता ।
मालामुकुटशोभाढ्या कर्त्तव्या शान्तिमिच्छता ।
भैरवी भैरवो देवः सर्वदेवादितः क्रमात् ।
शास्त्रप्रमाणयुक्ता च शुभ्रवर्णा च तेजसा ॥

(iv) शिल्प०

अथ वक्ष्यामि संक्षेपात् सर्वेषां वर्णलेपनम् ।
संस्कृतिं च विशेषेण तेषां योगं तथैव च ॥
सितवर्णं पीतवर्णं रक्तवर्णं च कज्जलम् ।
एतानि शुद्धवर्णानि श्यामवर्णं तथैव च ॥
सुधावलिप्तकुड्याादौ धवलं वर्णमालिपेत् ।
शङ्खशुक्त्यादिकं वाथ सितमृद्वाथ (?) चूर्णयेत्
कपित्थनिम्बनिर्यासतोयैरालोड्य बुद्धिमान् ।
मन्दमालेपयेद भित्तौ फलके वा यथारुचि ॥
शाकोटकत्वचा वाथ केतकीहस्ततोऽपिवा ।
यदा सुस्निग्धतां याति तदावृत्त्या विलेपयेत् ।
अथवौलूखले गर्ते सुधाचूर्णानि निक्षिपेत् ।
पिष्ट्वा पुनः पुनः सम्यङ्मुसलेन महामतिः ॥
केरवालफलोदेन सिक्त्वा तं पेषयेत् पुनः ।
तं पिष्टमुष्णतोयेन सम्यगालोड्य गालयेत ।
पुनः पूर्वोक्तमार्गेण सुधोपरि विलेपयेत् ।
इदं तु फलकादौ न शक्यं शक्यं मृदादिषु
एवं धवलिते भितौ दर्पणोदरसन्निभे ।
फलकादौ पटादौ वा चित्रनेवनमारभेत् ॥
पटादौ फलकाद्युक्तमार्गमाश्रित्य लेखयेत् ।
पुराणलोष्टचूर्णेन शुष्कगोमयचूर्णकान् ॥
तुल्यशीतजलेनापि योजयेत् पेषणीतले ।
पिष्ट्वा तेन विधायाशु शोषयेत् किट्टलेखनीम् ॥

१० अण्डकवर्तनम् स० सू०—मू० ७४, परि० ५३

११. चित्रकर्मणि देवादीनां   स० सू० — मू० ७५, परि० ५४

अ. शरीर-प्रमाणम्

ब. हंसादिपञ्चपुरुषलक्षणानि   हंसो भद्रोऽथ मालव्यो रूचकः शशकस्तथा ।

(ii) वि० ध०

विज्ञेयाः पुरुषाः पञ्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
उच्छ्रायायामतुल्यास्ते सर्वे ज्ञेयाः प्रमाणतः ।
स्वेनेवाङ्गलमानेन शतमष्टाधिकं भवेत् ॥
प्रमाणं नृप हंसस्य भद्रस्य तु षडुत्तरम् ।
चतुर्भिरधिकं ज्ञेयं मालव्यस्य तथा नृप ॥
शतं च रुचकस्योक्तं दशोनं शशकस्य च ।
द्वादशाङ्गुलविस्तारस्ताल इत्यभिधीयते ॥
अङ्गुल्यन्तच्चतुर्भागं पादोच्छ्रायः प्रकीर्तितः ।
द्वौ च तालौ तथा जङ्घे पादतुल्ये च जानुनी ॥
जङ्घातुल्यौ तथा चोरु नाभिस्तालं तु मेढ्रतः ।
तावच्च नाभिहृदयं हृदयात्कण्ठ एव च ॥
कण्ठस्तालत्रिभागः स्यात्तालं च वदनं भवेत् ।
तालषड्भागमप्युक्तं ललाटोपरि मस्तकम् ॥
मध्ये मेढ्रं तु विज्ञेयमिति दैर्घ्यं प्रकीर्तितम् ।
तालः प्रोक्तः करो राजन्बाहू सप्तदशाङ्गुलौ ॥
प्रबाहू तावदेवोक्तौ वक्षसोर्धमथाष्टकम् ।
एतदायामतः प्रोक्तं मानं हंसस्य पार्थिव ॥
अनेनैवानुसारेण शेषाणामपि कल्पयेत् ।
आयामपरिणाहाभ्यां समाः सर्वे नराधिप ॥
सामान्यतस्ते नृपवर्य मानं प्रोक्तं मया हंसनराधिपस्य ।
प्रत्यङ्गमानं च मयोच्चमानं समासतस्त्वं शृणु राजसिंह ॥

स. चित्रकर्मणि मूर्त्यवयवप्रमाणं तदनुसारेण मघक्षहंसमालव्यादिवर्णनम्—वि०ध०
अथ प्रत्यङ्गविभागो भवति तत्र द्वादशाङ्गुलपरीणाहो मूर्धा । चतुरङ्गुलोच्छ्रायमष्टाङ्गुलं ललाटम् । शङ्खौ चतुरङ्गुलौ द्व्यङ्गुलोच्छ्रायौ पञ्चाङ्गुलौ गण्डौ चतुरङ्गुलौ हनुः । द्व्यङ्गुलौ कर्णौ चतुरङ्गुलोच्छ्रायो । कर्णमध्याङ्गुलं तद्रन्ध्रमुदकम् । पालिरनियमेन । (कर्णस्य लुटिकापालिः) नासा चतुरङ्गुला अग्रे द्व्यङ्गुलोच्छ्राया त्रिकायामा च नासापुटावंगुलीवितारौ द्विगुणद्विगुणायामौ । नासौष्ठ-

मध्यमर्धाङ्गुलम्। ओष्ठाश्चाङ्गुलः। चतुरङ्गुलायाममास्यम्। अधरोङ्गुलं द्व्यङ्गुलं चिबुकम्। चत्वारिंशद्दन्ताः नेष्वष्टौ दंष्ट्राः। अर्धाङ्गुलोच्छ्रिता दन्ताः। अङ्गुलद्वादशभागिका दंष्ट्रा। अङ्गुलविस्तृते त्र्यङ्गुलायामे नेत्रे। नेत्रत्रिभा कृष्णमण्डलम्। पञ्चभागास्तारा। अर्धाङ्गुलिविस्तृते त्र्यङ्गुलायामे भ्रुवौ। तयोर्द्व्यङ्गुलमन्तरम्। चतुरङ्गुलं नेत्रान्तकर्णविवरम्। दशाङ्गुल विस्तृता ग्रीवा। एकविंशत्यङ्गुलपरिणाहा षोडशाङ्गुलं स्तनान्तरम्। षडङ्गुलं स्तनजन्वन्तरम्। षोडशबाहुमूलपरिणाहः। द्वादशाग्रे सप्ताङ्गुलं करतलम्। पञ्चाङ्गुलं विस्तृतं पञ्चाङ्गुलप्रमाणा मध्यमिका। तत्पूर्वदलहीना प्रदेशिनी। ततुल्या चानामिका। ततरिहीना कनिष्ठिका सर्वाः समत्रिभागपर्वाः। पर्वार्धा नखाः। त्र्यङ्गुलमङ्गुष्ठं द्विपर्वः। जठरपरिणाहो द्वचत्वारिंशांगुलः। वेद्यप्रमाणाभ्यामङ्गुलं नाभिः। कटिरष्टादशांगुला विपुला। तत्परिधिश्चत्वारिंशत्। चतुरङ्गुलविस्तृतौ वृषणौ। षडङ्गुलं तावत्परिणाहं मेढ्रम्। तन्मध्यत ऊरु चतुरङ्गुलौ। तद्द्विगुणपरिणाहाङ्गुलविपुले जानुनी। तत्त्रिगुणपरिणाहं जङ्घायाम्। पञ्चाङ्गुलं चतुर्दशपरिणाहं द्वादशदीर्घौ षडङ्गुलविस्तृतौ पदौ त्रिकायताङ्गुष्ठौ। अङ्गुष्ठतुल्या प्रदेशिनी। तदष्टांशोनाः शेषाः। अङ्गुलचतुर्भागहीनोऽङ्गुष्ठनखः। तदर्धप्रमाणं प्रदेशिन्याः। तदष्टभागः शेषाणाम्। सर्वपादमङ्गुल मष्टाङ्गुलोत्सेधः। त्र्यङ्गुले पार्ष्णी, चतुरङ्गुलोच्छ्रायौ इति हंसप्रमाणं भवति। भवन्ति चात्र। शेषाणां पार्थिवेन्द्राणां मानं युक्त्या प्रकल्पयेत् अनेनैवानुसारेण स्वमानस्यानुसारतः।

मधक्षश्चन्द्रगौरस्तु नागराजभुजो बली।
हंसगामी सुमध्यश्च हंसश्च सुमुखो भवेत्॥
रोमरुद्धकपोलस्तु गजगामी महामतिः।
वृत्तोपचितबाहुस्तु भद्रः पद्मनिभो भवेत्॥
मुद्गश्यामस्तु मालव्यः कृशमध्यस्तनुच्छविः।
आजानबाहुः पीनांसो दन्तघोगो महाहनुः॥
शरद्गौरस्तु रुचकः कम्बुग्रीवो महामतिः।
सत्यस्तु सिकतश्चैव बलवांश्च प्रकीर्तितः॥
रक्तश्यामस्तु शशकः किञ्चित्कबुरकस्तथा।
पूर्णं गण्डश्च चतुरो मध्वक्षश्च प्रकीर्तितः।

य. चित्रकर्मण्यंगप्रत्यङ्गमानेन अङ्गप्रत्यङ्गमानेन यथा पञ्च नराः स्मृताः।

स्त्रीणां निर्माणम् ।

स्त्रियः पञ्च तथा ज्ञेयास्ता एव मनुजोत्तम ॥
पुरुषस्य समीपस्था कर्तव्या योषिदीश्वर ।
नरस्कन्धप्रमाणेन कार्यैका सा यथामिति ॥
अङ्गुलौ द्वौ नरात्क्षामं स्त्रियो मध्यं विधीयते ।
अधिका च कटिः कार्या तथैव चतुरङ्गुलम् ॥
उरः प्रमाणतः कार्यौ स्तनौ नृप मनोहरौ ।

र तेनैव सामान्यमानवर्णनम्

नृपाश्च सर्वे कर्तव्या महापुरुषलक्षणाः ॥
जालपादकराः कार्यास्तथा वै चक्रवर्तिनः ।
उर्णेयं च भ्रुवोर्मध्ये तेषां कार्यं तथा शुभम् ॥
रेखाश्च करयोः कार्यस्तिस्र राज्ञां मनोहराः ।
शशक्षतजसङ्काशाः शस्त्रा वै क्षामकोटकाः ॥
तदङ्गभङ्गिनः सूक्ष्मा निजस्नेहाभ्यलङ्कृताः ।
घनेन्द्रनीलसदृशाः केशाः कार्यास्तथा शुभाः ॥
कुन्तला दक्षिणावर्तास्तिरङ्गा सिंहकेसराः ।
वर्धरा जूटटसरा इत्येताः केशजातयः ।
चापाकारं भवेन्नेत्रं मत्स्योदरमथापि वा ।
नेत्रमुत्पलपत्राभं पद्मपत्रनिभं तथा ॥
शानाकृतिर्महाराज पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
चापाकारं भवेन्नेत्रं प्रमाणेन यथा स्त्रियः ॥
मत्स्योदराख्यं कथितं तथा यवचतुष्टयम् ।
नेत्रमुत्पलपत्राख्यं प्रमाणात्षड्यवं स्मृतम् ॥
पद्मपत्रनिभं नेत्रं प्रमाणेन यवा नव ।
शशाकृतिं च विज्ञेयं तथैव च यवा दश ॥
स्वमानाङ्गुलमानस्य यवमानं प्रकल्पयेत् ।
चापाकारं भवेन्नेत्रं योगभूमिनिरीक्षणात् ॥
मत्स्योदराकृति कार्यं नारीणां कामिनां तथा ।
नेत्रमुत्पलपत्राभं निर्विकारस्य शस्यते ॥
त्रस्तस्य रुदतश्चैव पद्मपत्रनिभं भवेत् ।
क्रुद्धस्य वेदनान्तस्य नेत्रं शराकृतिर्भवेत् ॥
ऋषयः पितरश्चैव देधताश्च नराधिप ।

स्वप्रभाभरणाः कार्या द्युतिमन्तस्तथैव च ।
मुष्णन्तस्तेजसां तेजः परेषां नृपसत्तम ।
सम्यग्विचार्य नृपतिः स्वधिया यथोक्तं द्योतत्प्रमाणमनुरूपमनिन्दितं च ।
स्थानैरनेककिरणैः स्थिरभूमिलम्भैः कार्यं तदेव सकुमारमजिह्मरेखम् ॥

ल. चित्रकर्मणि देवतानेत्राद्यंग-वर्णनम् वि० ध०

नेत्रमुत्पलत्राभं रक्तान्तं कृष्णतारकम् ।
प्रसन्नं दीर्घपक्ष्मान्तं मनोज्ञं नृपसत्ताम ॥
देवतानां करं राजन् प्रजाहितकरं भवेत् ।
समे गोक्षीरवर्णाभे स्निग्धे जिह्माग्रपक्ष्मले ॥
प्रसन्ने पद्मनेत्रान्ते मनोज्ञे प्रियदर्शने ।
कृष्णतारे विशाले च नयने श्रीसुखप्रदे ॥
चतुरस्त्रं सुसम्पूर्णं प्रसन्नं शुभलक्षणम् ।
अत्रिकोणमवक्रं च अधिकारमुखं भवेत् ॥
दीर्घमण्डलचक्राणि त्रिकोणादीनि यानि च
वर्ज्यानि तानि देवानां प्रजासु शिवमिच्छता ॥
कार्या हंसप्रमाणेन देवा यदुकुलोद्वह ।
तेषां च लोमकर्त्तव्यमक्षिपक्ष्मसु च भ्रुवोः ।
अतः शेषेषु गात्रेषु देवाः स्युर्लोमवर्जिताः ।
द्विरष्टवर्षाकाराश्च तथा कार्या दिवौकसः ॥
प्रसन्नवदना नित्यं तथा च स्मितदृष्टयः ।
मुकुटैः कुण्डलैर्हारैः केयूरैरङ्गदैस्तथा ॥
भूषितास्तेऽथ कर्तव्याः शुभस्रग्दामधारिण; ।
श्रोणीसूत्रेण महता पादाभरगचारिगा ॥
यज्ञोपवीतवन्तश्च सावतंसास्तथैव च ।
जान्वधोलम्बिना कार्याः शोभिना कटिवाससा ॥
वामे मनुजशार्दूल दक्षिणं जानु दर्शयेत् ।
अंशुकं च तथा कार्यं देवतानां मनोरङ्गम् ॥
प्रभा च तेषां कर्तव्या मूर्ध्निः प्रमाणतः ।
मण्डलाभा महाराज देवतातोऽनुकारिणी ॥
ऊर्ध्वा दृष्टिरधोदृष्टिस्तिर्यक् तेषां विवर्जयेत् ।
हीनाधिका वा दीना वा क्रुद्धा रूक्षा तथैव च ॥

ऊर्ध्वा तु मरणायोक्ता शोकायाधः प्रकीर्तिता ।
तिर्यग्धनविनाशाय हीना भवति मृत्यवे ॥
अधिका शोकजननी दीना च नृपसत्तम ।
रूक्षा धनक्षयाय स्यात्क्रुद्धा भयविवर्धिनी ॥
शातोदरी न कर्तव्या न कार्या चाधिकोदरी ।
सुक्षता च न कर्तव्या तथा यदुकुलोद्वह ॥
हीनाधिकप्रमाणा च रूक्षवर्णा तथैव च ।
विवृतेन च वक्त्रेण नता च यदुनन्दन ॥
प्रमाणहीनैरङ्गैश्च त्वधिकैरपि पार्थिव ।
शातोदरी क्षुदभ्यदा मरणायाधिकोदरी ॥
सक्षता मरणायोक्ता हीना धनविनाशिनी ।
अधिका शोकजननी रूक्षवर्णा भयप्रदा ॥
विवृत्तेन च वक्त्रेण कुलनाशकरी भवेत् ।
प्राच्याभा धननाशाय दक्षिणेन च मृत्यवै ॥
पश्चिमेन सुतघ्नी च चोदग्भयविवृद्धये ।
प्रमाणहीना नाशाय अधिका देशनाशिनी ॥
अश्लक्ष्णा मरणायोक्ता क्रुद्धा रूपविनाशिनी ।
प्रमाणहीनां प्रतिमां तथा लक्षणवर्जिताम् ॥
आवाहिताञ्च विप्रेन्द्रैर्नाविशन्ति दिवौकसः ।
आविशन्ति तु तां नित्य पिशाचा दैत्यमानवाः ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मानहीनां विवर्जयेत् ।
चित्रलक्षणसंयुक्तं प्रशस्तं सर्वमुच्यते ॥
आयुष्यं च यशस्यं च धनधान्यविवर्धनम् ।
तदेव लक्षणापेतं धनधान्यविनाशनम् ॥
देवा नरेन्द्र कर्तव्याः शोभावन्तः सदैव तु ।
मृगेन्द्रवृषनागानां हंसानां गतिभिः समाः ॥
सलक्षणं चित्रमुशन्ति धन्यं देशस्य कर्तुर्वसुधाधिपस्य ।
तस्मात्प्रयत्नेन सलक्षणं तत्कार्यं नरैर्यत्नपरैर्यथावत् ॥

१२. नानावर्णानुगताः शुभाकारविहारा ऋज्वागतसाचीकृतदेहाद्यनेकोपभेद-।
सहिताश्चित्रकर्मणो नव भेदाः—

शुभाकारविहाराणि नानावर्णधराणि च ।
नवस्थानानि रूपाणां श्रृणु तान्यनुपूर्वशः ॥
ऋज्वागतं भवेत्पूर्वमनृजु तदनन्तरम् ।
साचीकृतशरीरं च भवत्यर्धविलोचनम् ॥
ततः पार्श्वगतं नाम पुरावृत्तमनन्तरम् ।
पृष्ठागतमधः कार्यं पुरावृत्तं समानतम् ॥
एतान्यनेकभेदानि नव स्थानानि भूषिते ।
एकैकस्येह भवतः श्रृणु मे नृप लक्षणम् ॥
तत्राभिमुखमेवादौ स्पष्टमानगुणान्वितम् ।
सुसम्पूर्णं सुचार्वङ्गं सुश्लक्ष्णमलवर्तकम् ॥
सुशुद्धं मधुरं स्पष्टरेखासंस्कारभूषितम् ।
यद्भवेत्स्थानमक्षीणगात्रं पृष्ठगतं तु तत् ॥
मुखस्यादावतोऽक्षीणं वक्षस उदरं तथा ।
कट्या च स्कन्धदेशाच्च ऊरुतश्च क्षयंगता ॥
नासापुटाधरोष्ठानां चतुर्थांशं च बुद्धिमत् ।
क्षयं नीतं त्रिभागं च यस्य गात्रेभ्य एव च ।
कान्तारूपं परं स्थानं स्थानलम्भोपपादितम् ।
एतदेवर्जुनामोक्तमनेककरणान्वितम् ॥
य त्तर्यग्भूमिलम्भेन नेत्रहारि सुवर्तनम् ।
सुकुमारं चतुर्भागं क्षीणं सर्वाङ्गशोभनम् ॥
अध्यर्धभ्रूललाटे चाप्यध्यर्धघ्राणमुत्कटम् ।
भागक्षयावशेषार्धं कलापक्षीणलोचनम् ॥
कलावलुप्तभ्रूलेखं लिखितं स्निग्धलेखया ।
न च छायागतं कालं न चावऋजुकोपनम् ॥
खेकारिकत्वाच्च नृप साचीकृतमिहोच्यते ।
अर्धं नेत्रं मुखे यस्य लुप्तमवभ्रुवे तथा ॥
भङ्गो ललाटमात्रश्च दृश्यानां सारमेव तु ।
मात्रार्धा चैकतो गण्डं दृश्यमर्धकृतक्षयम् ॥
मात्रार्धं कण्डरेखाया यवमाविष्कृतं हनोः ।
उरसोऽर्धं मुखं लिप्तं नाभ्यास्याच्छिष्टमङ्गुलम् ॥

अध्यर्धशेषा च कटी अन्यच्च दर्शनीकृतम् ।
अध्यर्धाक्षं परिज्ञेयमाकारेणैवमादिना ॥
च्छायागतमिति प्रोक्तं पर्यायेणैतदेव तु ।
यस्यावलोवच्यते पाश्वं दक्षिणं सव्यमेव वा ॥
कृत्स्नमन्यर्क्षयातं तदङ्गमङ्गगतिस्तथा ।
एकाक्षमेकभ्रूलेखमरनामा ललाटवत् ॥
एकं श्रोत्रं यदर्धं स्याच्चिबुकार्धं शिरोरूहम् ।
गृहीतमानलावण्यमाधुर्यादिगुणन्वितम् ॥
पाश्र्वागतमिति प्रोक्तं तत्स्याद्भित्तिकसंज्ञितम् ।
अपाकुद्धे कलक्षीणे कण्ठदेशे तथैव च ॥
बाहुगण्डललाटेषु कालाख्यं क्षयमागतम् ।
बाहुवक्षः कटितटस्थितिगु..............—... ॥
द्विकलं द्विकलं ज्ञात्वा यथाभागं कृषीकृतम् ।
अनुरूपप्रमाणेन नातितीक्ष्णाङ्गमेव च ॥
एतद्गण्डपरावृत्तं स्थानं च परिकीर्तितम् ।
पृष्ठतो यदपि व्यक्तं देहबन्धं मनोहरम् ॥
वक्रभ्रूकुटिसर्वज्ञसन्धिबन्धनमेव च ।
ईषच्च दर्शितापाङ्गकपोलजठरे पुनः ॥
प्रकाशितैकपाश्र्वेन सुस्थिरं दृष्टिहारि च ।
स्वहीनमानलावण्यमाधुर्यादिगुणान्वितम् ॥
लेखेषु पुस्तदेशेषु पृष्ठागतमिति स्मृतम् ।
यस्योर्धमतङ्गपत्येन भागेन समवस्थितम् ॥
स्थितेर्ष्याभिमुखेर्धाङ्गे परिवृत्तिवशाद्भवेत् ।
किञ्चिच्छायागतो कार्याविुपरिष्टादधः पुरः ॥
अर्धार्धगतसारूप्यं चिरसाग्राम्यसंस्थितम् ।
मध्येन नेत्ररभ्येन यथायोगविलोपिना ॥
विज्ञेयं दधतः कार्य परिवृत्तं नरेश्वर ।
समग्रदृष्टिस्फिग्देशं दष्टपादतलं तु यत् ॥
ऊर्ध्वतः क्षीणदृष्टार्धं दृश्या शेषं कटिस्थलम् ।
लुप्तपादाङ्गलितलं दृश्याशेषतलद्वयम् ॥

चतुरस्रं सूसम्पूर्णमभयानकदर्शनम् ।
प्रकाशीकृतबाहुञ्च सुदष्टमुखकन्धरम् ॥
लुप्तं जङ्घैकतो ज्ञेयं नाम्ना स्थानं समानतः ।
नीचान्येतानि सर्वाणि तथोक्तैरभिराजितम् ॥
लक्षितैर्लक्षितव्यानि त्वयानुक्रमशो नव ।
एषां प्रज्ञावशेषेण विकाराणि बहून्यपि ॥
एकैकशश्च भूभागैः कर्तव्यानि यथावधि ।
त्वया सन्तः समासाद्य सम्यङ् मानं तु भूतले ॥
स्थानानीमानि मानाद्यैर्गुणैर्लेख्यानि यत्नतः ।
नवैवैतानि दृष्टानि सर्वभावेष्वनिन्दित ॥
स्थानानि नाधिकमतः परमस्ति हि किंचन ।
जीवलोकं परिक्रम्य सततं स्थाणुजङ्गमम् ॥
उत्तमाधममध्येषु प्रमाणगुणतः सदा ।
चित्रं विचित्रं त्रिविधं प्रमाणं त्रयमेव च ॥
क्षयवृद्धी च कार्त्स्येन मया तेऽभिहितेऽनघ ।

क्षयवृद्धिविधिश्च

अतः परं प्रवक्ष्यामि क्षयवृद्धिविधिं क्रमात् ॥
चित्रविद्भिरसंज्ञेयं समासेननेतरेण च ।
त्रयोदश विधैवात्र क्षयवृद्धिरुदाहृता ॥
स्थानानां बहुसंस्थत्वादङ्गान्यवसम्भवा ।
स्थानं पृष्ठगतं पूर्वमवजु गतमेव च ॥
मध्यार्धं तथार्धार्धं साचीकृतमुखं तथा ।
नतं गण्डपरावृत्तं पृष्ठागतमथापि च॥
पार्श्वागतं च विज्ञेयमुल्लेपं चलितं तथा ।
उत्तानं वलिलं चेति स्थनानि तु त्रयोदश ॥
कार्याण्येतानि सर्वाणि नामसंस्थानतो नृप ।
मण्डलानीह वैशाखप्रत्यालीढक्रियाक्रमैः ॥
समाश्चार्द्धसमाः पादाः सुस्थितानि चलानि च ।
समासमपदस्थं च द्विविधं स्थानकं भवेत् ॥
तद्गत्वा पदभूयिष्ठं स्थानं समपदं स्मृतम् ।
मण्डलञ्च द्वितीयं स्यात्स्थानान्यन्यानि यानि च ॥

तान्येकसमपादानि विचित्राणि चलानि च ।
तत्र वैशाखमालीढं प्रत्यालीढं च धन्विनाम् ॥
चित्रगोमूत्रकगतं विषमं खड्गचर्मिणाम् ।
चलितं खलितायस्यमालीढैकपदक्रमम् ॥
शक्तितोमरपाषाणभिन्दिपालादिधारिणाम् ।
सवल्गितं चक्रशूलगदाकुणपधारिणाम् ॥
एकपादसमस्थानं द्वितीयेन तु विद्गलम् ॥
शरीरं च सलीलं स्यात्सावष्टंभैः क्वचिद्द्रुतम् ॥
लीलाविलासविभ्रान्तं विशालजघनस्थलम् ।
स्थिरैकपादविन्यासं स्त्रीरूपं विलिखेद्बुधः ॥
प्रमाणहीनस्तु जनोऽनुभूयात्कालस्य भावस्यवलात्पृथिव्याम् ।
इति प्रचिन्त्यात्मधिया बुधेन कार्यं प्रमाणंक्षयवृद्धियोगे ॥

१३—चित्रे देवनृपर्षिगन्धर्वदैत्यदानवादीनां सायुधानां सपरिच्छदानां निर्माणदेशविशेषानुरूपासनशयनयानवेशसरित्सागरवाहनशैलशिखरसद्वीपभूमण्डलशङ्खपद्मादिनिधिसचन्द्रनक्षत्ररात्रिसन्ध्यादिनिर्माणम्—वि०ध०—

यथा देवस्तथा चित्रे कर्तव्यः पृथ्वीश्वर ।
एकैकं रूपके लोम कर्तव्यं पृथिवीक्षिताम् ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा दैत्याश्च सहदानवाः ।
मन्त्रिणश्च महाराज सांवत्सरपुरोहितौ ॥
कार्या भद्रप्रमाणेन ब्राह्मणाश्च नरेश्वर ।
ऋषयस्तत्र कर्तव्या जटाजूटोपशोभिताः ॥
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गा दुर्बलास्तेजसा युताः ।
देवताश्चापि गन्धर्वा मुकुटेन विवर्जिताः ॥
कर्तव्यास्ते महाराज शिखरैरूपशोभिताः ।
ब्रह्मवर्चस्विनो विप्राः शुक्लाम्बरधरास्तथा ॥
सर्वालङ्कारसंयुक्तानेवोल्वणविभूषणान् ॥
मुकुटेन विहीनांस्तु सोष्णीषकान्कारयेच्च तान् ।
दैत्याश्च दानवाश्चैव कर्तव्या भ्रकुटीमुखाः ॥
वर्तुलाक्षास्तथा कार्या भीमवक्त्रस्तथैव च ।
तेषामभ्युद्धतो वेषः कर्तव्याः पृथिवीपते ॥

रुद्रप्रमाणाः कर्तव्यास्तथा विद्याधरा नृप।
सपत्नीकाश्च ते कार्या माल्यालङ्कारधारिणः ॥
खड्गहस्ताश्च ते कार्या गगने वाथ वा भुवि।
मालव्यपरिमाणेन किन्नरोरगराक्षसाः ॥
रुचकस्य प्रमाणेन यक्षाः कार्या नराधिप।
शशकस्य प्रमाणेन प्रधानं मानवं लिखेत् ॥
पिशाचा वामनाः कुब्जाः प्रमथाश्च महीभुजः।
मानन्नियमतः कार्यं रूपन्नियमतस्तथा।
स्वानुरूपप्रमाणाश्च सर्वेषां योषितः स्मृताः।
किन्नरा द्विविधाः प्रोक्ता नृवक्त्रा हयविग्रहाः ॥
नृदेहाश्चाश्ववक्त्राश्च तथान्ये परिकीर्तिताः।
अश्ववक्त्रास्तु कर्तव्याः सर्वालङ्कारधारिणः ॥
गीतवाद्यसमायुक्ता द्युतिमन्तस्तथैव च।
उत्कचा राक्षसाः कार्या विकलाक्षा विभीषणाः ॥
देवाकाराश्च कर्तव्या नागाः फणविराजिताः।
सालङ्काराः स्मृताः सर्वे यक्षास्तेऽभिहिता मया ॥
सुराणां प्रमथाः कार्याः प्रमाणेन विवर्जिताः।
पिशाचाश्च तथा कार्या प्रमाणेन विवर्जिताः ॥
नानासत्त्वमुखाः कार्या देवतानां तथा गणाः।
नानावेशा महाराज नान युधधरास्तथा ॥
एकरूपास्तु कर्तव्या वैष्णवानान्तथा गणाः।
तत्रापि तेषां कर्तव्या भेदाश्चत्वार एव च।
वासुदेवसमाः कार्या वासुदेवगणाः शुभाः ॥
संकर्षणेन सदृशास्तद्गणाश्च तथा स्मृताः।
प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन तद्गणाः सदृशास्तथा ॥
तत्प्रभावाः स्मृताः सर्वे तदायुधधरास्तथा।
नीलोत्पलदलश्यामाश्चन्द्रशुभ्रास्तथैव च ॥
तथा मरकताकाराः सिन्दूरसदृशप्रभाः।
रुचकस्य तु मानेन वेश्याः कार्यास्तथा स्त्रियः ॥
वेश्यानामुद्धतं वेशं कार्यं श्रृङ्गारसम्मतम्।

मालव्यमानतः कार्या लज्जावत्यः कुलस्त्रियः ॥
नात्युन्नतेन वेशेन सालङ्कारास्तथैव च ।
दैत्यदानवयक्षाणां राक्षसानां तथैव च ॥
रूपवत्यस्तथा कार्या पत्न्यो मनुजसत्तम ।
मातरः स्वेन रूपेण तथा कार्या नराधिप ॥
पिशाचानां च पत्न्योऽपि कार्यास्तद्रूपसंयुताः ।
विभर्तृकास्तु कर्तव्या स्त्रियः पलितसंयुताः ॥
शुक्लवस्त्रपरीधानाः सर्वालङ्कारवर्जिताः ॥
कुब्जा वामनिका वृद्धा तथा रूपवती भवेत् ॥
राजस्त्रीणां परीवारे वृद्धः स्यात्कञ्चुकी पुनः ।
रुचकस्य तु मानेन वैश्यमानं विधीयते ॥
शशकस्य तु मानेन शूद्रमानं तथैव च ।
यथा जात्यनुरूपेण वेषेण मनुजेश्वर ॥
दैत्यादियोषितां कार्याः परिचारस्त्रियः सदा ।
महाशिरा महोरस्को महानासो महाहनुः ॥
पीनस्कन्धभुजग्रीवः परिमाणेन चोच्छ्रितः ।
त्रितरङ्गललाटश्च व्योमदृष्टिर्महाकृटिः ॥
दृप्तश्चित्रविदा कार्यः सेनायाः पतिरूर्जितः ।
योधा कार्या महाराज प्रायशो भृकुटीमुखाः ॥
किञ्चदुद्धतवेशाश्च कार्याश्चोद्धतदर्शनाः ।
अभ्युद्गताश्च कर्तव्या आयुधीयाः पदातयः ॥
खड्गचर्मधराः कार्याः कर्णाटकवपुर्धराः ।
वरबाणधराः कार्या नग्नजङ्घाश्च धन्विनः ॥
नात्युद्धतेन वेषेण सोपानत्कास्तथैव ते ।
यथोक्तलक्षणाः कार्याः कुञ्जरास्तुरगादयः ॥
हस्त्यारोहास्तु कर्तव्या हिहुः श्यामास्तु वर्णतः ।
कैशैश्च जूटभरैः सालङ्कारास्तथैव च ॥
उदीच्यवेशाः कर्तव्यास्तुरगाणां तु सादिनः ।
उद्धतेन तु वेषेण कर्तव्या वन्दिनस्तथा ॥
सिरादर्शितकण्ठाश्च तथैवोन्मुखदृष्टय. ।

आह्वानकास्तु कर्तव्याः कपिलाः केकरेक्षणाः ॥
किञ्चिद्दानवसङ्काशाः प्रायशो दण्डपाणयः ।
न केकरान्न कपिलान्युद्धे द्वंद्वान्समालिखेत् ॥
नात्युन्नतेन वेषेण न च शान्तेन शस्यते ।
पार्श्वबद्धेन खड्गेन प्रतीहारस्तु दण्डवान् ॥
संवेष्टितशिरस्काश्च कर्तव्या वणिजस्तथा ।
गायना नर्तका ये वा वाद्यवादविशुद्धये ॥
उद्धतेन तु वेषेण कार्यास्ते मनुजोत्तम ।
आसन्नपलिताः कार्याः स्वभूषणविभूषिताः ॥
पौरजानपदाः श्रेष्ठाः शुभवस्त्रविभूषणाः ।
प्रसृतप्रवणाः प्रह्वाः स्वभावप्रियदर्शिनः ॥
स्वकर्मोपस्करव्यग्रः कार्यः कर्मकरो जनः ।
प्रांशवः पीनगात्राश्च पीनग्रीवशिरोधराः ॥
उग्राश्च नीचकेशाश्च मल्लाः कार्यास्तथोद्धताः ।
वृषाः केसरिणश्चैव याश्चान्याः सत्त्वजातयः ॥
यथाभूमिनिवेशास्ते लोकं दृष्ट्वा नराधिप ।
एतद्रूपसमुद्देशमदृष्टानां तवेरितम् ॥
दृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषतः ।
चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ॥
बुद्ध्या रूपं यथावेशं वर्णं च मनुजोत्तम ।
देशे देशे नराः कार्या यथावत्तत्समुद्भवाः ॥
देशं नियोगं स्थानं च कर्म वुध्व च यत्नतः ।
आसनं शयनं यानं वेशं कार्यं नराधिप ॥
सरितां सशरीराणां वाहनानि प्रदर्शयेत् ।
पूर्णकुम्भकराः कार्यास्तथा नामितजानवः ॥
शैलानां शिखरं मूर्ध्नि दर्शयेन्मनुजोत्तम ।
द्वीपानां च करैः कार्यं तथा भूमण्डलं शुभम् ॥
....राजंस्तथाशिखरपाणयः ।
रत्नपात्रकराः कार्याः सागरा मनुजोत्तम ॥
समुद्राणां प्रभास्थाने सलिलं तु प्रदर्शयेत् ।

आयुधानां च तच्चिह्नं किञ्चिन्मूर्धनि दर्शयेत् ॥
निधीनां दर्शयेत्कुम्भं शङ्खं शङ्खस्य दर्शयेत् ।
पद्मं पद्मस्य राजेन्द्र शेषाणामनुरूपतः ॥
कार्यस्यावयवाः कार्याः स्वदेहसदृशाः पृथक् ।
दिव्यानां दर्शयेच्चिहनमक्षमालां च पुस्तकम् ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि रूपं यद्यस्य दृश्यते ।
आकाशं दर्शयेद्विद्वान्विवर्णं खगमाकुलम् ॥
तथैव दर्शयेद्राजंस्तारकामण्डितं दिवम् ।
भूमिं च जाङ्गलानूपमिश्रां स्वैः स्वैस्तथा गुणैः ॥
पर्वतं तु शिलाजालैः शिखरैर्धातुभिर्द्रुमैः ।
निर्झरैर्भुजगैश्चैव दर्शयेन्नृपसत्तम ॥
वनं नानाविधैर्वृक्षैर्विहङ्गैः श्वापदैस्तथा ।
तोयं च दर्शयेद्विद्वाननन्तैर्मत्स्यकच्छपैः ॥
पद्माक्षैश्च महाराज यथान्यैर्जलजैर्गुणैः ।
देवतावेश्मभिश्चित्रैः प्रासादापणवेश्मभिः ॥
नगरं दर्शयेद्विद्वान् राजमार्गैश्च शोभनैः ।
वमत्या दर्शयेद्ग्रामं किञ्चिदुद्यानभूषितम् ॥
सर्वेषामथ दुर्गाणां कर्तव्यं दर्शनं तथा ।
स्वभूमिविनिवेशेन वप्राट्टालकपर्वतैः ॥
पण्ययुक्तास्तु कर्तव्यास्तथैवापणभूमयः ।
आपानभूमिः कर्तव्या पानयुक्ता नराकुला ॥
उत्तरीयविहीनांश्च द्यूतसक्तान्प्रदर्शयेत् ।
जिताञ्शोकसमायुक्तान्हृष्टांल्लब्धजयांस्तथा ॥
चतुरङ्गबलोपेतां प्रहरद्भिर्नरैर्युताम् ।
मृतावयवरक्ताढ्यां रणभूमिं प्रदर्शयेत्
चिताकुणपसंयुक्तं श्मशानं च तथा नृप ।
युक्तं सभारैरुष्ट्राद्यैर्मार्गं सार्थं प्रदर्शयेत् ॥
सचन्द्रग्रहनक्षत्रां तथा दर्शितलौकिकाम् ।
आसन्नतस्करां रात्रिं दर्शयेत्सुप्तमानवाम् ॥
प्राग्रात्रे दर्शयेत्तत्र तथा चैवाभिसारिकाम् ।

सारुणो म्लानदीपश्च प्रत्यूषो रुतकुक्कुटः ॥
कर्मव्यग्रजनप्रायः कर्तव्यो वासरस्तथा ।
द्विजैर्नियमभिर्युक्तां रक्तां सन्ध्यां प्रदर्शयेत् ॥
तमसो दर्शनं कार्यं वासे ससर्पकैर्नरैः ।
कुमुदानां विकाशे च ज्योत्स्नां चन्द्रे प्रदर्शयेत् ॥
दर्शयेत्सरजस्यं च शय्यां कर्णोत्करावृताम् ।
सद्वृत्तमानवप्रायां वृष्टिं वृष्ट्याम्प्रदर्शयेत् ॥
प्राणिनां क्लेशतप्तानामादित्येन निदर्शनम् ।
वृक्षैर्वसन्तजैः फुल्लैः कोकिलामधुपोत्कटैः ॥
प्रहृष्टनरनारीकं वसन्तं च प्रदर्शयेत् ।
क्लान्तैः कार्यं नरैर्ग्रीष्मं मृगैश्छायागतैस्तथा ॥
महिषैः पङ्कमलिनैस्तथा शुष्कजलाशयम् ।
विहङ्गैर्द्रुमसंलीनैः सिंहव्याघ्रैर्गुहागतैः ॥
तोयनम्रघनैर्युक्तं सेन्द्रचापविभूषणैः ।
विद्युद्विद्योतनैर्युक्तां प्रावृषं दर्शयेत्तथा ॥
सफलद्रुमसंयुक्तां पक्वसस्यां वसुन्धराम् ।
सहंसपद्मसलिलां शरदं तु तथा लिखेत् ॥
सबाष्पसलिलस्थानं तथा लूनवसुन्धरम् ।
सनीहारदिगन्तं च हेमन्तं दर्शयेद्बुधः ॥
हृष्टवायसमातङ्गं शीतार्तजनसङ्कुलम् ।
शिशिरं तु लिखेद्विद्वान्हिमच्छन्नदिगन्तरम् ॥
वृक्षाणां पुष्पफलतः प्राणिनां मदतस्तथा ।
ऋतूनां दर्शनं कार्यं लोकान्दृष्ट्वा नराधिप ॥
रसभावाश्च कर्तव्या यथापूर्वमुदाहृताः ।
यथायोगं तु युञ्जीत नृत्ताभिहितमत्र च ॥
शुष्कं वर्तनया वस्तु चित्रं तन्मध्यमं स्मृतम् ।
शुष्कार्द्रमधमं प्रोक्तं चार्द्रमेव तथोत्तमम् ॥
यथादेयं यथाकालं यथादेशं यथावयः ।
क्रियमाणं भवेद्धन्यं विपरीतमतोऽन्यथा ॥
इति विचक्षणबुद्धिविकल्पितैः करणकान्तिविलासरसादिभिः

लिखितमीक्षणलोचनमादराद्भवति चित्रमभीप्सितकामदम् ॥

१४. विलेखालक्षणम् — स० सू०—मू० ७३, परि० ५२

(i) मानसो०, अ० चि०

वत्सकर्णसमुद्भूतरोमाण्यादाय यत्नतः ॥
तूलिकाग्रे न्यसेत्तानि लाक्षाबन्धनयोगतः ॥
लेखनी नाम सा प्रोक्ता सा चैवं त्रिविधा भवेत् ।
स्थूला मध्या तथा सूक्ष्मा तया चित्रं विरच्यते ॥
स्थूलया लेपनं कार्यं तिर्यगाहितया तया ।
अङ्कनं मध्यया कुर्यादग्रपार्श्वविनिष्टया ॥
सूक्ष्मया च तया सूक्ष्मां लेखां कुर्वीत कोविदः ।

(iii) शिल्प०

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा ।
तद्दण्डमृतुमात्रं वा विष्कम्भं षडवयवं समन्तम् ॥
मुखे पुच्छे तदष्टांशमष्टाश्रं वाथ वर्तुलम् ।
कृत्वाग्रे विन्यसेच्छङ्कुं शौडमर्धाङ्गुलोन्नतम् ॥
यवाकारं च सुदृढं तत्र संयोजयेत् पुनः ।
स्थूलायां वत्सकर्णोत्थमजोदरभवं परे ॥
चिक्रोडपुच्छजं सूक्ष्मायामरोमं तृणाग्रकम् ।
तन्तुना लाक्षया वाथ दण्डाग्रकृतशङ्कुषु ॥
बध्नातु लेखनीः सम्यक् प्रतिवर्णं त्रिधा त्रिकाः ।
आकृत्या च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा मध्येति सा पुनः ॥
प्रत्येकं नवधा चैवं प्रतिवर्णं तु लेखनी ।
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णरसेन तु ॥
किट्टलेखाबहिर्भागे लिखित्वाव्यक्तमम्बरैः ।
मार्जयेत् किट्टलेखां तां पुनः सुव्यक्तामालिखेत् ॥
रक्तवर्णरसेनाथ सर्वं सम्यक् समालिखेत् ।
पश्चाच्चित्रं विचित्रं च तस्यां भित्तौ लिखेद्बुधः ।

१५ वर्तिका
मानसो०, अ० चि०

नानाभावरसैर्युक्तं सुरेखं वर्णकोचितम् ॥
कनिष्ठिकापरीणाहां भागद्वयसमायताम् ।
घनवेणुसमुद्भूतां नलिकां परिकल्पयेत् ॥
तदग्रे ताम्रजं शङ्कुं यवमात्रं विनिक्षिपेत् ।
तावन्मात्रं बहिः कुर्यात्तिन्दुनामेरितं बुधैः ॥

कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कर्णिकाकृतिम् ।
वर्ति कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत् ॥

१६ चित्रलेखनविधिः
शिल्प०

यत्र लेखा गता वामं तत्र तान् नववाससा ।
संमार्ज्य सम्यगालिख्य तत्तदाकारमुन्नयेत् ॥
मन्दं किञ्चिच्छिलापृष्ठे पेषयित्वा विलोड्य च ।
शुद्धतोयैर्महापात्रे मुहूर्तं प्रतिपालयेत् ॥
तदूर्ध्वांशं सारतोयमधः पङ्कविवर्जितम् ।
पात्रान्तरे विनिक्षिप्य पुनः कुर्यादमुं विधिम् ॥
एवं पुनः पुनः कृत्वा यावन्निर्मलता भवेत् ।
तत्सारं नवमृद्भाण्डं मन्दमालिप्य शोषयेत् ॥
ग्रीष्मातपेषु विधिवद् भूयो भूयो महामतिः ।
आलोड्य शुद्धतोयेषु शोषयेच्छुद्धिमच्छिकः (?) ॥
एवमेव समानीय रक्ते धातूनपि क्रमात् ।
निर्मलत्वे समुत्पन्ने शोषयेदेवमेव हि ॥
अथ तैलं समासिच्य वर्धमानेऽच्छवर्तिकाम्
विन्यस्य प्रज्वलेद् दीपं घटमादाय मृन्मयम् ॥
शुष्कगोमयचूर्णेन संमृज्योदरमस्य वै ।
तद्दीपोपरि दीपस्य संमुखं विन्यसेत् पुनः ॥
तत्र दीपशिखोद्भूतं कज्जलं तद्घटोदरे ।
आलग्नं सम्यगादाय मृद्घटादौ विलेपयेत् ॥
मर्दयेत् स्वस्य हस्तेन भूयोद्वर्त्य पुनस्तथा ।
शुद्धाम्बुमिश्रंसंमर्द्य बहुशः शोषयेत् पुनः ॥
एतत्त्रयं पुनर्युक्त्या निम्बनिर्यासवारिणा ।
सम्मर्द्य शोषयेत् पश्चादथान्यानपि पेषयेत् ॥
श्यामधातून् यवमात्रं शुद्धतोयेन पेषयेत् ।
पुनः कपित्थनिर्यासतोयैःसंमर्द्य शोषयेत् ॥

१७ अ. वर्तनाविधाः
वि० ध०

तिस्रश्च वर्तनाः प्रोक्ताः पत्राहैरिकबिन्दुजाः ।
पत्राकृतिभी रेखाभिः कथितात्र च वर्तना ।
अतीव कथिता सूक्ष्मा तथाहैरिकवर्तना ।
तथा च स्तम्भनायुक्ता कथिता बिन्दु वर्तना ॥

ब. पट्टपत्रवर्तनादिप्रकारः
अ० पृ० २३१

अतः परं प्रवक्ष्यामि चित्रादिरूपसाधनम् ।
शाकवृक्षोद्भवा कार्या चित्राभ्यासार्थपट्टिका ॥
अत्यग्निमालिता या च इष्टिका आयसाकृतिः ।
रन्ध्रकीर्णकुलाया च गृहीतव्या लूणीकृता ॥
अतिसूक्ष्मा च कर्तव्या दीपशिखाकज्जलोपमा ।
गोधूमैः खलचूर्णं तु तक्रमध्ये तु प्रक्षिपेत् ॥
तदनन्तरोद्भवं च सूक्ष्मवस्त्रेषु गालयेत् ।
भाण्डे तु तादृशं क्षिप्त मृद्वग्निना शनैः शनैः ॥
तथा दृढ़रसाकारं वज्रलेपसमं भवेत् ।
तेनाथ मर्द्दयेत्पट्टमिष्टिकासूक्ष्मचूर्णतः ॥
पक्षद्वये सुप्रलेपो ह्यन्तयेन प्ररोहते ।
पट्टबन्धनमेवं तु कर्त्तव्यं चित्रहेतवे ॥
टि० पत्रवर्तनानिर्णयः लुप्तः ।

१८ चित्रपत्रोत्पत्तिः
अ० पृ० २२७

चित्ररूपसमुद्भावाः सुरासुरनरोरगाः ।
त्वयैव कथितं पूर्वमुत्पत्तिप्रलयादिकम् ॥
पत्रोत्पत्तिः कथं देव चित्रमूलसमुद्भवा ।
कथयस्व प्रसादेन पत्रं चित्रं च कीदृशम् ॥
दिनपत्रं कथं प्रोक्तमृतुपत्रं च कीदृशम् ।
चन्द्रकलोद्भवं पत्रं षोडशात्मकमेव च ॥
जलपत्रं स्थलपत्रं नरपत्रं गजोद्भवम् ।
मेघपत्रोद्भवं चैव कथयस्व परेश्वर ॥
नागरं द्राविडं पत्रं व्यन्तरं वेसरं तथा
कालिङ्गं यामुनं पत्रं कीदृक् चैतत् सुलक्षणम् ॥
शिशुपत्रं च सकलं स्वस्तिकं वर्धमानकम् ।
सर्वतोभद्रकाकारं कथयस्व परेश्वर ॥
पञ्चपत्राणि चान्यच्च षोडशात्मकमेव च ।
तत्तद्रूपोद्भवं चैव लक्षकोट्यादिसङ्ख्यकम् ॥
पत्रस्थानानि वै सार्धं सुरसन्ध्यादिकोद्भवम् ।
कथयस्व प्रसादेन पत्रस्थानादिसाधनम् ॥
शृणु वत्स महाभाग त्वमेव प्रकटीकृतम् ।

पत्रोत्पत्तिं च वक्ष्येऽहं शृणु चैकाग्रमानसः ॥
क्षीरोदार्णवके पूर्वं मथ्यमाने सुरासुरैः ।
तत्रोत्पन्नो महावृक्षो नाम्ना सुरतरुस्तदा ॥
नानापत्रसमाकीर्णो नानापुष्पसमाकुलः ।
नानाफलकसम्पृक्तो ललिताङ्गो मनोहरः ॥
सुगन्धामोदबहुलः सुगन्धागन्धितोत्पलः ।
तद्गन्धमोहिताः सर्वे देवदैत्यादिकास्तदा ॥
परस्परं देवदैत्या वृक्षार्थे लुब्धचेतसः ।
अमृतांद्भवं मन्यन्ते दैत्याश्च त्रिदशा अपि ॥
शाखापत्रोद्भवश्चतुर्दिक्ष मध्यत ऊर्ध्वतः ।
मानतः पत्रसंकीर्णो दिशाभेदैः परात्परम् ॥
नागरं पूर्वशाखायां द्राविडं दक्षिणोद्भवम् ।
अपरे व्यन्तरं चैव वेसरं वा तथोत्तरे ॥
कालिङ्गमूर्ध्वतश्चैव शाखान्तजं च यामुनम् ।
षड्जात्युत्पत्ति भेदैश्च पत्रमेवं समुद्गतम् ॥
नन्दादिक्रमयोगेन तथा चन्द्रकलाक्रमः ।
दिनपत्रोद्भवस्त्वेवं सङ्ख्यातो दशपञ्चभिः ॥
नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा स्यात् पञ्चमी तथा ।
पञ्च पञ्च तथा पञ्च मासार्धे तु यथा यथा ॥
नन्दायाः शिशुपत्रं च भद्रायाः सकलं तथा ।
स्वस्तिकं तु जयायाश्च रिक्ताया वर्धमानकम् ।
पूर्णायाः सर्वतोभद्रं पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
षष्ठिकादि दशम्यन्तमन्यपञ्चसमुद्भवः ॥
जयं च विजयं चैव उद्गतं पत्रमक्षयम् ।
सर्वमङ्गलं भवाख्यं पञ्चान्ये च प्रकीर्तिताः ॥
षष्ठ्याद्यं च दशम्यन्तं पत्राणां पञ्चकं तथा ।
पुनरन्यानि पञ्चैकादशाद्यं पूर्णान्तं तथा ॥
श्रियं श्रियोद्वाख्यं च रत्नगर्भं तेजोभवम् ।
सर्वानन्दं महोत्साहं पत्राणां दशपञ्चकम् ॥
वसन्ते नागरं पत्रं द्राविडं ग्रीष्मके तथा ।

वर्षासु व्यन्रभवं वेसरं च शरदतौं ॥
हेमन्ते चैव कालिङ्गं यामुनं शिशिरोद्गतम् ।
षड्तूद्भवपत्राणि सर्वाणि शुभदानि च ॥
तथा शाखोद्भवं पत्रमुक्तं दशविधं क्रमात् ।
शाखोद्भवानि षट्चैव कन्दजानि तु षोडश ॥
तथा चाकारपत्राणि लक्षकोट्यादिकानि च ।
पुनरन्यानि वक्ष्येऽहं प्रकारैः पञ्च तानि च॥
हंसपत्रं नक्रपत्रं मत्स्यपत्रं च कूर्मकम् ।
पद्मपत्रं तथा चैव पञ्चकं जलजं भवेत् ॥
स्थलजं छन्दजाकारं प्रासादगृहकादिकम् ।
नरनार्यादिकं पत्रं नरपत्रं च पञ्चमम् ॥
गजपत्रमश्वपत्रं जानुगं पद्मजं तथा ।
सिंहासनादिपत्रं च गजपत्रं तु पञ्चकम् ॥
अनेकाकारपत्रं च मेघपत्रं तथैव च ।
पत्राकारास्तथा चैते कथितास्त्वपराजित ॥
पुनः स्थानेषु सर्वेषु तत्र पत्राणि योजयेत् ।
स्तम्भेषु द्वारपक्षेषु प्रासादेषु च सर्वतः ॥
षोडशाभरणैश्चैव तत्र पत्रं तु दापयेत् ।
हारकेयूरकङ्कणकटिसूत्रादिभिः समैः ॥
यत्र स्थाने भवेत्पत्रं लक्ष्मीस्तत्र हितेक्षगा ।
नाऽपत्रतो भवेल्लक्ष्मी शुभस्थानं च पत्रतः ॥

१९. कण्टकलक्षणम्
अ० पृ० २२८

अथातः संप्रवक्ष्यामि कण्टकानां तु लक्षणम् ।
अष्टौ जातिक्रमच्छन्दात् कण्टका अभिधानतः ॥
कलिश्च कलिकश्चैव व्यामिश्रश्चित्रकौशलः ।
व्यावर्तश्चैव व्यावृत्तः सुभङ्गो भङ्गचित्रकः ॥
अगस्तिपुष्पकाकारः संभवेत् कलिकण्टकः ।
वराहदंष्ट्राकृतिकः कलिकश्चेति संज्ञितः ॥
वद्धपुष्पोद्भवश्चैव व्यामिश्री मध्यकेशरः ।
उकाराकारसदृशः स भवेच्चित्रकौशलः ॥
व्यावृत्तो व्याघ्रनखवद् व्यावृत्तः कलशाकृतिः ।

भङ्गचित्रो बदरवत् सुभङ्गः कृत्तिकाकृतिः ॥
नागरो व्याघ्रनखवद् द्राविडस्तदनन्तरम् ।
बदरीकेतकीनां च द्राविडः कण्टकैः समः ॥
व्यन्तरो वराहदंष्ट्रो वेसरो मुनिपुष्पवत् ।
उकाराकारः कालिङ्गो यामुनः पुष्पगर्भकः ॥
उक्ता अष्टविधाकारा षड्जातीयाश्च कण्टकाः ।
कण्टकानां तथाकाराः कथिताः मेर्वमूत्र च ॥
वेदाक्षरं पदं कृत्वा कण्टकावर्तनोद्गतम् ।
ब्रह्मस्थाने भवेद् बिन्दुर्वामावर्तेन वर्तितः ॥
तद्वर्तिताग्रसंथाने बिन्दुः स्यादक्षरोद्भवः ।
तदूर्ध्वे भ्रमगर्भं च वृत्तमर्धं चन्द्राकृति ॥
ब्रह्मस्थानोर्ध्वगतं च दक्षिणोद्भवाकारकम् ।
कलिकोद्भवाक्षं वाराहकर्णसम्भवम् ॥
तस्योर्ध्वऽपरोद्गम्यं तदान्यताग्रं कंटकोपमम् ।
अग्रस्याग्रपदवर्णेषु अपरानतः कर्णिकाकृतिः ॥
तस्या यावत्याग्रेन मवधी पदपादो .... ॥
पृथुग्रीवा त्रिपादे .. पादोदर कण्टका ... ?
.... ।

...त्र स्थानात्समुद्भूव्य म्रे निम्नाग्र धान्यांतकम्? ।
चक्रग्रीवोद्गतां कारिकं कलिकोद्भवं वाराहकर्णिकोद्गतम् ।
अग्राधारः पुनः पृ ठे कलिका मुनिपुष्पवत् ॥
कण्टकोदरमध्ये तु कलिका जीवसूत्रकम् ।
तदास्पहम् .... ॥
रोमास्थिमांसत्वचाश्च एवं क्षितिगुणोद्भवाः ।
..................चक्ष्ये जीवसूत्रेण कथ्यते ॥
रेखास्थिबर्णमांसानि चतुश्छायाः प्रकीर्तिताः ।
पादाद्यङ्गानि सर्वाणि नाडीरोसं च विदुर्वर्तया ॥
मज्जा च क्षितिराख्याता राजेन्द्रन्यदय बीजकम् ?
.......................अद्भ्यो रससमुद्भवः ॥
.......................तेजो द्रव्यस्य बीजकम् ।

... . वायुश्च वर्तनाकृतिः ॥
आकाशं .... पञ्चतत्वोद्भवं तथा ।
जीवसूत्रमिदं ज्ञेयं पत्राकारं प्रकथ्यते ॥
घनघण्टाकुलाकीर्णमग्रे चलितकुञ्चिकम् ।
अङ्गे भङ्गोद्भवं भङ्गमनेकाकाररूपकम् ॥
शुकचञ्चुसमाकारं बदरीकण्टकाकृति ।
पलालधूमसंकाशं द्राविडं पत्रमुच्यते ॥
क्वचिद् भिन्नं क्वचिच्छन्नं क्वचिदन्योन्यवेष्टितम् ।
मुनिपुष्पसमाकीर्णं वेशरं पत्रमुच्यते ॥
उच्यते व्यन्तरं पत्रमुर्ध्वे भङ्गोद्भवाकृति ।
उकारकण्टकाकीर्णं कालिङ्गं पत्रमुच्यते ॥
सुदीर्घं विरलभङ्गै रग्रे व्यावृत्तकैस्तथा ।
पुष्पगर्भोद्भवाकीर्णं यामुनं पत्रमुच्यते ॥
ललितं कोमलं भङ्गैर्विषमे गर्भसम्भवम् ।
सुकुमारगर्भोद्भवं व्यावर्तस्याकुलोद्भवम् ॥
तरलं नागरं चैव वलितं व्यन्तरं तथा ।
आकुञ्चितं वेसरं च ऊर्ध्वं कालिङ्गकं भवेत् ॥
पुनिस्त्रिपञ्चसप्ताद्यं याव.... ....वधि ।
अतिवक्रकुलाकीर्णं द्राविडं कण्टकोद्भवम् ॥
उदितं यामुनं वक्रैः कण्टकानां तु निर्णयः ।
देशजातिकुलस्थानं वर्णभेदास्तथापरः ॥
पत्राकारो वर्णभेदो जीवसूत्रादि चोदितम्

२० चित्रकर्मणिवर्णभेदः
(1) वि० ध०

मूलरङ्गा स्मृताः पञ्च श्वेतः पीतो विलोमतः ।
कृष्णो नीलश्च राजेन्द्र शतशोऽन्तरतः स्मृताः ॥
पूर्णरङ्गविभागेन भावकल्पनया तथा ।
स्वबुद्धया कारयेद्रङ्गाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥
नीलेष्वतिव्यतिकृतिः पालाश इति शस्यते ।
स शुद्धः श्वेतमिश्रश्च नीलाभ्यधिक एव च ॥
एकाधिकं च भवतिच्छवीनामनुरूपतः ।
श्वेताधिको वा न्यूनो वा समांशश्चेति स त्रिधा ॥

स एकस्तम्भनायुक्तो बहुधैवं विकल्पते ।
तेन दूर्वांकुरा पीतः कपित्थहरितः शुभाः ॥
मुद्गश्यामप्रकृतयः कर्तव्याश्छवयो सुप्रभा ।
नीलः पाण्डरसम्पृक्तो विरङ्गः सोऽप्यनेकधा ॥
अन्योन्याभ्यधिकं न्यूनं समांशवशकल्पना ।
तेन नीलोत्पलनिभा माषसच्छयासुप्रभा ॥
क्रियतेच्छवयो रम्य यथायोगविनिश्चयात् ।
लाक्षया श्वेतया युक्ता लाक्षारोध्रपिनद्धया ॥
रक्ता रक्तोत्पलश्यामाच्छविर्भवति शोभना ।
सापि नानाविधानन्यान्वर्णान्विकुरुते बहून ॥

रङ्गद्रव्याणि

रङ्गद्रव्याणि कनकं रजतं ताम्रमेव च ।
अभ्रकं राजवन्तं च सिन्दूरं त्रपुरेव च ॥
हरितालं सुधा लाक्षा तथा हिङ्गुलकं नृप ।
नीलं च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये सन्त्यनेकशः ॥
देशे देशे महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुतः ।
लोहानां पत्रविन्यासं भवेद्वापि रसक्रिया ॥
संकटं लोहविन्यस्तमभ्रकं द्रावणं भवेत् ।
एवं भवति लोहानां लेखने कर्मयोग्यता ॥
अभ्रकद्रावणं प्रोक्तं सुरसेन्द्रजभूमिजे ।
चम्पाकुथोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद् भवेत ॥
सर्वेषामेव रङ्गाणां सिन्दूरक्षीर इष्यते ।
मातङ्गदूर्वारसपट्टबद्धैः संस्तम्भितं चित्रमुदारपुच्छैः ॥
धौतं जलेनापि न नाशयेत तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि ।

(ii) अ० पृ० २२९

देशजातिकुलस्थानं वर्णभेदश्च कथ्यते ।
पूर्वोद्भवं नागरं च कर्णाटे द्राविडं स्मृतम् ॥
व्यन्तरं पश्चिमभवं वेशरं चोत्तरे तथा ।
कलिङ्गदेशे कालिङ्गं यामुनं सर्वतः स्थितम् ॥
देशजातिश्च कथिता कुलस्थानं कुलोद्गतम् ।
नागरं विप्रजातिः स्याद् द्राविडं क्षत्रियस्तथा ॥
व्यन्तरं वैश्यजातिश्च वेशरं च तथैव ॥ ।

कालिङ्गं मिश्रवर्णाढ्यं यामुनं सर्वतः समम् ॥
कुलस्थानोद्भवश्चेत्थं वर्णभेदश्च कथ्यते ।
नागरं श्वेतवर्णं स्याद द्राविडं रक्तवर्णकम् ॥
व्यन्तरं पीतसंकाशं हरिद्वर्णं तु वेशरम् ।
हरिद्वर्णं च कालिङ्गं यामुनं सर्ववर्णकम् ॥

(iii) मानसो०, अ० चि०

तत्तद्रूपानुसारेण पूरणीयास्तु चित्रकैः ।
एणसाराङ्गशार्दूलशिखितित्तिरिकादिषु ॥
भिन्नवर्णेषु सत्वेषु पृथग्वर्णः प्रयुज्यते ।
वृक्षपर्वतशस्त्रादिपदार्थेषु यथोचिताः ॥
भिन्नवर्णाः प्रयोक्तव्याः चित्रकैश्चित्रकर्मणि ।
गौरवर्णेषु नीलेषु हरितालं पुरो न्यसेत् ॥
गौरेषु गैरिकं पश्चान्नीली नीलेषु योजयेत् ।
क्षुरेण तीक्ष्णधारेण लेखां न्यूनाधिकां हरेत् ॥
पाण्डुरं बिन्दुजातं यत्तत्सर्व तेन कारयेत् ।
पूरितं वर्णमात्रं यत्तावन्मात्रं हरेत्सुधीः ॥
मृदुघर्षणयोगेन यथा शङ्खो न नश्यति ।
रोमराजिमितां कुर्यात् रेखां नानाविधामपि ॥
वीरणैस्सूक्ष्मतुण्डाग्रैर्मृदुघर्षणयोगतः ।

वर्णेषु स्वर्ण-योगः

शुद्धं सुवर्णमत्यर्थं शिलायां परिपेषितम् ॥
कृत्वा कांस्यमये पात्रे गालयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।
क्षिप्त्वा तोयं तदालोड्य निर्हरेत्तज्जलं मुहुः ॥
यावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः ।
घनत्वान्मसृणं हेम न याति सह वारिणा ॥
आस्ते तदमलं हेम बालार्करुचिरच्छवि ।
तत्कलकं हेमजं स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत् ॥
मिलितं वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ।
लिखेदाभरणं चापि यत्किञ्चद्धेमकल्पितम् ॥
चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ।
वाराहदंष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनकं शनैः ॥
यावत्कान्तिं समायाति विद्युच्चकितविग्रहम् ।

सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तितः ॥
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखां विचक्षणः ।
वस्त्रमाभरणं पुष्पं मुखरागादिकं सुधीः ॥
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्णं भवेत्ततः ।

शुद्धवर्णाः

पूरयेद्वर्णकैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम् ।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः ॥
एकवर्णार्पितं कुर्यात्तारतम्यविभेदतः ।
अधश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलतां व्रजेत् ॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्णः प्रयुज्यते ।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्णः प्रयुज्यते ॥
श्वेतेषु पूरयेच्छङ्खं शोणेषु दरदं तथा ।
रक्तेष्वलक्तकरसं लोहिते गैरिकं तथा ॥
पीतेषु हरितालं स्यात्कृष्णे कज्जलमिष्यते ।
शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्ताश्चत्वारश्चित्रसंश्रयाः ॥

मिश्रवर्णाः

मिश्रान् वर्णानितो वक्ष्ये वर्णसंयोगसम्भवान् ।
दरदं शङ्खसम्मिश्रं भवेत्कोकनदच्छविः ॥
अलक्तं शङ्खसम्मिश्रं सौराश्वसदृशं भवेत् ।
गैरिकं शङ्खसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ॥
हरितालं शङ्खयुतं घोरात्व ? सदृशप्रभम् ।
कज्जलं शङ्खसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ॥
नीली शङ्खेन संयुक्ता कपोताभा विराजते ।
राजावर्तस्स एवायमतसीपुष्पसन्निभः ॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरसप्रभा ।
हरितालेन मिश्रा चेज्जायते हरितच्छविः ॥
गैरिकं हरितालेन मिश्रितं गौरतां व्रजेत् ।
कज्जलं गैरिकोपेतं श्यामवर्णं निरूपितम् ॥
अलक्तेकेन संसृष्टं कज्जलं पाटलं भवेत् ।
अलक्तं नीलिकायुक्तं कर्बुवर्णं भवेत् स्फुटम् ॥
एवं शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदाः प्रकीर्तिताः ।
अथवान्यप्रकारेण वर्णयोगः प्रकीर्त्यते ।

मृदुरक्ते तु सिन्दूरं गैरिकं मध्यरक्तके ।।
अतिरक्ते तु संयोज्यं वर्णं लाक्षारसं विदुः ।
मनश्शिला पीतवर्णे ततोऽन्यत् पूर्वमुक्तवत् ।।
गैरिकं तु शिलापृष्ठे दिनमेकं सुपेषयेत् ।
तत् पोषितं शुद्धतोयैः संग्रहेन्मुद्गरादिषु ।।
दिनार्धं पेषयेत् तद्वत् सिन्दूरं जलमिश्रितम् ।
निर्जलं चूर्णयेत् तत्र पेषण्यां तु मनश्शिलाम् ।।
दिनपञ्चकमात्रं तं पुनस्तोयविमिश्रकम् ।
दिनमेकं पेषयित्वा सम्यक् पात्रेषु संग्रहेत् ।।
एतेषां निम्बनिर्यासतोयं संयोज्य युक्तितः ।
सम्मर्द्य लेपलिखनप्रक्रियाश्च समाचरेत् ।।

स्वर्णलेपविधिः प्रथमा

अथ स्वर्णं पेषणार्थं पत्रीकृत्य यथा मृदु ।
तत्पत्रं शकलीकृत्य सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं पुनः ।।
किञ्चित्सिकतसंमिश्रं शुद्धतोयविमिश्रितम् ।
पेषयेत् पेषणीश्वभ्रे सुश्लक्ष्णदृषदा सुधीः ।।
जाते सुपिष्टे तत्पिष्टे काचपात्रे जलैः सह ।
आलोड्योर्ध्वगतं पङ्कं सिकतां च पुनः पुनः ।।
सन्त्यज्य जातं स्वर्णस्य पङ्कमत्युज्ज्वलं बुधः ।
युक्तिको वज्रलेपेन सह ···· · · · तः ।।
तत्तादुचितलेखिन्या विशेषको लिखेदिदम् ।
वराहदंष्ट्रमुख्येन शुष्के तस्मिन् पुनः पुनः ।।
यावदस्य प्रभा जाता तावन्मन्दं विघट्टयेत् ।

द्वितीया

अथवा वज्रलेपेन स्वर्णस्थानं विलेखयेत् ।।
विन्यसेत् तत्र तत्राशु यथायुक्ति विदारितान् ।
अतीव मृदुलान् स्वर्णपट्टानतिदृढैः पुनः ।।
कार्पासपुञ्जैः संमार्ज्य प्रकाशीक्रियतामिदम् ।
एवं पूर्वैः स्वर्णलेपविधिरूक्तो द्विधा बुधैः ।।

वज्रलेपः

माहिषत्वचमादाय नवां तोयेन पाचयेत् ।
नवनीतमिवायति गालयित्वा यदा तदा ।।
गुलिकाश्च ततः कार्या याः शुष्काश्च महातपे ।

वज्रलेपमिदं ख्यातं चित्रकारसुखावहम् ॥
क्षिप्त्वोष्णतोये विद्राव्य तत्तद्वर्णेषु युक्तितः ।
कपित्थनिम्बनिर्यासतोयस्थानेऽपि योजयेत् ॥

वर्णभेदः मिश्रवर्णाः वा

अन्योन्ययोगात् संजातवर्णभेदोऽथ कथ्यते ।
सितं रक्तेन संयुक्तं गौरच्छवि हि दृश्यते ॥
श्वेतं कृष्णं च पीतं च समभागविमिश्रितम् ।
शारूच्छवीति विख्यातं वर्णकारसुखप्रदम् ॥
श्वेतं कृष्णं समं मिश्रं गजवर्णमुदाहृतन् ।
रक्तं पीतं समं मिश्रं बकुलस्य फलाकृति ॥
ज्वलनाभमिदं ख्यातमग्निवर्णनिभं परम् ।
पीतस्य द्विगुणं रक्तं मिश्रितं त्वतिरक्तकम् ॥
श्वेतस्य द्विगुणं पीतं मिश्रं ख्यातं तु पिङ्गलम् ।
कृष्णस्य द्विगुणं पीतं मिश्रितं त्वम्बुसम्मितम् ॥
तदेव नृणां वर्णः स्यात् कृष्णं पीतसमं तु वा ।
हरितालं श्यामयुतं शुकपक्षनिभं भवेत् ॥
लाक्षारसेन संयुक्तं हिङ्गुदं त्वतिरक्तकम् ।
लाक्षारसेन संमिश्रं कृष्णं जम्बुफलाकृति ॥
लाक्षारसं जातिलिङ्गं सितवर्णं यथा समम् ।
सम्मिश्रमुत्तमं वर्णं हिङ्गुदेनात्र वा युतम् ॥
कृष्णं नीलेन सम्मिश्रं केशवर्णमुदाहृतम् ।
एवं मिश्रकवर्णानि युक्त्या संयोज्य संलिखेत् ॥
सुधाधवलिते भित्तौ नैव कुर्यादिदं सुधीः ।

अ. व. रसाः रस-दृष्टयश्च — स. सू.—मू० ८२, पृ० ५५

स. रस-चित्राणि
वि० ध०

शृंगारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवचित्ररसाः स्मृताः ॥
तत्र यत्कान्तिलावण्यलेखामाधुर्यसुन्दरम ।
विदग्धवेशाभरणं शृङ्गारे तु रसे भवेत् ॥
यत्कुब्जवामनप्रायमीषद्विकटदर्शनम् ।
वृथा च हस्तं संकोच्य तत्स्याद्धास्यकरं रसे ॥
याञ्चाविरहासन्त्यागविक्रयव्यसनादिषु ।
अनुकम्पितकं यत्स्याल्लिखेत्करुणारसे ॥

पारुष्यविकृतिक्रोधविषस्त्यर्थां ? न दूषणम् ।
दीप्रशस्त्राभरणवत्कृतं रौद्ररसे भवेत् ॥
प्रतिज्ञागर्भशौर्यादिष्वर्थेष्वौदार्यदर्शनम् ।
सस्मयं सभ्रकुटिवद्वीरं वीररसेऽद्भुतम् ॥
दुष्टदुर्दशनोन्मत्तहिंस्रव्यापादकादि यत् ।
तत्स्याद् भयानकरसे प्रयोगे चित्रकर्मणः ॥
श्मशानगर्हितं घातकरणं स्थानदारुणम् ।
यच्चित्रं चित्रवच्छ्रेष्ठं तद्वीभत्सरसे भवेत् ।
यदा विनीतरोमाञ्चचिन्तां तार्क्ष्यमुखानतम् ॥
प्रदर्शयति चान्योऽन्यं तदद्भुतरसाश्रयम् ॥
यद्यत्सौम्याकृतिध्यानधारणासनबन्धनम् ।
तपस्विजनभूयिष्ठं तत्तु शान्ते रसे भवेत् ॥
शृंगारहास्यशान्त्याख्या लेखनीया गृहेषु ते ॥
परशेषा न कर्तव्या कदाचिदपि कस्यचित् ।
देववेश्मनि कर्तव्या रसाः सर्वे नृपालये ॥
राजवेश्मनि नो कार्या राज्ञां वासगृहेषु ते ।
सभावेश्मसु कर्तव्या राज्ञां सर्वरसागृहे ॥
वर्जयित्वा सभां राज्ञो देववेश्म तथैव च ।
युद्धश्मशानकरुणामृत्दुःखार्तकुत्सितान् ॥
अमङ्गल्यांश्च न लिखेत्कदाचिदपि वेश्मसु ।
निधिशृंगान्वृषान्राजन्निधिहस्तान्नताङ्गजान् ॥
निर्धिविद्याधरा राजनृषयो गरुडस्तथा ।
हनूमांश्च सुमङ्गल्या ये लोके सुप्रकीर्तिताः ॥
लिखितव्या महाराज गृहेषु सततं नृणाम् ।
चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप ॥
दौर्बल्यं स्थूलरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।
वर्णानां सङ्करश्चात्र चित्रदीपाः प्रकीर्तिताः ।
स्थानप्रमाणं भूलम्भो मधुरत्वं विभक्तता ॥
सादृश्यं क्षयवृद्धी च गुणाष्टकमिदं स्मृतम् ॥
स्थानहीनं गतरसं शून्यदृष्टिमलीमसम् ।
चेतनारहितं वा स्यात्तदशस्तं प्रकीर्तितम् ॥

लसतीव च भूलम्भो विभ्यतीव तथा नृप ।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते ।।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम् ।
हीनाङ्गं मलिनं शून्यं बद्धव्याधिभयाकुलैः ।।
वृत्तं प्रकीर्णकेशैश्च सुमङ्गल्यैर्विवर्जयेत् ।
प्रतीतं च लिखेद्धीमान्नाप्रतीतेः कथञ्चन ।।
शास्त्रज्ञैः सुकृतैर्दक्षैश्चित्रं हि मनुजाधिप ।
श्रियमावहयति क्षिप्रमलक्ष्मीं चापकर्षति ।।
निर्णेजयति चोत्कण्ठां निरुद्धत्यागतं शुभम् ।
शुद्धां प्रथयति प्रीतिं जनयत्यतुलामपि ।।
दुःस्वप्नदर्शनं हन्ति प्रीणाति गृहदैवतम् ।
न तु शून्यमिवाभाति यत्र चित्रं प्रतिष्ठितम् ।।
.... ·दकर्णं चाप्यनलङ्कृतम् ।
शल्यविद्धं च वृद्धं च य करोति स चित्रवित् ।।
तरङ्गाग्निशिखाधूमं वैजयन्त्यस्वरादिकम् ।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयोस्ति मत्तचित्रवित् ।।
सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् ।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित् ।।
एतेषां खलु सर्वेषामानुलोम्यं प्रशस्यते ।
सम्मुखत्वमथैतेषां चित्रे यत्नाद्विवर्जयेत् ।।
यथाचित्रं तथैवोक्तं खातपूर्वं नराधिप ।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषु दर्शयेत् ।।
शिलादारुषु लोहेषु प्रतिमाकरणं भवेत् ।
अनेनैव विधानेन यथा चित्रमुदाहृतम् ।।

२२. चित्रदोषाः वि० ध०

दौर्बल्यबिंदुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।
वृहदण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ।।
मानवाकारता चेति चित्रदोषाः प्रकीर्त्तिताः ।
दुरासनं दुरानीतं पिपासा चान्यचित्तता ।
एते चित्रविनाशस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।।

२३. चित्रगुणाः वि० धि०

स्थानप्रमाणभूलम्भो मधुरत्वं विभक्तता ।

सादृश्यं पक्षवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः ॥
रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च ।
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥
रेखां प्रशंसन्त्यचार्या वर्तनां च विचक्षणाः ॥
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ।
इति मत्वा तथा यत्नः कर्तव्यश्चित्रकर्मणि ॥
सर्वस्य चित्रग्रहणं यथा स्यान्मनुजोत्तम ।
स्वानुलिप्तावकाशा च दिनेशं मधुका शुभा ।
सुप्रपन्नाभिगुप्ता च भूमिस्सच्चित्रकर्मणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेखं विद्वान्यथादेशविशेषवेशम ।
प्रमाणशोभाभिरहीयमानं कृतं भवेच्चित्रमतीव चित्रम्

२४. चित्रकारः

(i) स० सू०

बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वते ।
करामलकव (त्यास्यं पर?) द्वयमप्यदः ।
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित् ॥
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वरः ॥

(ii) मानसो०, अ० चि०

प्रगल्भैर्भाविकैस्तज्ज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः ।
विधिनिर्माणकुशलैः पत्रलेखनकोविदैः ॥
वर्णपूरणदक्षैश्च वीरणे च कृतश्रमैः ।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्रं नानारससमुद्भवम् ॥

ग्रन्थकर्तुर्ग्रन्थसमापनस्तवः

शुक्लाम्बरधरां देवीं शुक्लमाल्यविभूषिताम् ।
नमस्कृत्येष्टदेवीं तां तृतीयां बहु मन्महे ॥
महाकालीं महालक्ष्मीं तृतीयां तां सुमन्महे ।
तस्या एव प्रसादाद्वै कर्तुं किमपि पारये ॥
प्रज्ञापोतं विनैवाहं वास्तु-सागर-सुत्तरम् ।
कर्तुं वै यथाशक्तः तदपि तद्बहुमन्महे ॥
अथवा गुरूप्रसाद्वै सर्वमेतत्कौशलम् ।
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
अथवा पूर्वजानां वै शुक्लोपाह्वसुतेजसाम् ।
प्रसादाद्वै महादेव-निरञ्जन-रूद्रधरस्य च ॥

कर्तुं किमपि पारोऽहं विज्ञानं वास्तुशास्त्रकम् ।
चित्रलक्षणमेतद्वै नवीनं किमपि अस्ति वै ।।
तच्चैतत्समापितां नीतमाषाढस्य सितपक्षके ।
चतुर्दशाधिकसहस्रद्वयविक्रमेऽस्मिन सुप्रवर्षके ।।
सर्वे पठन्ति साहित्यं दर्शनं धर्म-शास्त्रकम् ।
साम्प्रतं तु पठिष्यन्ति कला-विज्ञान-पारगम् ।।
वास्तु-शास्त्र-प्रबन्धेऽस्मिन् पुस्तकानि चतुर्दश ।
तेष्विदं पञ्चमं प्रोक्तं शेषमग्रे प्रवक्ष्यते ।।
शुभं भूयाच्छुभं भूयाच्छुभं भूयात्सनातनम् ।
शुभं शास्त्रं शुभं ज्ञानं शुभं विज्ञानवैभवम् ।।
शुभो मेऽस्तु वै भो देवि प्रयासोऽस्मिन् वास्तुशास्त्रके ।
तदधिकृत्य जीवनं सर्वं व्यतीतं वै भविष्यति ।।

वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

राज-निवेश

राज-विलास

एवं

राजसी कलायें

(अ) यन्त्र-कला

(ब) चित्र-कला

(स) प्रतिमा-कला

विषय-प्रवेश :—समरांगण-सूत्रधार-वास्तुशास्त्र--भाग प्रथम—**भवन-निवेश**—विस्तृत अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, वैज्ञानिक-दृष्टि-पुरस्सर परिमार्जित संस्करण—मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली--इस प्रकाशित ग्रन्थ में विद्वानों एवं पाठकों ने इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड वास्तु-कोष—वास्तु-पदावली का परिशीलन किया ही होगा। यहां पर इस समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र के भाग द्वितीय **राज-निवेश एवं राजसी कलायें** शीर्षक के इस चतुर्थ-खण्ड—वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली में भी तदनुरूप विभाजन है। जो अमर-कोष की दिशा से सानुगत है। समरांगणीय वास्तु-कोष को हम ने तीन वर्गों में विभाजित किया है :—

(अ) वास्तु-खण्ड

१. औपोद्घातिक काण्ड;

२. सामान्य पारिभाषिक काण्ड;

३. पुर-काण्ड तथा

४. भवन-काण्ड।

टि० यह खण्ड भवन-निवेश में प्रकाशित हो ही चुका है।

(ब) वास्तु-शिल्प-चित्र-खण्ड :—यतः 'वास्तु' बड़ा ही व्यापक पद है, जिस में कोई भी स्थापत्य की कृति गतार्थ हो सकती है, परन्तु इन तीनों पदों--वास्तु, शिल्प एवं चित्र के व्यावहारिक, शास्त्रीय, कलात्मक दृष्टि से हम वास्तु को केवल भवन में व्यवहृत करना चाहते हैं। यतः बिना पुर, नगर, ग्राम निवेश के भवन का निवेश हो ही नहीं सकता, अतः भवन-वास्तु में पुर-निवेश, नगर-निवेश, ग्रामादि-निवेश भी स्वतः आपतित होते हैं। पुनश्च भवन चतुर्विध है--आवास-भवन (Residential Houses); जन-भवन (Public Buildings)–जैसे सभा, चित्र-शाला, संगीत शाला, प्रेक्षा-गृह आदि आदि; राज-भवन तथा देव-भवन। तथापि भारतीय स्थापत्य में देव-भवन साधारण भवन से सर्वथा विलक्षण एवं विशिष्ट है, जिसका निरूपण भाग तृतीय--प्रासाद निवेश में पारिशीलनीय होगा।

जहां तक आवास-भवनों के स्थापत्य का प्रश्न था, उसकी पदावली (पुर, ग्राम, नगर आदि) पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। वास्तु-पदावली में उपर्युक्त वर्ग के अनुरूप अभी तीन शेष हैं—जन-भवन, राज-भवन एवं देव-भवन। अतः इस खण्ड में शिल्प के साथ वास्तु की भी संयोजना क्यों की गई, यह विद्वान् और पाठक समझ सकेंगे।

यहां पर यह भी सूच्य है कि वास्तु और शिल्प का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार से विभावित किया जा सकता है। वास्तु शब्द का स्थापत्य-क्षेत्र में जो व्यवहार था उस पर हम संकेत कर ही चुके हैं। अब आइये शिल्प की ओर। शिल्प पद कला के नाम से बहुत पुराने समय से व्यवहृत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में कला के लिये सर्व-प्राचीनतम प्रयोग शिल्प है। पुनः लगभग २५०० वर्ष पुरानी बात है कि वात्स्यायन के काम-सूत्र में कला के लिये शिल्प ही पद विशेष व्यवहार में लाया गया है। अस्तु, वास्तु-शिल्प की जो नई व्युत्पत्ति सबसे पहले मैंने दी है, वह वैज्ञानिक एवं क्रमिक है। भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के तीन प्रमुख अंग हैं—भवन, प्रतिमा तथा चित्र। भवन का सम्बन्ध एवं अनुषंग वास्तु से है। अतः शिल्प कला है, इस लिये इस का सम्बन्ध एवं अनुषंग प्रतिमा से है। पुनः भवन और प्रतिमा दोनों ही बिना अलंकृति, कान्ति, छाया, लावण्य, भावयोजन, सादृश्य अर्थात् पूर्ण रसाभिव्यक्ति एवं सौन्दर्य दृष्टि के बिना ये दोनों निष्प्राण हैं; अतः चित्र-स्थापत्य भी भवन-वास्तु का चरम प्रकर्ष माना जा सकता है। शिल्प-रत्न ने इसी दृष्टि को लेकर जो निम्न प्रवचन दिया है वह हमारी इस समीक्षा का पोषण करता है :

एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैं विचित्रितम् ॥

अन्त में इस उपोद्घात के बाद हमें यह बताना है कि राज-भवन राज-निवेश-उपकरण-भवन यथा चित्र-संगीत नाट्य-नृत्य-शालाएं तथा देव-भवन बिना प्रतिमा एवं चित्र के कभी भी अपने पूर्ण परिपाक में नहीं निष्पन्न हो सकते हैं। अतः हमने यहां पर इस खंड में वास्तु और शिल्प दोनों को एक साथ रखा है। अभी एक जिज्ञासा और रहती है, जिसका समाधान भी आवश्यक है कि जिस प्रकार वास्तु पद बड़ा व्यापक है, जो सभी-भवनों का स्थापक है; उसी प्रकार शिल्प पद भी बड़ा व्यापक है, जिसमें सभी कलाएं चित्र, नृत्य आदि गतार्थ हो सकता हैं। हमारे पारिभाषिक वास्तुशास्त्र-शिल्प-शास्त्र ग्रन्थों में चित्र पद भी

व्यापक है, जो प्रतिमा का भी पूर्ण बोधक है। हमारे स्थापत्य का यह चित्र पद यथानाम चित्र-कला (Painting) का पर्याय वाची नहीं है। हमने अपने अध्ययन में प्रतिमा को तीन वर्गों में विभाजित किया है—चित्र, चित्रार्ध एवं चित्राभास। इस दृष्टि से चित्राभास ही आधुनिक चित्र-कला (Painting) के पर्याय के रूप में कबलित किया जा सकता है। अतः इस पलावली को भी हम इसी खंड—चित्र खंड में प्रस्तोत्य करेंगे।

अस्तु, अब इस खण्ड को निम्न-लिखित काण्डों में विभाजित करेंगे

१. **राज-निवेश-काण्ड**

२. **राज-भवनोचित-सज्जा-काण्ड**

३. **राज-विलास—नाना यन्त्र**

४. **चित्र-काण्ड**

५. **प्रतिमा-काण्ड**

(स) प्रासाद खण्ड

टि० यह खण्ड यथा संकेतित प्रासाद निवेश में विवेच्य होगा।

राज-निवेश-काण्ड

प्रारम्भिका

राज-भवन अथवा देवालय आदि भवनों के निर्माण के प्रथम वेदियों की स्थापना तथा पीठों का प्रकल्पन अनिवार्य माना गया है । वेदियों और पीठों की निम्न पद-तालिका प्रस्तुत की जाती है । साथ साथ उनके विशेषों को भी तालिकानुरूप निर्दिष्ट किए जाते हैं—

वेदी :

	संज्ञा	प्रमाण	विशेष
१	चतरश्रा	नौ हाथ	यज्ञार्थ
२	सर्वभद्रा	आठ हाथ	देव-प्रतिष्ठार्थ
३	श्रीधरी	सात हाथ	विवाहार्थ
४	पद्मिनी	छः हाथ	राज्याभिषेकार्थ

पीठ :—दे० अनुवाद अ० ४ पृ० ७—८

राज-निवेश

त्रिविध—१ शासनोपयिक
२ आवासोपयिक
३ जनोपयिक

शासनपोयिक :—हम अपने अध्ययन और अनुवाद इन दोनों में राज-निवश पर पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं । यहां पर केवल पदावली के दृष्टिकोण (Termino-logical stand-point) से केवल हम राज-निवेशांगों की तालिका ही उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं, जो इस खण्ड का प्रमुख विषय पदावली ही तो है । अत: उसकी पुनरावृति अनिवार्य है । साथ ही साथ हम यह भी उपयुक्त समझते हैं, कि समरांगण-सूत्रधार के राज-निवेशांगों की तालिका के साथ साथ मानसारीय राज-निवेश-तालिका का भी हम यहां पर आमने सामने अर्थात् समानान्तर प्रस्तुत करें, तो इस ग्रन्थ-रत्न के राज-निवेशांगों की तालिका कितनी व्यापक समृद्ध और चरम है, वह अपने आप विद्वानों और पाठकों को स्वयं समझ में आ सकेगी । समरांगण-सूत्रधार को छोड़कर इतनी बड़ी तालिका अन्यत्र अप्राप्य है ।

राज-विवेशांग (समरांगणीय)	राज-विवेशांग (मानसारीय)
१. निवास	१. निवास—राज-प्रासाद
२. धर्माधिकरण-स्थान	२. ब्रह्म-पीठ
३. कोष्ठागार	३. राज-महिषी
४. पक्षि-भवन, पशु-भवन	४. पुष्प-गृह
५. महानस	५. उद्यान
६. आस्थान-मण्डप	६. तडाग—मज्जनालय
७. भोजन-स्थान	७. कोष्ठागार—वस्तु-निक्षेप-मण्डप
८. वाद्य-शाला	८. कोष-गृह
९. वन्दि-मागध-वेश्म	९. आयुध-शाला
१०. चर्मायुध-शाला	१०. अरिष्टागार
११. स्वर्ण-कर्मान्त-भवन	११. अभिषेक-मण्डप
१२. गुप्ति	१२. आयुधालय (२)
१३. प्रेक्षा-गृह	१३. रक्षक-भवन
१४. रथ-शाला	१४. गोपुर-महाद्वार
१५. गज-शाला	१५. राज-कुमार-हर्म्य—युवराज-भवन
१६. वापी	१६. पुष्प-मण्डप
१७. अन्तः पुर	१७. यान-शाला—रथ-शाला
१८. क्रीडा-दोला-आलय	१८. पुरोहित-भवन
१९. महिषी-भवन	१९. क्षौर-गृह
२०. राज-पत्नी-भवन	२०. शिविका-मण्डप
२१. राजकुमार-भवन	२१. प्रतीहार-निकेतन
२२. राजकुमारी-भवन	२२. मृग-शाला
२३. अरिष्टा-गृह	२३. पक्षि-शाला
२४. अशोक-वनिका	२४. राज-मन्दिर
२५. स्नान-गृह	२५. नृत्य-मण्डप
२६. धारा-गृह	२६. मन्दुरा—वाजि-शाला
२७. लता-गृह	२७ वेद-भवन
२८. दारू-शैल—दारूगिरि	२८. गो-शाला

२९. पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म
३०. यन्त्र-कर्मान्त-भवन
३१. पान-गृह
३२. कोष्ठगार (२)
३३. आयुध-मन्दिर
३४. कोष्ठगार (३)
३५. उदूखल-भवन तथा शिला-यन्त्र
३६. दारू-कर्मान्त-भवन
३७. व्यायाम-शाला
३८ नाट्य-शाला
३९. चित्र-शाला
४०. भेषज-मन्दिर
४१. हस्ति-शाला (२)
४२. क्षीर-गृह—गोशाला-ह
४३. पुरोहित-सदन
४४. अभिषेचनक-स्थान
४५. अश्व-शाला—मन्दुरा
४६. राज-पुत्र वेश्म (२)
४७. राज-पुत्र-विद्याधिगम-शाला
४८. राज-मातृ-भवन
४९. शिबिका-गृह
५०. शय्या-गृह
५१. आसन-गृह
५२. कासार तथा तड़ाग आदि जलाशय
५३. नलिनी-दीर्घिका
५४. राज-मातुल-निकेतन
५५. राज-पितृव्य-भवन
५६. सामन्त-वेश्म
६७. देवकुल
५८. होराज्योतिषी-भवन
५९. सेनापति-प्रासाद
६०. सभा

२९. मर्कट-भवन
३०. मयूर-भवन
३१. गुप्ति
३२. गज-शाला
३३. कारागार
३४. युद्धाधिकरण-शाला
३५. सभा—मन्त्र-वेश्म
३६. प्रेक्षा-गृह
३७. मेष-युद्धार्थ-मण्डप
३८. व्यायाम-क्रीडाशाला
३९. व्याघ्र-मण्डप
४०. कुक्कुटादि-पशु-मण्डप
४१. निरीक्षण-भवन
४२ घटिका-भवन

राज-भवन—द्विविध :—१ निवास-भवन
२ विलास-भवन

जहां तक स्थापत्य-पद्धति और आधार-भौतिक निवेश-प्रक्रिया का प्रश्न है—इन दोनों पर हम अध्ययन में काफी समीक्षा कर चुके हैं, तथापि यहां पर इतना ही सूच्य है कि जहां तक निवास-भवन का प्रश्न है, उसमें केवल कक्ष्याएं (Courts) ही विशेष महत्व रखती हैं, उनमें भूमियों (Storeys) का निवेश विहित नहीं है । हां विलास-भवनों में शृंग-भूषाओं के कल्पन के लिए वितान-लुमा एवं शिखर आदि नाना विच्छित्तियों एवं अलंकृतियों की आवश्यकता यथानाम अनिवार्य मानी गई है । अतः यह विलास-भवन, आवास-भवनों से सर्वथा विलक्षण हैं । आवास एवं विलास दोनों भवनों में स्तम्भ-बाहुल्य ही दोनों की विशेषता है । अलिन्द अर्थात् कक्ष्या का सन्निवश स्तम्भों पर आधारित है, अतः निवास-भवनों की जो निम्न तालिका हम प्रस्तुत करते हैं, उस तालिका में आलिन्द-संख्या और स्तम्भ-संख्या भी तालिका-बद्ध होगी । अस्तु, इस उपोद्घात के उपरान्त अब इन दोनों भवन-विधाओं की तालिका का परिशीलन करें ।

संख्या संज्ञा	अन्तः शालीय-अर्थात केन्द्रीय कक्ष्या-निवेशोचित-स्तम्भ-विन्यास							पूर्ण स्तम्भ-संख्या	बहिःशालीयभद्र-विन्यास-अलिन्द-निवेशोचित स्तम्भ-संख्या	पूर्ण स्तम्भ-संख्या	दोनों की स्तम्भ-संख्या
निवास-भवन	कक्ष्यायें	१	२	३	४	५	६				
१ पृथ्वीजय	४	१२	२०	२८	३६	–	–	१००	२८×४	११२	२१२
२ मुक्त-कोण	-	-	-	-	-	४४	-	१४४	५४×४	२१६	३६०
३ सर्वतो-भद्र	-	-	-	-	-	-	५२	१९६	४०×४	१६०	३५६
४ श्रीवत्स	-	-	-	-	-	-	-	१४४	३०×४	१२०	२६४
५ शत्रु-मर्दन	-	-	-	-	-	-	-	१००	४४×४	१७६	२७६
६ अवनि-शेखर	-	-	-	-	-	-	-		-	-	-
७ भुवन-तिलक	-	-	-	-	-	-	-		-	-	-
८ विलासस्तवक	-	-	-	-	-	-	-		-	-	-
९ कीर्तिपताक	-	-	-	-	-	-	-		-	-	-
१० भुवन-मण्डन	-	-	-	-	-	-	-		-	-	-
विलास-भवन											
११ क्षोणीभूषण	४	१२	२०	२८	-	-	-	६४	१८×४	७२	१३६
१२ पृथ्वी-तिलक	४	-	-	-	-	-	-	३६	५२×४	२०८	२४४
१३ श्रीनिवास	४	-	-	-	-	-	-	३६	१०×४	४०	७६
१४ प्रताप-वर्धन	-	-	-	-	-	-	-	३२	३२	३२	६४
१५ लक्ष्मी-विलास	-	-	-	-	-	-	-	३२	२४	२४	५६

सभा :—सभा-वास्तु भारतीय वास्तु का सर्व-प्राचीन प्रारम्भ है । सभा-भवन की स्थापत्य-विशेषता स्तम्भ-बहुलता है । ऋग्वेद साहित्यक-प्रामाण्य-स्रोतों में प्राचीनतम कृति है, उसमें नाना ऋचाओं में सहस्रस्तम्भ वाले भवनों के निर्देश प्राप्त होते हैं । कि इस उष्ण-प्रधान देश में जहां तक सामान्य जनता के भवनों की निवेश-पद्धति का प्रश्न था, उसमें उन्होंने न तो कोई विशेष अभिनिवेश ही दिखाया और न उसको ऊंचे ऊंचे मकानों और नाना भूषाओं से सज्जित-रुप में परिकल्पित करने की चेष्टा की । मृण्मय, छाद्य-मय, भवन ही इस देश की सभ्यता एवं जलवायु के अनुकूल थे । ऐसे ही मकान उपयुक्त माने जाते रहे । अतएव सारा, ऐश्वर्य धन, परिश्रम, कौशल सब कुछ जन-भवनों, राज-भवनों तथा देव-भवनों के निर्माण में लगाया गया । कोई भी जन-भवन (Public Building), राज-भवन (Palaces), देव-भवन (Temples) बिना सभा-वास्तु के कभी पूर्ण नहीं माने गए । अस्तु, इस उपोद्घात के बाद अब हम समरांगण-सूत्रधार के सभाष्टक की तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

१	नन्दा	२	भद्रा
३	जया	४	पूर्णा
५	भाविता	६	दक्षा
७	प्रवरा	८	विदुरा

टि०—इन सभाओं में तीन स्थापत्य-विशेषताएं हैं :—

(अ) अलिन्द-विनियोग,

(ब) स्तम्भ-विनिवेश,

(स) प्राग्रीवादि-वैशिष्ट्य ।

विश्व-कर्म-वास्तु-शास्त्र में वर्णित सभा-वास्तु पर भी कुछ उद्धारण आवश्यक है । यह वि० वा० शा० का सभा-वास्तु राज-निवेश के लिऐ बहुत ही उपयुक्त विभाव्य है, जो शासनोपयिक राज-प्रासाद के लिए अवश्य निवेश्य है । इन सभाओं को तीन विधाओं में विभाजित किया गया है :—

१ साधारण-सभा

२ मुख्य-सभा तथा

३ प्रधान-सभा

ये सब सभाएं एक प्रकार से न्याय-सभाओं के रुप में परिकल्पित की जा सकती हैं, क्योंकि न्याल-शाला और सभा ये दोनों ही वि० वा० शा० के अनुसार 'प्रास्थानिक' संज्ञा में उपकल्पित की गई हैं। यह न्याय-शाला पुन: दो कोटियों में उपस्थापित की गई है—

१ देश्या और

२ पौरा

इस प्रकार जैसा हमने सभा-वास्तु में स्तम्भ-संयोग माना है, उसी प्रकार इन आवस्थानिकों में भी स्तम्भ-संयोग-वैशिष्टय रखता है। अस्तु, निम्न तालिका से ये सभाएं पारिभाषिक पदावली में निखर उठेंगी :—

न्याय-सभा—न्यायवित्-परिषत्-स्थान :—त्रिविधा

१ दैवी

२ राज्ञी

३ मानुषी

टि०—राजधानी में प्रधान न्याय-शाला (Courts of justice) में चालीस खम्भे अवश्य होने चाहिए। जहां तक पौरा-मुख्याभिधाना न्यायशाला का प्रश्न है उसमें २४ खम्भ होने चाहिए। देश्या नाम की साधारण सभा में २० खम्भे होने चाहिएं।

गजशाला :—जहां तक समरांगण-सूत्रधार की गजशाला की विधा है, वह निम्नलिखित तालिका में उद्धृत की जाती है और उसमें उसके विशेषों पर भी सुसम्बद्धा सूचना प्रस्तुत की जाती है :—

षड्विधा

१ सुभद्रा	२ नन्दिनी
३ सुभोगदा	४ भद्रिका
५ वर्षिणी	६ प्रमारिका

टि०—वि० वा० शा० गज-शालाओं के निवेश में बड़े ही स्थापत्य विवरण प्राप्त होते हैं। यहां पर गोपुरों की छटाएं, विस्तृत मैदान, भिषक्-भवन प्रस्तुत किए गए हैं। साथ ही साथ यह भी बताया गया है कि गज-शाला में सर्वत्र बालू बिछी हो और ये शालाएं परिखावलय पर और महामार्ग-समीप स्थाप्य हैं और इनका रुप मण्टपाकार होना चाहिए।

टि०—इनमें छठी गजशाला अनिष्ट बताई गई है।

अश्वशाला:—हम यह पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि समरांगण-सूत्रधार को छोड़कर और किसी भी वास्तु शिल्प-ग्रन्थ में अश्वशाला के सम्बन्ध में इतने विवरण प्राप्त नहीं होते हैं। तथापि यहां पर स्वल्प में पारिभाषिक पदावली उद्धृत की जाती है।

१. अश्वशालीय सन्निवेश—'स्थानाति' अर्थात् थाने या घोड़े बाधने का स्थान, दे० अध्ययन,
२. यवस्-स्थान अर्थात् जहां पर घास एकत्रित की जाती है।
३. खादन कोष्ठक—नांदें।
४. कीलक खून्टे जो पंचागी निग्रह के लिए अनिवार्य है,
५. अश्वशालीय सम्भार— जल-पात्र पूर्वोत्तर
अग्नि दक्षिण-पश्चिम
उदूखल उत्तर-दक्षिण

टि०—जहां तक पूर्व का प्रश्न है वह तो अश्व-प्रवेश द्वार है अन्य सम्भार निम्न तालिका में निभालनीय हैं।

१.	निःश्रेणी	११.	गड़से
२.	कुश	१२.	नाद्य
३.	फलकावृत कूप	१३.	प्रदीप
४	कुद्दाल (कुल्हाड़ी)	१४.	हस्तवासी
५.	उद्दाल (फरुहे)	१५.	शिला
६.	गुडक (गेंद)	१६.	दर्बी
७.	शुक्त-योग	१७.	फाल
८.	खुर	१८.	उपामह
९.	कैंची	१९.	पिटक
१०.	सींग	२०.	बत्तियां

अश्वशालीय—उपभवन-औषधालय

१. भेषजागार
२. अरिष्ट मन्दिर
३. व्याधित-मन्दिर तथा
४. सर्व-संभार-वेश्म।

नृपायतन :—वैसे तो आयतन का अर्थ मन्दिर है, परन्तु यहां पर आयतन शब्द का राजानुजीवी जैसे अमात्य, सेनापति, पुरोहित, राजमाता,

राजकुमार, राजकुमारी, राजमातल, राजसेवक, राजपितृव्य आदि के भवन कभी भी राज-प्रासाद के प्रमाण में विनिर्मेय नहीं; वे सदैव न्यून होने चाहियें। इस सन्दर्भ में कोई विशेष पारिभाषिक पदावली नहीं।

परिशिष्ट – टि० अब इस राजोपकरण-भवन-शीर्षक में थोड़ी सी और भी सामग्री प्रस्तोत्य है।

नाट्य-शाला—ये नाट्य-शालाएं राज-भवन के सम्मुख द्वारादि पदों में निर्मेय विहित बताई हैं वि० वा० शा० में इसे रंग-शाला के नाम से प्रकीर्तित किया गया है, जिसकी विधा त्रिविधा है :–

१. नाटक-शाला २. संगीत-शाला तथा ३. नाट्य-शाला

इन शालाओं के भवन के तीन भाग विनिर्दिष्ट किए गये हैं,

१. दैव २. गान्धर्व ३. मानुष

देव-भाग में नाटय एद संगीत आदि प्रारम्भ के प्रथम वहां पर देवता पूज्य हैं।

गान्धर्व-भाग को आज की पारिभाषिक शब्दावली में रंगमंच कह सकते हैं। यह रंग-मंच केवल नटों, नर्तकों के लिए ही नहीं है; परन्तु सभ्यों—दर्शकों के लिए भी है। अब रहा मानुष-भाग उसे हम आजकल की पदावली में Green Room कह सकते हैं। लेकिन वास्तु-शास्त्र की दृष्टि में जो हमारी प्राचीन परम्परा थी उसके अनुरूप यह भाग दो भागों में विभाजित था—एक महिलाओं के लिए दूसरा मनुष्यों के लिए अर्थात् पुरुष-नटों तथा नारी-नटों के लिए।

पुस्तक-शाला—वि० वा० शा० का निम्न प्रवचन हमारी पूर्वोक्त धारणा का पूर्ण समर्थन करता है कि यह उप-भवन राज-निवेश के लिए अनिवार्य है :—

"खड्गसन्धारणं राज्ञश्शास्त्रसेवनमित्यपि,
द्वयं चैव विशेषेण शुभप्रदमितीरतम्।"

हमारी प्राचीन पुस्तक-शालाओं के जो भवन थे वे भौमिक भवन थे तथा शिखरादि-भूषाओं से अलंकृत थे, पुनः पुस्तक-भवन की विशेषता यह हैं कि जिस प्रकार से राज-प्रासाद में अलिन्द अथवा कक्ष्याएं अनिवार्य है उसी प्रकार यहां पर नाना आवरणों का प्रकल्पन आवश्यक है, जिससे भिन्न-भिन्न शास्त्रों की स्थापना हो सके :—

प्रथम आवरण	वेद
द्वितीय आवरण	स्मृतियां
तृतीय आवरण	आर्ष ज्ञान

पुनः एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन पुस्तकालयों में गुरु के लिए पीठ अनिवार्य था। साथ ही साथ भगवती सरस्वती, हयमुख भगवान् विष्णु, शिव तथा भगवती उमा—ये सब चारों सपरिचारिक स्थाप्य हैं।

विद्या-भवन—इस भवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस को बहिःशाला और अन्तःशाला के निवेश में परिकल्पित करना चाहिए—

बहिःशाला—महाशाला, अन्तःशाला—मध्यशाला

मध्यशाला में दो शालाएं विशेष निवेश्य हैं :—

१. शास्त्र-शाला—वाद-स्थान

२. परीक्षा-स्थान—अभ्यास-गृह (Laboratory)

इसकी विशेषता यह है कि यह प्रासाद-स्थापत्य के समान विमान-शिखरों सदृश नाना-चित्र-मनोहर, सर्वालंकार-संयुक्त तथा पूर्व-मंडप-शोभित बनाना चाहिए।

मार्ग-शाला—मार्गशालाएं आजकल केवल विशिष्ट जनों के लिए किसी नगर अथवा राजधानी में दिखाई पड़ती है अन्यथा ग्रामीण क्षेत्र में इस प्रकार की शालाएं दिखाई नहीं पड़तीं। वि०वा०शा० के अनुसार ये शालाएं बड़ी ही प्रशस्त प्रतिपादित हैं। बड़े-बड़े आंगन, परकोटे (प्राकार), गोपुर (महाद्वार) नाना विध मंडप तथा विभिन्न भूमिकाओं से अलंकृत तथा देवों, गन्धर्वों, महाराजों, अधिराजों के चित्रों से चित्रित दीवालों के साथ विमानाकार भूषाओं से अलंकृत ये विनिर्मेय बताई गई हैं। साथ ही साथ एक विशेष यह है कि इन मार्ग-शालाओं में सायुध भटों की नियुक्ति भी प्रतिपादित है। इसको हम श्रान्त पथिकों के लिए विश्रन्ति-स्थान के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं।

वापी, कूप, कुण्ड, तडाग—ये सब निम्न तालिका से विभाव्य हैं; क्योंकि जनता के लिये सभी राजे-महाराजे शासन की दृष्टि से तथा राज्य-संचालन की सफलता के लिये ये लोग इन निवेशों को अनिवार्य रूप से बनवाते थे। विशेषकर मध्य-भारत के पूर्व-मध्यकालीन भग्नावशेषों को देखिए, वहां बावलियां और

तडाग अब भी दिखाई पड़ते हैं। अपराजित-पृच्छा ही एकमात्र शिल्प-ग्रन्थ है जहां पर वापी, कुण्ड, तडाग, कूप के जन-वास्तु (Secular Architecture Or Civil Architecture) की दृष्टि से ये निवेश वास्तु-पदावली से कितने विकसित थे—स्वतः प्रत्यक्ष है :—

कूप-तालिका		वापी-तालिका-संज्ञा	वैशिष्ट्य
श्रीमुख	चूडामणि	नन्दा	एक-वक्त्रा, त्रि-कूटा
विजय	दिग्भद्र	भद्रा	द्वि-वक्त्रा, षट्-कूटा
प्रान्त	जय	जया	त्रि-वक्त्रा, नव-कूटा
दुन्दुभि	नन्द तथा	विजया	चतुर्वक्त्रा. द्वादश-कूटा
मनोहर	शंकर		

कुण्ड-तालिका	तडाग-तालिका संज्ञा	आकार
भद्रक	सर	अर्धचन्द्राकार
सुभद्रक	महासर	वृत्ताकार
नन्द तथा	भद्रक	चतुरश्राकार
परिघ	सुभद्र	भद्राबहुल
	परिध	वकैकस्थल
	युग्मपरिघ	कूलद्वयवकपरिवेष्टित

टि० जहां तक राज-निवेशोचित नाना निवेशों का सम्बन्ध है—जैसे भोजन-शाला, शय्या-गृह, बसन्त-शाला, कल्याण-शाला, धान्य-गृह, गो-शाला आदि आदि वे, यहां पर इस अध्ययन से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। केवल हम यहां पर कोषागार और आयुध-शाला तथा मृग-शाला (Zoo) पर ही कुछ थोड़ा सा यहां पर वि० वा० शा० के अवतरण उद्धृत करते हैं।

कोषागार-भाण्डागार—यह भी कोषागार न्यायशाला के सदृश देश्या और पौरा के रूप में प्रतिपादित है। पुनः इन शालाओं में किन किन प्रकोष्ठों में कौन कौन से धन, धान्य, द्रव्य स्थापत्य हैं—इस पर बड़ा सुन्दर और वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है। निम्न तालिका से यह सब दर्पणवत् आभासित हो रहा है। पहले वास्तु-वैशिष्ट्य देखिये :—

देश्या (Urban) :— सदुर्गा सालिन्दा द्वारोपद्वारमेदुरा।
देश्या प्राकारत्रयसंवीता भित्तसप्तकसंवृता।

अर्थात् किलाबन्दी से दृढ़, द्वारों तथा उपद्वारों से युक्त, तीन परकोटों से रक्षित सात दीवालों से अभेद्य ऐसा कोषागार बनाना चाहिये। जहां तक पौरा (Capital) का सम्बन्ध है, वह राज-प्रासाद में निवेश्य है। रक्षा-व्यवस्था देखें:—

पूर्व—सुवर्ण उत्तर—नव रत्न (हीरे जवाहरात)

पश्चिम—लिपिकारी (Accountants) दक्षिण—राजत, चांदी के संभार

आयुध-शाला—हम केवल यहां पर आयुध-शाला के अधिपति देव एवं ऋषि (Presiding Deities and Sages) तथा आयुधों के नाम निम्न तालिका से उद्दिष्ट करते हैं :—

अधिपति देव

परः शिव	मरूत्	वैनतेय (गरूड)
हरि	गन्धर्व	नागराज
ब्रह्मा	कुबेर	केतुमालि
सुरेश	चन्द्रमा	यम
वरूण	चित्रकामुंक	

अधिपति ऋषि

अत्रि	कण्व	गालव
वशिष्ठ	विश्वामित्र	पश्चवारक
पुलह	नारद	भरद्वाज
काश्यप	वालखिल्य	क्षत्रपाल
भृगुनन्दन	लोकदर्शक	केशिक
मरीचि	दीर्घदर्शी	मधुसूधन
च्यवन	कुन्दरोमा	सुदर्शन

आयुध

कुन्त	खरोद्धार	मुसल
पाश	भिण्डिपाल	बल्लिकाग्र
करवाल	मेरुक	खलुका
तरी	शंकुलल	मुष्टि-भेदन
खड्ग	कुठार	परशु
खेटक	टंक	तरवारी
भल्ल	शूल	छुरिका
क्षुर	सृणि	विदारिका

मृग-शाला (Zoo)—यहां पर तालिका आदि न देकर केवल इस अवतरण को पढ़कर पाठकों को कितना तत्कालीन वैभव और निवेश-योजना अपने आप स्वतः सिद्ध होगी :—

बालानां बालिकानाञ्च युवतीनां विशेषतः ।
शुद्धान्तसुन्दरीणाञ्च चित्ताहर्षाभिवृद्धये ।।
कल्पनं विविधं कार्यं स्थलजात्यादिभेदतः ।
शुकानामपि कीराणां मयूराणामपि क्वचित् ।।
हरिणानाञ्च वत्सानां लाल्यलीलादिनामपि ।
शाला तु विविधा स्थाप्या लोहदारुसुधेष्टिकैः ।।
शुकानां पञ्जरः कुन्दा हरिणानां निगद्यते ।
वत्सादीनां शालका च त्रैविध्यं मुख्यमीरितम् ।।
लोहदण्डं दारुदण्डं श्रंखलान्वितमेव वा ।
बहुरन्ध्रं सकटकं पञ्जरं कल्पयेद्बुधः ।।
लोहदण्डमयी प्रायः कुन्ददारुमयी क्वचित् ।
क्वचिच्छिलात्रुटमयी सगवाक्षसतोरणा ।।
क्षुद्रशाला क्वचित्कार्या वत्सादीनां शुभे स्थले ।
नानांगणसमोपेतशाद्वला वाऽथ भौमिका ।।
सतोयपात्रा साधारा मध्यश्रंखलिकान्विता ।
वातायनस्थलकृताभीकरैश्च विवर्जिता ।।
वहिः खेलनभूम्या वा शाखया वा समेयुषी ।
चतुर्दण्डाधिकोन्नत्या पटल्या च विभूषिता ।
कल्पनान्तरमूह्यैव स्थाप्यं शिल्पविशारदैः ।।

वि० वा० शा० ३७

राज-भवनोचित-सज्जा-काण्ड

१. शय्या

२. आसन-सिंहासन

३. पादुका, पञ्जर, नीड, दीप, दंड आदि ।

परिशिष्ट :—

(अ) स्थापत्य-भूषा—तोरण-वितान-लुमा-पताका-पारिभद्र आदि;

(ब) संकीर्ण-भवन तथा आवरण

शय्या	त्रिविधा	प्रमाण	भूषा
राजोचिता	१. ज्येष्ठा	१०८ अंगुल	स्वर्ण की जड़ावट
	२. मध्या	१०४ अंगुल	रजत ,, ,,
	३. कनिष्ठा	१०० अंगुल	ताम्र ,, ,,
			हस्ति-दन्त आदि भी।
राजपुत्रोचिता		९० अंगुल	
अमात्योचिता		८४ अंगुल	
सेनापति-उचिता		७८ अंगुल	
पुरोहितोचिता		७२ अंगुल	
ब्राह्मणोचिता		७० अंगुल	

शय्यांग

१. ईशा-दण्ड　　२. कुष्य　　३. पाद

शय्या-द्रव्य :— सारदारू

एक-दारू-घटिता	प्रशस्ता
द्विदारू-घटिता	अप्रशस्ता-भय-जनका
त्रिदारू-घटिता	मृत्यु-घातिनी

शय्या-छिद्र—षड्-विध :—

१. निष्कुट	२. कोलदृक्	३. क्रोडनयन
४ वत्सनाभक	५. कालक	६. बन्धक

टि० वि०वा०शा० का निम्न उद्धरण आधुनिक शयन-कक्ष (Bed Room) की कितनी सुन्दर सुषमा, तत्कालीन शय्याओं और शयन-कक्षों की ओर हमें ले जाता है :—

पार्श्वयोर्मङ्गलद्रव्यस्थापनं शुभवर्धकम् ।
मुकुरादिसमोपेतं जलपात्रेण मञ्जुलम् ॥

आसन—समरांगण-सूत्रधार में शय्याओं का तो बड़ा सुन्दर विधान है, परन्तु आसन, पादुका कंघे आदि पर स्वल्प विवरण प्राप्त होते हैं। मानसार में आसन और सिंहासन के सुन्दर तथा पृथुल विवरण प्राप्त होते हैं। ये आसन

वहां पर सिंहासनों में ही विभावित किए गए हैं। इनकी दो निम्नलिखित विधाएं अवतारणीय हैं :—

राजासन

प्रथमासन	अभिषेकासन	मंगलासन
वीरासन	विजयासन	

देवासन

नित्यार्चन	नित्योत्सव
महोत्सव	विशेषार्चन

जहां तक निम्न आसन-वर्गों का प्रश्न है, वे यथा-निर्दिष्ट किन-किन के लिये प्रयोज्य हैं—इस तालिका से सूच्य है। इनको मानसार ने दस विधाओं में वर्गीकृत किया है :—

संज्ञा	प्रयोज्य
पद्मासन	शिव तथा विष्णु
पद्मकेशर	अन्य देवों तथा चक्रवर्तियों
पद्म-भद्र	महाराजों
श्रीभद्र	अधिराजों तथा नरेन्द्रों
श्रीविशाल	नरेन्द्र और पार्ष्णिक
श्रीबन्ध	पार्ष्णिक और पट्टधर
श्रीमुख	मण्डलेश
भद्रासन	पट्टभास
पद्मबन्ध	प्राहारक
पादबन्ध	अष्टग्राही

जहां तक अन्य राजोचित फर्नीचरों की आवश्यकता है, उनमें निम्न विशेष उद्धरणीय हैं :—

दीपदण्ड—इसकी दूसरी शिल्प-संज्ञा पोतिका है। यह पोतिका वि० वा० शा० के अनुसार त्रिविधा प्रकल्पित की गई है :—

पंच-ताला सप्त-ताला तथा अष्ट-ताला

इसे गान्धर्वी, किन्नरी, विद्याधरी अथवा पक्ष-रूपिका के रूप में चित्रित करना चाहिए और किन-किन स्थानों पर इसका विनिवेश अपेक्षित है—

वि० वा० शा० का यह उद्धरण कितना सुन्दर है :—

महासना वा साधारा देवभूपालकल्पने ।
मानज्ञेन स्थलज्ञेन स्थापितव्या शुभस्थले ॥
तद्युग्मकं वा पुरतो युग्मं विपरिवृत्तकम् ।
शालासु स्तम्भपालीसु सोपानेऽलिन्दशालके ॥
कूटे च नवरंगे च भौमकल्पनपालिषु ।
गोपुरद्वारभागेषु मण्डपस्थानभूमिषु ॥
प्राकारकुड्यभागेषु तटाकादिस्थलेष्वपि ।
द्वारपार्श्वे चत्वरान्ते देवगेहे विशेषतः ॥
भोज्यशालादिषु तथा शयनादिस्थलेषु च ।
कल्पनान्तरभागेषु प्रकल्प्या पोतिका क्रिया ॥

टि० जहां तक अन्य फर्नीचर जैसे—व्यजन, दर्पण, मञ्जूषा, दोला तथा तुला की बात है उनके विवरण विशेष आवश्यक नहीं है ।

पञ्जर—निम्न पशु-पक्षियों के लिये कल्प्य होते थे :—

मृग-नाभि	शुक	चाटक
चकोर	मराल	पारावत
नीलकण्ठ	कुञ्जरीय	खञ्जरीट
कुक्कुट	कुलाल	नकुल
गोधा	तित्तिर	व्याघ्र

तोरण :—वि० वा० शा० के अनुसार त्रिविध :—देव, भौप, मानुष

तोरण-क्रिया—बारटंक रन्ध्र-टंक भेद-टंक
पट्ट-टंक शिखान्वित लता-टंक

तोरण-विच्छित्ति— चूत-पत्रादि-रूप पक्षि-रूप
लता-रूप रेखा-रूप
लक्ष्म्यादि-रूप गोपुरादि-स्थलाकृति

वितान-शिल्प—वितान और लुमाएं दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । वितान २३ और लुमाएं ७ । इस शिल्प-विच्छित्ति पर हम अपने अध्ययन में

काफी प्रकाश डाल चुके हैं। यहां पर केवल उनकी पदावली अवतार्य है। यहां पर यह भी सूच्य है कि अपराजित-पृच्छा में वितान-वास्तु पर बड़ा ही प्रकृष्ट प्रतिपादन प्राप्त होता है। जिस प्रकार से शिखर प्रासाद की भूषा है, उसी प्रकार वितान सभाओं, मडपों, एवं राज-शालाओं की भूषा है। वहां पर वितानों का वर्ग त्रिविध परिकल्पित किया गया है :—

समतल क्षिप्त उत्क्षिप्त।

पुनः इनको शैलियों के अनुरूप निम्न शैलियों में विभाजित किया गया है :—

पद्मक नाभिच्छन्द सभामार्ग मन्दारक

पुनः इनको चार अवान्तर शैलियों में विभाजित किया गया है

शुद्ध संघाट भिन्न उद्भिन्न

मानकद ने इन सब को निम्न तालिका से ११११३ के कोडांक में विभाजित किया है। इन वितानों का विशेष सम्बन्ध 'अपराजित-पृच्छा' में मंडप-वास्तु से है और वह भी देवानुरूप वर्गीकृत किया गया है, परन्तु स० सू० की दृष्टि में यह वितान-वास्तु राज-भवनों की अभिख्या है, जो राज-प्रासाद-स्थापत्य में वितान-वास्तु (Dome Architecture) उस युग में अर्थात् ११वीं शताब्दी में पूर्ण पराकष्ठा को पहुंच चुका था। अतएव विस्तार में न जाकर इस ग्रन्थ की वितान-वास्तु की पदावली की तालिका ही विशेष प्रस्तोत्य है। पहले हम अ० पृ० की तालिका लेते है पुनः स० सू० की :—

अ० पृ०

भेद/संज्ञा	पद्मक	नाभि	सभामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
संघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८
टोटल	५००	३००	२००	११३

=कोडांक=१११३

स० सू०

लुमाय—सप्त

तुम्बिनी	मनोरमा	
लम्बिनी	शान्ता	आध्माता
हेला	कोला	

वितान—पञ्चविंशति

कोल	हंसपक्ष	मन्दारक
नयनोत्सव	कराल	कुमुद
कोलाविल	विकट	पद्म
हस्तितालु	शंखकुट्टिम	विकास
अष्टपत्र	शंखनाभि	गरुडप्रभ
शरावक	सपुष्प	पुरोहत
नागीवीथी	शुक्ति	पुरारोह
पुष्पक	वृत्ति	विद्युन्मन्दारक
भ्रमरावली		

संकीर्ण-भवन—यद्यपि यह निवेश एक-मात्र स्थापत्य-भूषा ही नहीं, वरन् यह पौरजानपदों के लिए न केवल शोभामात्र है नरन् ग्रामीणों के लिए बड़ा ही उपकारी है। यह भवन वास्तव में जन-भवन है। इन भवनों में अलिन्द अर्थात् कक्ष्याएं और शालाएं अनिवार्य निवेश हैं। इन दोनों में कम से कम २० खम्भे अवश्य होने चाहिए। इनका एक-मात्र प्रयोजन ग्रामीणों के मनोरंजन जैसे नाट्य, नृत्य, वादित्र के साथ-साथ विवाह आदि कार्यों के लिए ये विनिवेश्य विहित थे। आजकल जिस प्रकार धर्म-शालाओं में जनता अपने पास स्थानाभाव के कारण उनमें ये कार्य सम्पादन करती है, प्राचीन काल में यह सब राजाश्रय में विनिर्मित होता था। इन भवनों का बड़ा बोल-बाला था।

सबसे बड़ी स्थातत्या-विशेषता यह है कि इसमें लगभग २४ द्वार होने चाहिएं और तीन चार भूमियां भी होनी चाहिए, जिससे एक ही नहीं बल्कि बहुत से लोग इसका उपयोग कर सकें। यहां पर यह भी उद्घाट्य है कि वाणिज्य और कृषि आदि के लिए भी इन सदनों का उपयोग किया जाता था।

पताका—पताका से अर्थ वैजयंतिका है। पताका और **पारिभद्र** दोनों अन्योन्य-आश्रित हैं। पताका यथानाम पताका है और पारिभद्र उसका दण्ड है।

हमारे देश में शास्त्र-पारंगत मुनियों ने पताकाओं की इतनी विधाएं परिकल्पित की हैं, जिनको देखकर बड़ा आश्चर्य प्राप्त होता है और इनमें तक्षकों, चित्र-कारों, दारू-कारों सभी के कौशल दिखाई पड़ते हैं। निम्न तालिका प्रस्तुत है, जिसमें पताकाओं की संज्ञा और पारिभद्रों की क्रियाएं भी दूसरी तालिका में उद्धृत की जाती हैं :—

पताका-विधा—

मुख	प्रतिमुख	तोला	किंकिणी
रेखिका	छटा	पद्मका	कुमुदा
दीपा	बिन्दुका	झषसरूपा	नासिका
रूपिका	कम्पा	किरिकास्या	अञ्जना
गला	प्रस्तरा	वेशा	प्रपा
पर्यङ्किका	मृदङ्गिका	पटहा	काल्या
शौकी	छत्रा	वरासका	मध्यरेखा
मध्यतारा	प्रान्ततारा	सरन्ध्रका	दण्डिका
वलिका	क्षुभ्या	मारा	आन्धारिका
पुष्पा	फला	कुम्भा	दैवी
मानुषी	ऐरावता	कैलासा	शिखरा
विमानिका	रथिका	तुरगा	योधा
गजा	चन्द्र-भाकरा	अर्क-भाकरा	

पारिभद्र-क्रिया :—पारिभद्र-क्रिया-योजन-सम्भार :—

मिर्णिका	कुञ्चिका	शंकु
कीला	कील्या	कोलका
श्रंखला	तर्जनी	हस्ता
शंकुला	रन्ध्रिका	पट्टिका
पट्टका	पट्टी	बोधिका
बोधका	बुधा	धारिणी
धरणी	धारा	गलिका
कंठिका	गला	चित्रिका
अर्गला	वेशिनी	प्रवेशिका

राज - विलास

नाना यन्त्र

यन्त्र - विधान

टि० :–अपने अध्ययन के यन्त्र-प्रकरण में यन्त्रों के शास्त्रीय एवं अन्य विवरण पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं। यहां पर पदावली की दृष्टि (Terminologically) से अब हम केवल यह सब स्थापत्य-वैभव तालिका-बद्ध प्रस्तुत करना चाहते हैं।

यन्त्र-लक्षण—देखिए अनुवाद,

यन्त्र-बीज–पंच-विध,

क्षिति-पृथिवी	आप-जल	अनिल-वायु
अनल-अग्नि	वियत्-आकाश	

टि० वैसे तो हमारे भौतिक-शास्त्र के अनुसार यन्त्र-बीजों की विधा चतुर्धा है (क्षिति, आप्, अनिल तथा अनल), परन्तु इन सभी भूतों का आधार अर्थात् आश्रय वियत्-आकाश है, अतः आकाश भी पंचम भूत अनिवार्य है।

टि० ये पांचों बीज प्रधान बीज हैं। पुनः इनके अपने-अपने अन्य नाना उप-बीज भी माने गए हैं। पुनः ये प्रधान बीज एक-दूसरे के बीज-बीजक-भाव से भी स्वयं गतार्थ हो गए हैं। यही विवरण हमारे यांत्रिक विज्ञान का पोषण करता है। ये सब विवरण अनुवाद तथा मूल में द्रष्टव्य हैं, तथापि कुछ इनकी अपनी-अपनी तालिका यहां पर प्रस्तुत की जाती है :–

पार्थिव-बीज

कुड्यंकरण-सूत्र	भारगोलक-पीडन	लम्बन
लम्बकार	विविध चक्र	लोहा
तांब	पीतल	रांगा
संवित	प्रमर्दन	काष्ठ
चर्म	ऊर्द्धक	कर्तर
यष्टि	चक्र	भ्रमरक
श्रंगावली	बाण	

जलीय बीज—

ताप उत्तोजन स्तोभ क्षोभ

टि० ये आजकल जल से उत्पन्न विद्युत् के निर्देशक हैं। पुनः ये सब पार्थिव बीजों से अनिवार्य सम्बन्ध रखते हैं, पुनः निम्न तालिका भी देखिए :—

धारा, जलभार, जल की भंवर आदि भी—इस तथ्य के द्योतक हैं।

टि० और जो नाना बीज एवं उप-बीज—वे अनुवाद में परिशीलनीय हैं।

यन्त्र-वग :—

स्वयं-वाहक अन्तरित-बाह्य

सकृत्-प्रेर्य अदूर-बाह्य

टि० देखिए अनुवाद।

यन्त्र-प्रकार—वैसे तो यन्त्रों के प्रकार पर कोई विशेष वैज्ञानिक एवं परिमार्जित प्रतिपादन नहीं है,तथापि देखिए अध्ययन। हमने संस्कृत के पूरे वाङ्-मय के आलोडन के उपरान्त इस प्राचीन भारत विशेष कर पूर्व मध्य-भारत में जो नाना यन्त्र प्रचलित थे, उनको हमने 'निम्नलिखित अष्ट-विधा में विभाजित किया है, जो निम्न तालिका से दर्पणवत् स्पष्ट हैं। जहां तक विवरणों का प्रश्न है वे सब अनुवाद में द्रष्टव्य हैं :—

यन्त्र-विद्या—

आमोद-यन्त्र सेवा-यन्त्र रक्षा-यन्त्र

संग्राम-यन्त्र वारि-यन्त्र धारा-यन्त्र—फौहारे

टि० प्रथम जल-यन्त्र अर्थात् वारि-यन्त्र, कार्य-सिद्धि के लिए और दूसरा जल-यन्त्र अर्थात् धारा-यन्त्र क्रीडा-शोभा-आनन्द-विहार के लिए हैं।

दोला-यन्त्र यान-यन्त्र (विमान-यन्त्र)

आमोद-यन्त्र :—

नाडिका-प्रबोधन शय्या-प्रसर्पण

गोलक-भ्रमण नर्तकी-पुत्रिका हस्ति-यन्त्र

सेवा-यन्त्र—दासादि-परिजन-यन्त्र

सेवक-यंत्र सेविका-यंत्र

रक्षा-यन्त्र :–

द्वारपाल-यंत्र योध-यंत्र

संग्राम-यन्त्र :–

चाप ऊष्ट्र-ग्रीवा शतघ्नी सहस्रघ्नी

वारि-यन्त्र :–

पात-यंत्र पातसमोच्छ्राय-यंत्र

उच्छ्राय-यंत्र उच्छ्राय-समपात-यंत्र

धारा-यन्त्र :– धारा-गृह प्रणाल

प्रवर्षण जलमग्न नन्द्यावर्त

दोला यन्त्र :- वसन्त वसंत-तिलक

मदमोत्सव विभ्रमक त्रिपुर

यान-यन्त्र :–

व्योमचारि-विमान-यंत्र व्योमचारि-विहंगम-यंत्र

चित्र-काण्ड

१. चित्र-प्रशंसा;

२. चित्र-शास्त्रीय-ग्रंथ;

३. चित्रोद्देश;

४. चित्राङ्ग;

५. चित्र-विधा;

६. वर्तिका-बन्धन;

७. भूमि-बन्धन;

८. चित्र-प्रमाण—मानोत्पत्ति तथा अण्डक-वर्तन;

९. लेप्य-कर्म (कूर्चक आदि);

१०. चित्र-वर्ण-विन्यास—चित्र-वर्ण एवं वर्ण-प्रक्रिया (लेखनी, तूलिका आदि);

११. आलेख्य-रूढ़ियां;

१२. चित्र एवं काव्य तथा नाट्य, रस एवं ध्वनि;

१३. चित्र-शैलियाँ;

१४. चित्र-कार;

१५. चित्र-निदर्शन;

(अ) पुरातत्वीय;

(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-प्रशंसा :—

"चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्"

—स. स.

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ—

१. नग्नजित्-चित्रलक्षण;

२. नारद-शिल्प;

३. सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र;

४. भरत का नाट्य-शास्त्र (रस-प्रकरण में वर्णों के सम्बन्ध में विवेचन है);

५. विष्णु-महापुराण—परिशिष्टाङ्ग—विष्णुधर्मोत्तर—चित्रसूत्र;

६. समरांगण-सूत्रधार;

७. अपराजित-पृच्छा;

८. मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि);

९. शिल्प-रत्न;

१०. शिव-तत्व-रत्नाकर।

चित्रोद्देश (विषय एवं क्षत्र)—

टि० यहाँ पर अपराजित-पृच्छा और शिल्प-रत्न के निम्न प्रवचन अवश्य उद्धरणीय हैं :—

''कूपो जले जलं कूपे विधिपर्यायतस्तथा।
तद्विच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च॥'' अ०पृ०
''जंगमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते।'' शि०र०

चित्रांग—(अ) साध्य-दृष्टि-पुरस्सर—षडंग-चित्र :—

रूप-भेद	प्रमाण	लावण्य
भाव-योजन	सादृश्य	वर्णिका-भंग

(ब) साधन-पुरस्सर—अष्टांग—

१. वर्तिका (लेप्यकर्मोचित ब्रुश)

२. भूमि-बन्धन (Canvas or Back-ground)

३. लेख्य (Sketch)
४. रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of the form)
५. वर्ण-कर्म
६. वर्तना (Light and shade)

टि० सात और आठ गलित हैं—दे०स०सू० मूलम् ।

चित्र-विधा–(अ) वि०ध० :—

१. सत्य — २. वैणिक
३. नागर — ४. मिश्र

(ब) मानसो० :— १. विद्ध — २. अविद्ध
३. भाव — ४. रस — ५. धूलि

टि० इन सबकी व्याख्या अध्ययन में द्रष्टव्य है ।

वर्तिका-बन्धन–जिस प्रकार भूमि-बन्धन विहित है; उसके पहले वर्तिका-बन्धन आवश्यक है । आलेख्य-कर्म का प्रथम सोपान वर्तिका-बन्धन है । पुनः दूसरा सोपान भूमि-बन्धन है । तीसरा सोपान मानादि-प्रमाण एवं अण्डकादि-विन्यास-पुरस्सर-रेखा-कर्म है । अन्तिम सोपान वर्ण-विन्यास है, जो क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त के अनुकूल कान्ति-छाया-दीप्ति आदि सब विन्यासों का कौशल माना गया है ।

इस प्रकार चित्र-कर्म में चार प्रकार के ब्रुश या लेखनियां अनिवार्य बताई गई है :–

१. वर्तिका — २. तूलिका
३. लेखनी — ४. बिन्दु

टि० पहिली लेखनी अर्थात् वर्तिका जिसको हम आजकल की भाषा में (crayon) क्रेयोन के रूप में विभावित कर सकते हैं । उसका साक्षात्-सम्बन्ध भूमि-बन्धन (Background or Canvas) से है; पुनः तूलिका, लेखनी, बिन्दु आदि ये सब वर्ण-विन्यास में प्रयोग लाई जाती हैं ।

भूमि-बन्धन—

१. कुड्य-भूमि-बन्धन (Mural Background for wall-Paintings)
२. पट्ट-भूमि-बन्धन (Board Canvas for Portrait-Paintings)
३. पट-भूमि-बन्धन (Cloth Canvas)

चित्र-प्रमाण—यहां पर हम प्रमाण की केवल द्विविध तालिकायें प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि मानोत्पत्ति और अण्डक-प्रमाण ही विशेष यहां पर उपादेय हैं। वैसे तो जहां तक प्रतिमा-मान का प्रश्न है, उनमें पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण तथा ताल-मान के साथ-साथ मारीचि के वैखानसागम की दिशा से और भी सूक्ष्म प्रतिमा-मान स्थापत्य में अनिवार्य बताए गए हैं—जैसे मान, प्रमाण, उन्मान, उपमान तथा लम्बमान। इन सब पर हम आगे के काण्ड (प्रतिमा-काण्ड) में प्रस्तुत करेंगे। यहां चित्र-काण्ड का क्षेत्र चित्राभास अर्थात् आलेख्य-चित्र से सम्बद्ध है; अतः इस काण्ड में अन्य मान-योजना का अवतारण अनावश्यक है।

मानोत्पत्ति-तालिका—

१. परमाणु	२. त्र्यसरेणु	३. बालाग्र
४. लिक्षा	५. यूका	६. अंगुल
७. मात्रा	८. कला	९. भाग
१०. वितस्ति	११. ताल	

टि० जहां तक मान-सूत्र-तालिका का प्रश्न है, वह प्रतिमा-काण्ड में देंगे। यह तालिका अध्ययन में भी दी जा चुकी है।

अण्डक-मान-तालिका—

टि० जहां तक प्रमाण का प्रश्न है, वह अध्ययन में द्रष्टव्य है। यहां केवल पदावली ही प्रस्तोतव्य है :—

१. मनुष्याण्डक	२. वनिताण्डक	३. शिशुकाण्डक
४. राक्षसाण्डक	५. दिव्य-मानुषाण्डक	६. देवाण्डक
७. प्रमथाण्डक	८. यातुधानाण्डक	९. दानवाण्डक
१०. गन्धर्वाण्डक	११. नागाण्डक	१२. यक्षाण्डक
१३. विद्याधराण्डक		

रूप-तालिका :—

इसी स्तम्भ में रूप-तालिका भी अवतार्य है :—

देव—३. सुरज, कुम्भक, (तीसरा गलित);

दिव्य-मानुष—१.

असुर—३. चक्र, मुत तथा तीर्णक;

राक्षस—३. दुर्दर, शकट, कूर्म;

मानव—५. हंस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य ;

स्त्री—५. बलाका, पौरूषी, वृत्ता, दण्डा, (पांचवा गलित) ;

वामन—३. पिंड, स्थान, पद्मक ;

प्रमथ—३. कूष्माण्डक, कर्वट, तिर्यक् ;

गज—(अ) जन्माश्रय ४. भद्र, मन्द, मग, मिश्र ;

(ब) निवासाश्रय ३. पर्वताश्रय ऊषराश्रय नद्याश्रय

अश्व—२. पारस, उत्तर

सिंह—४. शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय

व्याल—१६. हरिण अजा गृध्रक
गज शुक क्रोड
कुक्कुट अश्व सिंह
महिष शार्दूल श्वान
मर्कट वृक खर

लेप्य-कर्म (कूर्चकादि)

टि०—जहां तक लेप्य के निर्माण की बात है, उसमें कोई विशेष पदावली नहीं है, परन्तु लेप्यकर्मोचित जिन लेप्य-कूर्चकों की समरांगण-सूत्रधार ने विधा बताई है, वह अवतरणीय है। अतः यह तालिका जैसी अध्ययन में दी गई हैं, वैसी ही बहुत उपयोगी समझकर यहां भी उद्धृत की जाती है। समरांगण-सूत्रधार ने इस लेप्यकर्मोचित लेखनी के लिए "विलेखा" की संज्ञा दी हैं और विलेखा ही ब्रुश है जिसको हम कूर्चक के नाम से पुकारते आए हैं। इन सबकी संज्ञाएं और आकार इस तालिका में विनिबद्ध है :—

संज्ञा	आकृति
१. कूर्चक	वटांकुराकार
२. हस्त-कूर्चक	अश्वत्थांकुराकार
३. भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४. चलल-कूर्चक	उदुम्बराकार

टि०—पांचवीं विधा 'वर्तनी' प्राप्त होती है जिसका लक्षण और विवरण भृष्ट एवं गलित है।

चित्र-वर्ण-विन्यास—यद्यपि यह स्तम्भ बड़ा ही प्रशस्त है, तथापि इसको भी हम यहां पर पदानुरूप ही विश्लेषित करेंगे।

वर्णकर्मोचित लेखनी :–

लेखिनी अथवा तूलिका—त्रिविधा

१.	स्थूला	लेपन	के लिये
२.	मध्या	अंकन	,,
३.	सूक्ष्मा	रेखन–(सूक्ष्मा-लेखा)	,,

वर्ण-भेद–मूलरंग अर्थात् शुद्ध वर्ण तथा मिश्र वर्ण अर्थात् अन्तरित रंग।

मूल-रंग—

(वि॰ध॰ तथा भ॰ना॰शा॰)	अभि॰ चि॰	शि॰ र॰
१. रक्त	शुभ्र	शुक्ल
२. शुभ्र	रक्त	रक्त
३. कृष्ण	हरित तथा	पीत
४. हरित	कृष्ण	कज्जल
५. पीत		नील
६. नील		

टि॰—जहां तक अन्तरित वर्णों का प्रश्न है, वे नाना-विध।

वर्ण-द्रव्य :—

सुधा	हिंगुल
सिन्दूर	नील
	हरिताल आदि आदि

वर्ण-विन्यास—में स्वर्ण-प्रयोग—

द्विविध :—

१. पत्र-विन्यास
२. रस-क्रिया

वर्तना—यह वर्ण-वर्तना क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त पर आश्रित है। यह वर्तना केवल छाया-कान्ति का ही मौलिमालायमान कौशल है, तथापि प्रमाण-प्रतिपालन भी वर्तना के ही परम कौशल हैं।

वि॰ ध॰ के अनुसार वर्तना त्रिविध है :—

१. पत्रजा (cross-lines)
२. ऐरिका (stumping)
३. बिन्दुजा (dots)

आलेख्य-रूढ़ियाँ—जहां तक प्रतीकात्मक रूढ़ियों का प्रश्न है, वहां पर विषयक पदावली प्राप्त नहीं होती है। हां वैषयिक पदावली तो है। इसका श्रेय वि०ध० को है। अर्थात् कौन से पुरुष—कौन से पदार्थ; कौन सी वस्तुएं; कौन सा वातावरण—किन-किन प्रतीकात्मक रूढ़ियों के द्वारा चित्र्य हैं, जिससे चित्र अपने आप चित्र्य का पूर्ण आभास प्रदान कर सके। अतः उपर्युक्त काण्ड विषयानुरूप हम इसकी संगति-प्रदर्शन-पुरस्सर वैषयिक तालिका उपस्थित करते हैं :—

ऋषि	देव	गन्धर्व
ब्राह्मण	अमात्य	होरा (ज्योतिषी)
राज-पुरोहित	दैत्य	दानव
गन्धर्व	विद्याधर	किन्नर
राक्षस	यक्ष	नाग
प्रमथ	गण	वेश्या
कुल-स्त्री	विधवा	कंचुकी
वैश्य	शूद्र	सेनापति
योद्धा	पदाति	धनुर्धर
अश्व	हस्तिपक	बन्दी
मागध	आह्वानक	दण्डधारी
प्रतीहार	वणिक	गायक
नर्तक	वाद्यक (अ)	पौरजानपद
कर्मकर	पहलवान	वृषभ
सिंह	सरिताएं	पर्वत
पृथ्वी	समुद्र	निदिवा
शंख	आकाश	दिवा
वन	जल	नगर
ग्राम	दुर्ग	आपण-भूमि
आपान-भूमि	जुआरी	युद्ध-क्षेत्र
श्मशान,	मार्ग	निशा
उषा	दिवस	संध्या
अन्धेरा	चांदनी	सूर्य

वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा
शरद्	हेमन्त	शिशिर

चित्र-रस एवं रस-दृष्टियां—

जहां तक चित्र-कला, काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वह पदानुरूप विवेच्य नहीं; अतः वह अनुवाद में द्रष्टव्य है। यहां पर केवल रसों और रस-दृष्टियों की तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

एकादश चित्र-रस

शृंगार	हास्य
करुण	रौद्र
प्रेमा	गलित
वीर	भयानक
अद्भुत	बीभत्स
	शान्त

अष्टादश रस-दृष्टियां—

ललिता	योगिनी
हृष्टा	दीना
विकसिता	दृष्टा
विकृता	विह्वला
भृकुटी	शंकिता
विभ्रमा	कुंचिता
संकुचिता	जिह्मा
(गलित)	मध्यस्था
ऊर्ध्वगता	शान्ता

चित्र-शैलियां—चित्रों की शैलियों पर अपराजित-पृच्छा को छोड़कर अन्य किसी शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थ में यह विवरण अप्राप्य है। चित्रों की चित्र-रचना में जो पत्र और कंटक आगे चलकर प्राकृतिक वातावरण की प्रोज्ज्वलता के लिए अनिवार्य माने गए हैं, उन्हीं पर जो नई शैलियों विकसित हुईं, वे इन्हीं पत्रों और कंटकों के आधार पर अनुमेय हैं। अपराजित-पृच्छा में चित्र-शैलियों की षड्विधा दी गई है, जो निम्न तालिका प्रस्तुत करती है :—

(अ) पत्रानुरूप षड्-विध :—

नागर	वेसर
द्राविड	कालिंग
व्यन्तर	यामुन

(ब) कंटकानुरूप अष्ट-विध :—

कलि	व्यावर्त
कलिक	व्यावृत्त
व्यामिश्र	सुभंग
चित्र-कौशल	भंगचित्रक

चित्र-कार—

१. चित्र-लेखा—सर्व-प्राचीन चित्रकार है—देखिए वि०ध०

२. नारायण—देखिए वि०ध० ;

३. नग्नजित्—देखिए वि०ध० ;

४. सोमेश्वरदेव दे० अभि० चि० ।

जहां तक अन्य चित्रकारों की बात है वह विशेष प्रस्तोत्य नहीं ।

चित्र-निदर्शन—चित्रों के निदर्शन हमारे देश में संख्यातीत हैं । हम केवल क्षेत्रों और पीठों पर ही थोड़ा-सा पदानुरूप प्रस्तुत कर सकते हैं :—

अ—क्षेत्र उत्तरीय, दक्षिणीय, मध्यदेशीय, पूर्वीय (बंगाल) पश्चिमीय (पंजाब तथा राजस्थान) ।

ब—पीठ अजन्ता, सिगरिया, सित्तलवसल, सुरगुजा ।

प्रतिमा-काण्ड

१. प्रतिमा-कला की पृष्ठ-भूमि—देव-पूजा
२. प्रतिमा-स्थापत्य पर शास्त्रीय ग्रन्थ
३. प्रतिमा-प्रकार
४. प्रतिमा-निवेश एवं प्रतिमा-मान तथा प्रतिमा-दोष-गुण
५. प्रतिमा-द्रव्य
६. प्रतिमा-रूप-संयोग एवं प्रतिमा-मुद्रा
७. प्रतिमा-वर्ग

(अ) ब्राह्मण-प्रतिमा

१. ब्राह्म एवं त्रिमूर्ति　　२. वैष्णव
३. शैव　　४. शाक्त
५. गाणपत्य　　६. सौर
७. यक्ष-विधाधर-वसु-मरूद्गण-पितृगण-मुनिगण-ऋषिगण-भक्त

(ब) बौद्ध-प्रतिमा

१. पृष्ठ-भूमि—ऐतिहासिक बौद्ध-धर्म में विकसित सम्प्रदाय।
२. साधारण-बुद्ध-प्रतिमा
३. विशिष्ट प्रतिमाएं—वज्रयानी प्रतिमाय—चतुर्दश विधा

(स) जैन-प्रतिमा

१. पृष्ठ-भूमि-जन—सम्प्रदाय
२. अर्च्य देव एवं देवियां
३. जैन-पीठ
४. तीर्थङ्कर
५. चौमुखव
६. यक्ष एवं यक्षिणियां
७. श्रुत-देवियां—विद्या-देवियां
८. अन्य प्रतिमायें—योगिनियां
९. दिग्पालादि।

प्रतिमा-कला की पृष्ठ-भूमि—विस्तृत विवरणों के लिए दे० मेरा 'प्रतिमा-विज्ञान' विशेषकर दशाध्यायी—पूर्व-पीठिका। यहां पर केवल इतना ही सूच्य है कि प्रतिमा-स्थापत्य का जन्म, विकास एवं प्रोल्लास नाना भक्ति-सम्प्रदायों—जैसे शैव, वैष्णव, स्मार्त, (पञ्चायतन-परम्परा), शाक्त (महालक्ष्मी महाकाली, महासरस्वती—इन अधिष्ठातृ देवियों के आधार पर), गाणपत्य (कार्तिकेय एवं गणेश की पूजा पर), सौर, (सूर्य एवं नवग्रहो के आधार पर), एवं पुनः ब्राह्मणेतर धार्मिक सम्प्रदायों जैसे बौद्ध एवं जैन इन व्यापक एवं प्रवृद्ध अवान्तर भक्ति-सम्प्रदायों ने भी प्रतिमा-कला को महान् प्रकर्ष प्रदान किया। कितने शिव-पीठ, कितने शक्ति-पीठ, कितने विष्णु-पीठ तथा मन्दिर, प्रासाद, विमान, आयतन आदि निर्मित हुए, कितने तीर्थ स्थापित हुए, कितने आश्रम उदित हुए, कितनी पुण्य-स्थलियां पनपीं (दे० त्रि-स्थली), कितनी पवित्र नगरियां, कितने पावन धाम तथा मठ आदि आदि पनपे ? इन सबमें मुख्य देवों के अतिरिक्त नाना परिवार-देवों की स्थापना पुनः सम्प्रदायानुरूप, दर्शनानुरूप, रूप-प्रतिरूप-लाञ्छनादि-पुरस्सर अगणित प्रतिमायें प्रकल्पित हुईं। अतः यहां पर इस पृष्ठ-भूमि की विशेष समीक्षा नहीं करते वह तो वहीं मेरे इस उपर्युक्त ग्रंथ—प्रतिमा-विज्ञान—में परिशीलनीय है। यहां पर केवल इस पृष्ठ-भूमि को प्रतिमा-विज्ञान की पूर्व-पीठिकानुरूप यहां केवल यह सब तालिका-वद्ध करना ही विशेष संगत एवं समीचीन है। एक विशेष सूच्य यह है कि यह पृष्ठ-भूमि ब्राह्मण-प्रतिमा-स्थापत्य की पृष्ठ-भूमि सर्वसाधारणी समझें।

पूजा-परम्परा—

(अ) देव-यज्ञ (इष्टि)

(ब) देव-पूजा (पूर्त)

पूजा-परम्परा के प्राचीन प्रतीक—

अ—वृक्ष-पूजा
ब—नदी-पूजा
स—पर्वत-पूजा
य—धेनु-पूजा (पशु-पूजा)

र—पक्षि-पूजा

ल—यन्त्र-पूजा

पूजा-परम्परा के प्रामाण्य—

(अ) साहित्यिक— ऋग्वेद—दे० मूरदेव, शिश्नदेव आदि; यजुर्वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदादि; सूत्र-साहित्य; स्मृति-साहित्य; प्राचीन व्याकरण-साहित्य–पाणिनि, पतंजलि; अर्थशास्त्र; रामायण एवं महाभारत।

(ब) पुरातत्वीय :—

(i) मोहनजोदाड़ो—पशुपति शिव, देवी शाकम्भरी आदि—नाना देव एव देवियां;

(ii) शिला-लेख—घोषाण्डी, बेसनगर, मोरावेल;

(iii) सिक्के—सगजा एवं अगजा लक्ष्मी, शिव, वासुदेव, दुर्गा, सूर्य, स्कन्द कार्तिकेय, इन्द्र तथा अग्नि, नाग-नागिनियां, यक्ष एव यक्षिणियां—ये सब बसरा, भीटा, राजघाट आदि के अन्वेषणों में प्राप्य हैं।

अर्चा अर्च्य एवं अर्चक—वैष्णव धर्म—

(अ) उपोद्घात—अर्चा के विभिन्न सोपानों में भक्ति का उदय,

(ब) पंचायतन-परम्परा,

(स) वैष्णव-धर्म :—

वासुदेव-कृष्ण

विष्णु-अवतार-दशावतार

वैदिक विष्णु (विष्णु वासुदेव)

नारायण-वासुदेव।

वैष्णवाचार्य—दक्षिणी :—

अ	ब
आलवार	आचार्य
सरोयोगिनादि १२	रामानुज, माधव आदि

वैष्णवाचार्य—उत्तरी :—

निम्बार्क	दादू
रामानन्द	तुलसीदास

कबीर
अन्य रामानन्दी
चैतन्य
वल्लभ

राधोपसना—

मराठा देश के वैष्णवाचार्य —नामदेव तथा तुकाराम।

अर्चा अर्च्य एवं अर्चक —शैव-धर्म—

द्वादश ज्योतिर्लिंगादि,
रूद्र-शिव की वैदिक पृष्ठ-भूमि—दे० यजुर्वेद की रूद्राध्यायी,
रूद्र-शिव की उत्तर-वैदिक-कालीन पृष्ठ-भूमि—दे० उपनिषद्,
लिंगोपासना,
शैव-सम्प्रदायों का आविर्भाव,
तामिली शैव, शैवाचार्य, शैव दीक्षा,
पाशुपत-सम्प्रदाय,
कापालि एवं कालमुख,
लिंगायत (वीरशैव),
काश्मीर का त्रिक-प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय एवं दर्शन,

शैव दर्शन की आठ शाखाएं :—

१. पाशुपत-द्वैतवाद;
२. सिद्धान्तशैव-द्वैतवाद;
३. नकुलीश-पाशुपात-द्वैताद्वैतवाद;
४. विशिष्टाद्वैतवाद;
५. वीर-शैवों का विशेषाद्वैतवाद;
६. नन्दिकेश्वर का शैव-दर्शन;
७. रसेश्वर-शैव-दर्शन;
८. काश्मीर का अद्वैत-शैव-दर्शन।

अर्चा अर्च्य एक अर्चक—शाक्त, गणपत्य एवं सौर धम—

शाक्त धर्म एवं सम्प्रदाय—
तन्त्र, आगम, शैव-सम्प्रदाय, शाक्त-तन्त्र,

शाक्त तन्त्र, तान्त्रिक भाव तथा आचार—कौल, कौल-सम्प्रदाय, कुलाचार, समयाचार, शाक्त-तन्त्र की व्यापकता, शाक्त-तन्त्र की वैदिक पृष्ठ-भूमि—शाक्त-तन्त्रों की परम्परा, शाक्तों का अर्च्य, शाक्तों की देवी के उदय का ऐतिहासिक विहंगावलोकन—भगवती दुर्गा के उदय की पांच परम्परायें, शाक्तों की देवी विराट-स्वरूपा-महालक्ष्मी की तीनों शक्तियों से आविर्भूत देव एवं देवियां, देवी-पूजा; **गणपत्य-सम्प्रदाय**—ऐतिहासिक समीक्षा—गणपति, विनायक, विघ्नेश्वर, गणेश आदि—सम्प्रदाय :-

महागणपति-पूजक-सम्प्रदाय	नवनीत-गणपति-पूजक-सम्प्रदाय
हरिद्रा-गणपति ,, ,,	स्वर्ण-गणपति ,, ,,
उच्छिष्टगणपति ,, ,,	सन्तान-गणपति ,, ,,

सौर-धर्म

अ देशी ६ श्रेणियां दे० प्र०वि० पृष्ठ १२६

ब विदेशी दे० प्र०वि०

प्रतिमा स्थापत्य पर शास्त्रीय ग्रन्थ—

पुराण—मत्स्य, अग्नि, विष्णु;

आगम—कामिक, कर्ण, सुप्रभेद, वैखानस, अंशुमद्भेद आदि;

तन्त्र-हयशीर्ष और नाना तन्त्र दे० (Vastusastra Vol. II)

दे० मेरी कृति-वास्तु-शास्त्र वोल्यूम सेकेन्ड

शिल्प-प्रमुख-ग्रन्थ :-

दक्षिणी	**उत्तरी**
मयमत	विश्वकर्म-प्रकाश
मानसार	विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र
काश्यपीय	समरागंण-सूत्रधार
अगस्त्य-सकलाधिकार	अपराजित-पृच्छा
शिल्प-रत्न	रूप-मण्डन

प्रतिमा-प्रकार

टि०—प्रतिमा-प्रकार द्रव्यानुरूप तो शास्त्रीय दृष्टि से संयत एवं वैज्ञानिक

हैं; परन्तु स्थापत्यानुरूप अथवा निदर्शनानुरूप जो आधुनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रतिमाओं की विधा पर कुछ प्रकाश डाला है, वह दोष-युक्त है—कहीं अतिव्याप्ति-दोष, कहीं अव्याप्ति-दोष। अस्तु—यह सब समीक्षा हमारे प्रतिमा-विज्ञान में द्रष्टव्य है। यहां पर हम पाठकों के सम्मुख नाना आकृतों के अनुसार पदावली-पुरस्सर तालिकायें प्रस्तुत करते हैं :—

(अ) केन्द्रानुरूपी :—

१. गान्धार-प्रतिमायें २. मगध-प्रतिमायें

३. नैपाली-प्रतिमायें ४. तिब्बती (महाचीनी) प्रतिमायें

५. द्राविडी-प्रतिमायें ६. मथुरा की प्रतिमायें

(ब) धर्मानुरूपी :—

१. वैदिक २. पौराणिक ३. तान्त्रिक

धर्म-सम्प्रदायानुरूपी—

१. ब्राह्मण-प्रतिमायें अ पौराणिक एवं ब तान्त्रिक

२. बौद्ध-प्रतिमायें अ पौराणिक एवं ब तान्त्रिक

३. जैन-प्रतिमायें अ पौराणिक एवं ब तान्त्रिक

(स) १. चल तथा अचल

२. पूर्ण तथा अपूर्ण

३. शान्त तथा अशान्त
(सौम्य) (उग्र)

टि०—भृगु-वैखानसागम के अनुसार चला एवं अचला इन दोनों को निम्न तालिका में वर्गीकृत किया गया है—

चला-प्रतिमायें—

१. कौतुक-बेर—पूजार्थ;

२. उत्सव-बेर—उत्सवार्थ—पर्व-विशेष पर बाहर ले जाने के लिए;

३. बलि-बेर—दैनिक उपाचारात्मक पूजा में उपहारार्थ;

४. स्नपन-बेर—स्नानार्थ।

अचला प्रतिमायें—ध्रुव-बेर 'बेर' का अर्थ प्रतिमा है :—

१. स्थानक—खड़ी हुई;

२. आसन—बैठी हुई;

३. शयन—विश्राम करती हुई।

टि०—ये अचला प्रतिमायें मूल-विग्रह अथवा "ध्रुव-बेर" की संज्ञा से संकीर्तित हैं। ये प्रासाद-गर्भ में स्थाप्य हैं, अतः सदैव यथास्थान स्थापित एवं प्रतिष्ठित रहती हैं।

टि०—२. इस वर्गीकरण का आधार देह-मुद्रा (posture) है।

टि०—३. इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता यह है कि केवल वैष्णव प्रतिमायें हीं इन मुद्राओं में विभाजित की जा सकती हैं, अन्य देवों की नहीं। शयन-देह-मुद्रा विष्णु को छोड़कर अन्य किसी देव के लिए परिकल्प्य नहीं। अथच, वैष्णव-प्रतिमाओं के इस वर्गीकरण में निम्नलिखित उप-वर्ग भी आपतित होते हैं :—

१. योग २. भोग ३. वीर ४. अभिचार।

प्रथम प्रकार अर्थात् योग-मूर्तियों की उपासना आध्यात्मिक निःश्रेयस-प्राप्त्यर्थ; भोग मूर्तियों की उपासना ऐहिक-अभ्युदय-निष्पादनार्थ; वीर मूर्तियों की अर्चा राजन्यों-शूर-वीर-योद्धाओं के लिए प्रभु-शक्ति तथा सैन्य-शक्ति की उपलब्ध्यर्थ एवं आभिचारिक-मूर्तियों की उपासना आभिचारिक कृत्यों—जैसे शत्रु-मारण, प्रति-द्वन्द्वादि-पराजय-आदि के लिए विहित हैं। आभिचारिक-मूर्तियों के सम्बन्ध में शास्त्र का यह भी आदेश है कि इनकी प्रतिष्ठा नगर के अभ्यन्तर नहीं ठीक है। बाहर पर्वतों, अरण्यों तथा इसी प्रकार के निर्जन प्रदेशों पर इनकी स्थापना विहित है। इस प्रकार अचला प्रतिमाओं—ध्रुव-बेरों की निम्न द्वादश श्रेणियां संघटित होती हैं—

१. योग-स्थानक	५. योगासन	९. योग-शयन
२. भोग-स्थानक	६. भोगासन	१०. भोग-शयन
३. वीर-स्थानक	७. वीरासन	११. वीर-शयन
४. आभिचारिक-स्थानक	८. आभिचारिकासन	१२. आभिचारिक-शयन

पूर्णापूर्ण-प्रतिमायें—इस वर्ग के भी तीन अवान्तर भेद हैं अर्थात् प्रथम वे मूर्तियां, जिनकी आकृति के पूर्णावयवों की विरचना की गयी है; दूसरी जिनकी अर्ध कल्पना ही अभीष्ट है; तीसरी जिनका आकार क्या है—इसकी व्यक्ति न हो—प्रतीक-मात्र। प्रथम को व्यक्त (manifest) कहते हैं—fully sculptured in the round); दूसरी को व्यक्ताव्यक्त (manifest and non-manifest) कहते हैं। इसके निदर्शन में मुख-लिंग-प्रतिमाओं एवं त्रिमूर्ति-प्रतिमाओं (दे० एलीफेन्टा की त्रिमूर्ति-प्रतिमा) का समावेश है। लिंग-मूर्तियां, वाण-लिंग, शालग्राम आदि तीरी कोटि अर्थात् अव्यक्त (प्रतीक-मात्र) प्रतिमाओं के निदर्शन हैं।

इसी वर्ग के सदृश प्रतिमाओं का एक दूसरा वर्ग भी दृष्टव्य हैं :-

१. चित्र—वे प्रतिमायें जो साँगोपांग व्यक्त हैं;
२. चित्रार्ध—वे जो अर्ध-व्यक्त हैं ;
३. चित्राभास से तात्पर्य चित्रजा प्रतिमाओं painting से है।

शान्ताशान्त-प्रतिमायें :—

इन प्रतिमाओं का आधार भाव है। कुछ प्रतिमायें रौद्र अथवा उग्र चित्रित की जाती हैं और शेष शान्त अथवा सौम्य। शान्ति-पूर्ण उद्देश्यों के लिए शान्त-प्रतिमाओं की पूजा का विधान है; इसके विपरीत आभिचारिक, मारण, उच्चाटन आदि के लिए उग्र प्रतिमाओं की पूजा का विधान है। अशान्त (ऊग्र) मूर्तियों के चित्रण में उनके भयावह—तीक्ष्ण-नख, दीर्घ-दन्त, बहु-भुज, अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित, मुण्डमाला-विभूषित, रक्ताभ-स्फुलिंगोज्ज्वल नेत्र प्रदर्शित किये जाते हैं।

वैष्णव एवं शैव दोनों प्रकार की मूर्तियों के निम्न स्वरूप अशान्त प्रभेद के निदर्शन हैं –

वैष्णव—विश्व-रूप, नृसिंह, वटपत्र-शायी, परशुराम आदि।

शैव—कामारि, गजहा, त्रिपुरान्तक, यमारि आदि।

यह तो जैसी अभी तक प्राप्त सामग्री है, उसके अनुसार हमने पाठकों के ज्ञानार्थ ये सब तालिकायें प्रस्तुत की हैं, अब हमने अपने अध्ययन, गवेषण, अन्वेषण एवं अनुसन्धान से जो निष्कर्ष निकाला है, उसके अनुसार प्रतिमा-वर्गीकरण निम्न

स्तम्भों के अनुसार परिकल्प्य हैं—

१. धर्मानुरूप
२. देवानुरूप
३. द्रव्यानुरूप
४. शास्त्रानुरूप तथा
५. शैल्यनुरूप

१. **धर्म**—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन

२. **देव**—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, सौर तथा गाणपत्य;

टि०—अन्य देवों एवं देवियों तथा यक्षादि गणों की सभी प्रतिमायें इन्हीं में गतार्थ हैं क्योंकि वे सब परिवार हैं।

३. **द्रव्य**

१. मृण्मयी २. शिलामयी ३. दारूजा
४. धातुजा या पाकजा—काञ्चनी, राजती, ताम्री, रैतिका, लोहजा आदि;
५. रत्नोद्भवा ६. लेप्या
७. चित्रजा ८. मिश्रजा

४. **शास्त्र**

१. पौराणिक
२. आगमिक
३. तान्त्रिक
४. शिल्प-शास्त्रीय
५. मिश्रित

५. **शैलियां**

१. नागर	४. लाट	८. नेपाल
२. द्राविड	५. वावाट	९. मथुरा
३. वेसर	६. भूमिज	१०. तिब्बतती (महाचीनी)
	७. गान्धार	११. द्वीपान्तर भारत

प्रतिमा-निवेश (Iconometry) तथा

प्रतिमा-गुण-दोष

टि०—चित्र अर्थात् प्रतिमा के मान पर पीछे चित्र-काण्ड में सामान्य

मानों एवं अण्डक-प्रमाणों पर कुछ संकेत कर ही चुके हैं — यहां पर पाषाणी प्रतिमा के अनुकूल जो मान शास्त्र में निर्धारित किये गये हैं उनकी तालिका यहां पर प्रस्तोत्य है :—

पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण

टि०—देव-प्रतिमा मानवानुरुप—महापुरुष, राजे-महाराजे;
देवी-प्रतिमा स्त्र्यनुरुप—कृशांगी, स्थूला बाल्या आदि ।

पंच-पुरुष-संज्ञा	**प्रमाण**	
	स० सू०	**बृ० सं०**
हंस	८८ अंगुल	९६ अंगुल
शश	९० अंगुल	९९ अंगुल
रूचक	९२ अंगुल	१०२ अंगुल
भद्र	९४ अंगुल	१०५ अंगुल
मालव्य	९६ अंगुल	१०८ अंगुल

पंच-स्त्री—	वृत्ता	पौरुषी	———
	बलाका	दण्डा	

टि०—इनके प्रमाणों पर संकेत नहीं । यहां इतना ही सूच्य है कि स्त्री-प्रमाण पुरुष से न्यून अर्थात् पुरुष के स्कन्ध से ऊपर इनका मान नहीं जाना चाहिए ।

समरांगण-सूत्रधार के अनुसार स्त्री-प्रतिमा का वक्ष २८ तथा कटि २४ अंगुलों में प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है ।

प्रतिमा में मान दो प्रकार के है—एक अंगुल-मान, दूसरा ताल–मान । इनके भी उपवर्ग है—स्वाश्रय अर्थात् Absolute तथा सहायक अर्थात् Relative । प्रथम का आधार कतिपय प्राकृतिक पदार्थों Natural objects की लम्बाई है और दूसरा मेय प्रतिमा के अंग-विशेष अथवा अवयव-विशेष पर आधारित रहता है । प्रथम की तालिका परमाणु-रज-रोम आदि को हम पीछे चित्र-काण्ड में प्रस्तुत कर ही चुके हैं । इसका दूसरा वर्ग भवन-निवेश से सम्बन्धित है जैसे किष्कु, प्राजापत्य (दण्ड) आदि आदि, उनकी अवतारणों यहां आवश्यक नहीं । अब आइये सहायक-मान-पद्धति पर, उसमें मात्रांगुल एव

देहांगुल की परम्परा प्रचलित है।

मात्रांगुल—प्रतिमा-कार स्थपति (तक्षक) अथवा प्रतिका-कारक यजमान की मध्यमा अंगुलि का मध्य पर्व है।

देहांगुल—मेय प्रतिमा के सम्पूर्ण कलेवर को १२४, १२० अथवा ११६ सम भागों में विभाजन से प्राप्त होता है। प्रत्येक भाग को देहलब्धांगुल कहते हैं।

देहांगुल-तालिका—

१	अंगुल अवकाश	मूर्ति, इन्दु, विश्वम्भरा, मोक्ष, तथा उक्त;
२	,,	कला, गोलक, अश्विनी युग्म, ब्राह्मण, विहग, अक्षि तथा पक्ष;
३	,,	ऋण, अग्नि, रुद्राक्ष, गुण, काल, शूल, राम, वर्ग तथा मध्या;
४	,,	वेद, प्रतिष्ठा, जाति, वर्ण, कर्ण (करण), अब्जानन, युग, तुर्य तथा तुरीय;
५	,,	विषय, इन्द्रिय, भूत, इषु, सुप्रतिष्ठा तथा पृथ्वी;
६	,,	कर्म, अंग, रस, समय, गायत्री, कृत्तिका, कुमारानन, कौशिक तथा ऋतु;
७	,,	पाताल. मुनि, धातु, लोक, उष्णिक, रोहिणी, द्वीप, अंग, अम्बोनिधि;
८	,,	लाकपाल, नाग, उरग, बसु, अनुष्टुप तथा गण;
९	,,	बृहती, गृह, रन्ध्र, नन्द, सूत्र;
१०	,,	दिक्; प्रादुर्भावा, नाडि तथा पंक्ति;
११	,,	रुद्र तथा त्रिष्टुप;
१२	,,	वितस्ति, मुख, ताल, यम, अर्क, राशि तथा जगती;
१३	,,	अतिजगती;
१४	,,	मनु तथा शक्वरी;
१५	,,	अतिशक्वरी तथा तिथि;
१६	,,	क्रिया, अष्टि, इन्दु, कला;
१७	,,	अत्यष्टि;

१८ ,, स्मृति तथा धृति;
१९ ,, अतिधृति;
२० ,, कृति;
२१ ,, प्रकृति;
२२ ,, आकृति;
२३ ,, विकृति;
२४ ,, संस्कृति;
२५ ,, अतिकृति;
२६ ,, उत्कृति;
२७ ,, नक्षत्र ।

मान-तालिका—षड्वर्गीय—

१. मान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की लम्बाई (Length)
२ प्रमाण से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की चौड़ाई (Breadth)
३. उन्मान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की मोटाई (Thickness)
४. परिमाण से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर का परीणाह (Girth)
५. उपमान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर के दो अवययों जैसे पैरों के अन्तरावकाश (Interspaces)
६. लम्बमान से तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की प्रलम्ब रेखाओं (Plumb Lines) से है ।

ताल-मान—आगमिकः—

ताल	देव
उत्तम दशताल	ब्रह्मा, विष्णु, शिव की मूर्तियां;
अधम दशताल	श्री देवी, भू-देवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्तमातृका, उषा
मध्यम दशताल	इन्द्रादि-लोकपाल, चन्द्र-सूर्य, द्वादश-आदित्य, एकादश-रूद्र, अस्टवसु-गण, कश्विनी, भृगु तथा मार्कंडेय, गरूड़, शेष, दुर्गा, गुह (सुब्राह्मण्य) सप्तर्षि, गुरु (बृहस्पति), आर्य, चण्देश तथा क्षेत्र-पाल;
नवार्ध ताल	कुबेर तथा नव-ग्रह आदि;
उत्तम नवताल	दैत्य, यक्षेश, उरगेश, सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्येश तथा शिव की मूर्तियां;
सत्र्यङ्गुल	पूत महापुरूष (देवरत्व-मनुज);

नवताल	राक्षस, असुर, यक्ष, अप्सरायें, अस्त्र-मूर्तियां, और मरूद्-गण;
अष्टताल	मानव;
सप्तताल	वेताल, प्रेत;
षट्ताल	प्रेत;
पञ्चताल	कुब्ज तथा विघ्नेश्वर;
चतुस्ताल	वामन और बच्चे;
त्रिताल	भूत और किन्नर;
द्विताल	कूष्माण्ड;
एकताल	कवन्ध।

टि०—ताल-मान में प्रयुक्त विभिन्न सूत्रों का संकेत भी आवश्यक है, जो हमने मानसोल्लास की दिशा में अपने "अध्ययन" खण्ड में प्रस्तुत की हैं वह वहीं दृष्टव्य हैं; पुनरावृत्ति ठीक नहीं।

अस्तु, इस स्तम्भ में यहां समरांगण की प्रतिमा-मान-पद्धति की तालिका पदावली-क्रम से (Terminologically) अवश्य अवतार्थ हैं :—

अंग	उपांग-प्रत्यंग	प्रमाण
(i) श्रवण	नेत्र-श्रवण-मध्य	५ अंगु०
	नेत्र और श्रवण—सम	उत्सेध से द्विगुणायत
	कर्ण-पिप्पली	१ अं० ४ य०

पिप्पली और आघात के बीच का लकार आया० $\frac{1}{2}$ अं०, विस्ताद १अं०, मध्य की गहराई ४ यव

पिप्पली के मूल पर श्रोत्र-छिद्र	४ य०
स्तूतिका	$\frac{1}{2}$ अं० आया०, $\frac{1}{2}$ अं० वि०
पीयूषी (लकारावर्त-मध्या)	२ अं० आया०, $\frac{1}{2}$ अं० वि०
आवर्त (कर्ण-बाह्य-रेखा)	६ अं० (वक्र और वृत्तायत)
मूलांश (श्रोत्र-मूल-अवकाश)	१।२ अं० परिणाह (Girth)
,, ,, मध्यावकाश	२ य० परिणाह ,,
,, ,, तदग्रे	१ य० परिणाह ,,
उद्घात (लकारावर्तमध्य ?)	
(पीयूषी के अधोभाग पर)	३ य० ,, ,,

कर्ण का ऊपरी विस्तार	१ गोलक २ य०
,, ,, मध्य ,,	नाल का दुगना
,, ,, मूल ,,	६ मात्रा
पूरा का पूरा	२ गोल का परिणाह
नाल (पश्चिम)	१ अं० का परिणाह
नाल (पूर्व)	$\frac{1}{2}$ अं० का परि०
२ कोमल नाल	१ कला का परि०
(ii) चिबकु	२ अंगुल लम्बा
अधरोष्ठ	१ अं० लम्बा
उत्तरोष्ठ	१।२ अंगुल लम्बा
भाजी	१।२ अंगुल (ऊंचाई)
(iii) नासिका—	४ अंगुल लम्बाई
२ नासिका-पुट-प्रान्त	२ अं० लम्बाई
२ नासा-पुट	ओष्ठ के प्रमाण का चौथा
नासा-पुट-प्रान्त	करवीरसम ?
(iv) ललाट	८ अंगुल विस्तत ४ अं० आयत

टि०—१. इस प्रकार चिबुक से केशान्त मान २२ अंगुल होता है।

टि०—२. आगे का पाठ भ्रष्ठ होने से १८ अंगुल किस का प्रमाण है—पता नहीं। ग्रीवा का परीणाह २४ अंगुल प्रतिपादित है। जहां तक वक्ष एवं नाभि के प्रमाण का प्रश्न है, वह ग्रीवा-प्रमाण से अनुगत है। इसी प्रकार मेढ़ का मान नाभि के मान के दो भागों से परिकल्पित है और उरू तथा जंघाओं का मान समान माना गया है। दोनों जानुओं का मान ४ अंगुल बताया गय है।

—स० सू० ७६. २७-२६

(v) पाद	१४ अं० लम्बे, ६ अं० चौड़े और ४ अं० ऊंचे
पादांगुष्ठ	(५ अं० परीणाह, ३ अं० लम्बे) और १ अं० ३ य० ऊंचे)
पाद-प्रदेशिनी	५ अं० परी०, ३ अं० आयत
पाद-मध्यमांगुलि	—

पाद-अनामिका	मध्यमा के प्रमाण में १।२ कम
पाद-कनिष्ठा	अनामिका के प्रमाण में १।२ क।
अंगुष्ठ-नख	३।४ अंगुल
अंगुलि-नख	३।५ अं०
(vi) जंघा-मध्य-परीणाह	१८ अंगुल
(vii) जानु-मध्य-परीणाह	२१ अगुल
जानुकपाल	जानु का १।७ परीणाह
(viii) ऊरू-मध्य-परीणाह	३२ अंगुल
(ix) वृषण (scrotums)	
मेढ्र (वृषण-संस्थित)	६ अंगुल-परीणाह
कोश	४ अंगुल
(x) कटि	१८ अंगुल
(xi) नाभि-मध्य परीणाह	४६ अंगुल
(xii) २ स्तनों का अन्तर	१२ अंगुल
(xiii) २ कक्ष-प्रान्त	६ अंगुल लम्बे
(xiv) पृष्ठ-विस्तार	२४ अंगुल
पृष्ठ-परीणाह	वक्ष-सम
(xv) ग्रीवा	६ अंगुल
(xvi) भुजायाम	४६ अंगुल
दोनों का पर्वोपरितन (wrist)	१८ अंगुल
दूसरा पर्व	१६ अंगुल
दोनां बाहुओं का मध्य-परीणाह	१८ अंगुल
दोनों प्रबाहुओं का मध्य परीणाह	१२ अंगुल
(अर्थात् चतुर्भुजी प्रतिमायें)	
भुज-तल (सांगुलि)	१२ अंगुल
भुज-तल (निरंगुलि)	७ अंगुल
मध्यमांगलि	५ अंगुल
प्रदेशिनी और अनामिका	दोंनी दराबर (परन्तु मध्यमा । एक पर्व-हीन

कनिष्ठिका	प्रदेशिनी से एक पर्व-हीन
हस्त-नख (अंगुलि)	सब पर्व के आधे
उनका परीणाह	?
हस्ताग्र-गुष्ठ-लम्बाई	४ अंगुल
हस्त-परीणाह	५ अंगुल
अंगुष्ठ-नख	?

प्रतिमा-गुण-दोष—

८०—ये गुण-दोष मान-पालन अथवा मान-अपालन पर ही आधारित है। अतएव यह तालिका इसी स्तम्भानुकूल हैं :

प्रतिमा-दोष

सं०	दोष	फल
१.	अश्लिष्ट-संधि	मरण
२.	विभ्रान्ता	स्थान-विभ्रम
३.	वक्र	कलह
४.	अवनता	वयसः क्षय
५.	अस्थिता	अर्थक्षय
६.	उन्नता	हृद्रोग
७.	काकजंघा	देशान्तर-मगन
८.	प्रत्यंगहीना	अनपत्यता
६.	विकटाकारा	दारूण भय
१०.	मध्य-ग्रन्थि-नता	अनर्थका
११.	उद्बद्ध-पिण्डिका	दुःख
१२.	अधोमुखी	शिरोरोग
१३.	कुक्षिष्ठा १	दुर्भिक्ष
१४.	कुब्जा	रोग
१५.	पार्श्व-हीना	राज्याशुभ
१६.	आसन-हीना	बन्धन और स्थान-च्युति
१७.	आयस-पिण्डिता	अनर्थदा

१८.	आलय-हीना	बन्धनन और स्थान-च्युति
१९.	नाना-काष्ठ समायुक्ता	अनर्थदा
२०.	—	—

टि०—इन दोषों का अभाव ही गुण हैं तथापि निम्न तालिका द्रष्टव्य हैं।

प्रतिमा-गुण

१.	सुश्लिष्टसन्धि	८.	शुभा
२.	ताम्र-लोह-सुवर्ण-रजत-बद्धा	९.	सुविभक्ता
३.	प्रमाण-सुविभक्ता	१०.	यथोत्सेधा
४.	अक्षता	११.	प्रसन्न-वदना
५.	अपदिगा	१२.	निगूढ़-सन्धि-करणा
६.	अप्रत्यंग-हीना	१३.	समायती
७.	अविवर्जिता	१४.	ऋजु-स्थिता

प्रतिमा-द्रव्य (Iconoplastic art)

टि०–इस स्तम्भ पर हमने अपने तीनों ग्रन्थों—दे० प्रतिमा-विज्ञान ; Vastusastra Vol. II—Hindu Canons of Iconography and Painting and Royal Arts—Yantras and Citras—में इस विषय पर विस्तृत समीक्षा की है और अन्त में केवल द्रव्यों की सप्तधा विधा पर पहुंचे है।

द्रव्य

सामान्य तालिका–

१. मृन्मयी
२. काष्ठमयी
३. पाषाणमयी
४. धातुजा (धातूत्था अर्थात् अष्ट-लोह-मयी)
५. रत्नजा
६. आलेख्य—चित्रजा
७. मिश्रा

अब हम विभिन्न ग्रन्थों की तालिका प्रस्तुत करते हैं।

समरांगणीय प्रतिमा-द्रव्य—७ पुराणीय (भविष्य) प्र० द्र० ७

सुवर्ण	कांचनी
रजत	राजती
ताम्र	ताम्री
पाषाण	पार्थिवी
लेप्य (मृत्तिका)	वार्क्षी
आलेख्य (चित्र)	आलेख्यका

शुक्रनीति-सारीय प्र० द्र०

शुक्रनीति-सार का निम्न प्रवचन सप्तधा से हमें अष्टधा की ओर ले जाता है तथा द्रव्योत्तर प्राशस्त्य प्रतिपादित करता है :—

प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृण्मयी ।
वार्क्षी पाषाणधातूत्था स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा ॥

अब आइये गोपालभट्ट-विरचित हरिभक्ति-विलास की ओर, जहां प्रतिमा को द्रव्यानुषंग से पहले चतुर्धा कहा है—पुनः सप्तधा :—

हरि० वि० चतुर्धा द्रव्य

चित्रजा	पाकजा
लेप्यजा	शस्त्रोत्कीर्णा

हरि० वि० सप्तधा द्रव्य

१. मृण्मयी	४. रत्नजा
२. दारू-घटिता	५. शैलजा
३. लोहजा	६. गन्धजा
	७. कौसुमी

आगमिक द्रव्य :— रत्नजा प्रतिमा

१. स्फटिक	४. वैदूर्य
२. पद्मराग	५. विद्रुम
३. वज्र	६. पुष्प

टि० आगमों में इष्टिका (ईंट) तथा कडिशर्करा एवं हस्तिदन्त भी द्रव्य उपश्लोकित हैं ।

अब आइये अन्त में अपराजित-पृच्छा की द्रव्य-तालिका की ओरः—

अपराजित-प्रतिमा-द्रव्य

	संज्ञा	पूजक	फल
१.	वज्रमयी प्रतिमा	इन्द्र	सुरराजत्व
२.	स्वर्णमयी प्रतिमा	कुबेर	धनदत्व
३.	रूप्यमयी प्रतिमा	विश्वेदेवा	विश्वेदेवात्व
४.	पित्तलमयी प्रतिमा	मरूद्‌गण	पवनत्व
५.	कांस्यमयी प्रतिमा	अष्टवसुगण	वसुत्व
६.	शीशकोद्भवा	पिशाच	मोक्ष
७.	सूर्यकान्तमयी	आदित्य	सूर्यत्व
८.	चन्द्रकान्तमयी	चन्द्र	नक्षत्रराजत्व
९.	प्रवालकमयी	मंगल	—
१०.	इन्द्रनीलमयी	बुद्ध	—
११.	पुष्परागमयी	बृहस्पति	—
१२.	शंखमयी	शुक्र	—
१३.	कृष्णनीलमयी	शनि	—
१४.	वैदूर्यमयी	केतु	—
१५.	गोमेधीय	राहु	—
१६.	शुद्धस्फटकमयी	अर्हंत	—
१७.	हेमवती (शिलामयी)	ब्रह्मा	—
१८.	हेमकूटजा (महालिंग)	विष्णु	—
१९.	अष्टलोहमयी	सर्वदेवियां	—
२०.	ध्यानजा दिव्यलिंग	योगिनियां	—
२१.	रत्नजा	राजे-महाराजे	—

अष्टधा शैलजा प्रतिमा

१.	श्वेता	ब्राह्मणोचिता
२.	पद्मवर्णा	राजोचिता—क्षत्रियोचिता
३.	– [illegible]ाभा	वैश्योचिता

४.	मुद्गाभा	शूद्रोचिता
५.	पाण्डूरा	स्वास्थ्यकारका
६.	माक्षिकनिभा	विजयकारका
७.	कपोताभा	धनैश्वर्य-विधायिका
८.	भृंगाभा	सन्तति-दायिनी

पार्थिवा

पक्वा	अपक्वा

अन्य द्रव्यजा

कर्पूरा	कस्तूरिका	करवीरा
कुंकुमा	मातुलिंगिका	नाना-फलविनिर्मिता

प्रतिमा-रूप-संयोग एवं प्रतिमा-मुद्रा

आधुनिक विद्वानों ने मुद्रा का अर्थ एक-मात्र हस्त-मुद्रा, पाद-मुद्रा तथा शरीर-मुद्रा इन्हीं तक सीमित रक्खा है। मैंने वास्तु-शिल्प-चित्र के अनुसन्धान, गवेषण एवं अध्ययन से जो नई उद्भावना अपने ग्रन्थों में (देखिये Vastu-sastra Vol. II — Hindu Canons of Iconography and Painting) की है, उस से मुद्रा एक-मात्र भाव-मुद्रा, जो हस्त-पाद-मुखादिकों की स्थिति, गति एवं आकृति के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं, वे ही एक-मात्र मुद्रा नहीं हैं। नाना रूप-संयोग एवं लांछन, आभूषण, आयुध, आसन, प्रतीक आदि भी मुद्रा ही हैं। मुद्रा के उपर्युक्त सीमित अर्थ ने ही आधुनिक स्थापत्य-लेखकों को यह प्रेरणा दी और सिद्धान्त पर पहुंचाया कि ब्राह्मण-प्रतिमायें मुद्रा-विहीन हैं और बौद्ध एवं जैन प्रतिमायें ही मुद्रालकृत हैं। हेमाद्रि की चतुर्वर्ग-चिन्तामणि में जो हम ने निम्न उल्लेख पाये हैं, उससे हमारा सिद्धान्त पुष्ट हो गया :—

एकोनविंशतिर्मुद्राः विष्णोरुक्ता मनीषिभिः।
शंखचक्रगदापद्मवेणुश्रीवत्सकौस्तुभाः॥
......शिवस्य दशमुद्रिका :
लिंगयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाह्वयाः॥

सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्तमुद्रा गणेशितुः ॥

— — — —

लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिका : ॥
सप्तजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्निपूजने ॥

अस्तु, यद्यपि बौद्ध-प्रतिमाओं में इन हस्त-मुद्राओं का विपुल विनियोग है, परन्तु प्रतिमा-स्थापत्य में मुद्रा देव-विशेष के मनोभावों को ही नहीं अभिव्यक्त करती हैं, वरन् उसके महान् कार्य—दैवी कार्य को भी इंगित करती हैं। भगवान् बुद्ध की भूमि-स्पर्श-मुद्रा इस तथ्य का उदाहरण है । इस दृष्टि से मुद्रा एक प्रतीक Symbol है, जो प्रतिमा और प्रतिमा के स्वरूप (Idea) का परिचायक (Conductor) है।

अस्तु, इस स्थूल उपोद्घात के अनन्तर अब हम इन मुद्राओं को निम्न-लिखित दो महावर्गों में विभाजित कर रहे हैं :—

१. रूप-मुद्रा २. शरीर-मुद्रा

पहले हम रूप-मुद्रा को लेते हैं। रूप-मुद्रा का अर्थ रूप-संयोग है। अतः इस रूप-संयोग में निम्न उपवर्गों पर नाना रूप-मुद्राओं की तालिका उपस्थित की जाएगी :—

१. पात्र
२. आसन
३. वाहन
४. आभूषण
५. आयुध
६. वस्त्र

अ–पात्र

संज्ञा	देव
१. स्रुक्	ब्रह्मा
२. स्रुबा	ब्रह्मा
३. कमण्डलु	ब्रह्मा, शिव, पार्वती तथा सरस्वती
४. पुस्तक	ब्रह्मा, सरस्वती
५. अक्षमाला (अक्षसूत्र)	ब्रह्मा, सरस्वती, शिव
रूद्राक्ष–कमालक्ष	सरस्वती

६. कपाल	कपाल-भृत् शिव तथा अन्य तान्त्रिक देवता
७. दण्ड	यम
८. दर्पण	देवी
९. पद्म	लक्ष्मी
१०. श्रीफल	लक्ष्मी
११. अमृत-घट	लक्ष्मी
१२. मोदक	गणेश

टि० इनको हम पात्र अर्थात् Implements के रूप में विभावित करते हैं परन्तु यहां पात्र पर हम वाद्य-यंत्र को भी ले सकते हैं, जिनकी तालिका निम्न है :—

संज्ञा	देव
१. वीणा अथवा वल्लकी	सरस्वती
२. वेणु	कृष्ण
३. डमरू	शिव
४. शंख (पञ्चजन्य)	विष्णु
५. घंटा	दुर्गा तथा कार्तिकेय
६. मृदंग, करताल आदि	देवगण, मुनिगण, भक्त आदि ।

ब—आसनः—आसन पद न केवल यथा-नाम आसन ही है. वरन् यह निम्नलिखित तीन उपसर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. शरीरासन अर्थात् योगासन, चक्रासन, पद्मासन

२. पीठासन (detached seat)

३. पशु-आसन (वाहन)

टि० इन पशु-आसनों को वाहन में भी गतार्थ कर सकते हैं, परन्तु बहुत से ऐसे भी देव हैं जो साक्षात् गज, सिंह, मयूर आदि पशुओं पर आरूढ़ चित्र्य हैं। अतः उनको हम वाहन में लेंगे।

१. शरीर-आसन(योगिकासन)—इनकी संख्या संख्यातीत है निरुक्ततन्त्र, (दे० शब्द-कल्पद्रुम) के अनुसार इन आसनों की संख्या ८४ लाख है।

अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार निम्नलिखित ११ आसन विषेश प्रसिद्ध हैं, जो प्रतिमा-स्थापत्य में भी चित्रित किये गए हैं :—

१. चक्रासन	५. कौक्कुटासन	९. सिंहासन
२. पद्मासन	६. वीरासन	१०. मुक्तासन तथा
३. कूर्मासन	७. स्वस्तिकासन	११. गोमुखासन
४. मयूरासन	८. भद्रासन	

इन ११ यौगिकासनों के अतिरिक्त पतञ्जलि के योग-दर्शन में जो अन्य यौगिकासन संकीर्तित हैं, वे भी प्रतिमा-स्थापत्य में चित्रित हैं — दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यंकासन, समसंस्थानासन आदि तथा ज्ञानासन, वज्रासन, योगासन, आलीढासन और सुखासन ।

टि० डा० बैनर्जी के अनुसार (cf. Development of Hindu Iconography) निम्नलिखित आसन भी चित्र-स्थापत्य में प्रदर्शित हैं :—

१. उत्कूटिकासन	४. वद्ध-पद्मासन
२. पर्यंकासन	५. वज्रासन
३. वज्रपर्यंकासन	६. ललितासन

२–पीठासन—सुप्रभेदागम में निम्न पांच प्रकार के पीठों का वर्णन किया गया है, जिन्हें हम यौगिकासनों के रूप में नहीं वरन् Detached Seat के रूप पाते हैं । ये आकारानुरूप निर्मेय हैः—

पीठ	**आकार**	**प्रयोजन**
१. अनन्तासन	त्र्यश्र (Triangular)	कौतुकदर्शनार्थं
२. सिंहासन	आयताकार (Rectangular)	स्नानार्थं
६. योगासन	अष्टाश्रि (Octagonal)	प्रार्थनार्थं
४. पद्मासन तथा	वर्तुल (Circular)	पूजार्थं
५. विमलासन	षडश्रि (Hexagonal)	बल्यार्थं

इनके अतिरिक्त राव महाशय ने (E. H. I. vol. I. p. 20) अन्य चार पीठों का भी निर्देश किया है, जो पादमुद्रीय आसन नहीं, द्रव्यीय पीठ है ।

१. भद्र-पीठ (भद्रासन)	प्रेत-पीठ (प्रेतासन)
२. कूर्म-पीठ (कूर्मासन)	सिंह-पीठ (सिंहासन)

३. **पशु-आसन :—**

वाहन—वाहन अर्थात यान की निम्न तालिका उद्धरणीय है :—

देव	देवियां
१. हंसवाहन ब्रह्मा	१. सिंहवाहिनी दुर्गा
२. गरूड़ारूढ़ विष्णु	२. हंसवाहिनी सरस्वती
३. वृषभासीन शिव	३. वृषभवाहिनी गौरी
४. गजारूढ़ रूद्र	४. गर्दभासना शीतला
५. मयूरासन कार्तिकेय	५. उलूकवाहिनी लक्ष्मी
६. मूषिकासन गणेश	६. नक्रवाहिनी गंगा

टि० यान में देवों के विमान ही विशेष प्रसिद्ध हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विमानों का क्रमशः वैराज, त्रिविष्टप और कैलाश नाम हैं।

टि० अपराजित-पृच्छा में षट्त्रिंशत् ३६ आयुधों का वर्णन है। इतनी सुदीर्घ तालिका अन्यत्र अप्राप्य है। उसी प्रकार से उसमें षोडश आभूषणों का भी वर्णन है, जो आगे के स्तम्भ में लेंगे। पहले हम आगमों, तंत्रों, पुराणों तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थों में आयुधों (अस्त्र-शस्त्रों) का जो प्रतिपादन है, उसके अनुसार पहली तालिका प्रस्तुत करते है :—

आयुध–तालिका-(सामान्या)

आयुध	देव-विशेष-संयोग
१. चक्र (सुदर्शन)	विष्णु
२. गदा (कौमोदकी)	विष्णु
३. शारंग धनुष	विष्णु
४. त्रिशूल	शिव
५. पिनाक धनुष	शिव
६. खट्वांग	शिव
७. अग्नि	शिव
८. परशु	शिव
९. अंकुश	गणेश
१०. पाश	गणेश
११. शक्ति	सुब्रह्मण्य
१२. वज्र	सुब्रह्मण्य
१३. ठंक	सुब्रह्मण्य (इन्द्र भी)

१४. मुसल	बलराम
१५. हल	बलराम
१६. शर	कार्तिकेय
१७. खड्ग	कार्तिकेय
१८. मुसृण्ठि	कार्तिकेय
१९. मुद्गर	कार्तिकेय
२०. खेट	कार्तिकेय
२१. धनु	कार्तिकेय
२२. पताका	कार्तिकेय
२३. परिघ	दुर्गा
२४. पट्टिश	दुर्गा
२५. चर्म	दुर्गा

आयुध-तालिका—अपराजित पृच्छोया षट्त्रिंशत-आयुध—३६ आयुध

१. त्रिशूल	१३. दंड	२५. शीर्षक
२. छुरिका	१४. शंख	२६. सर्प
३. खड्ग	१५. चक्र	२७. श्रंग
४. खेटक	१६. गदा	२८. हल
५. खट्वांग	१७. वज्र	२९. कुन्तक
६. धनुष	१८. शक्ति	३०. पुस्तक
७. बाण	१९. मुदगर	३१. अक्षमाला
८. पाश	२०. भृशुंडि	३२. कमंडलु
९. अंकुश	२१. मुसल	३३. स्रुक्
१०. घंटा	२२. परशु	६४. पद्म
११. रिष्टि	२३. कर्तिका	३५. पत्र
१२. दर्पण	२४. कपाल	३६. योग-मुद्रा

टि० इनमें बहुत सी संज्ञायें जैसे दर्पण, कपाल तथा ३०-३६ ये सब Improvised weapons में गतार्थ किये जा सकते हैं।

आभूषण—वस्त्रों एवं अभूषणों को हम एक ही वर्ग में परिकल्पित कर सकते हैं। ये एक प्रकार से वस्त्र हैं, भूषण है और मौलियां हैं।

वस्त्र— (१) कौशेय (२) कार्पास (३) चर्म

इन कोटियों में, नाना परिधान, नाना देवों में, विभाजित हैं :—

विष्णु	पीताम्बर
बलराम	नीलाम्बर
ब्रह्मा	शुक्लाम्बर

प्राचीनकाल में परिधानों में दो ही वस्त्र विशेष थे, एक उत्तरीय तथा दूसरा अधोवस्त्र। देवी-मूर्तियों तथा देव-मूर्तियों में बन्ध भी चित्रित पाए जाते हैं। निम्न तालिका देखिए :—

१. हार	६. कुच-बन्ध	११. चोलक (सूर्य-देवियां)
२. केयूर	७. भुजगवलय	१२. कृत्तिवास (शिव)
३. कंकण	८. बनमाला	१६. शुक्लाम्बर (ब्र०)
४. उदर-बन्ध	९. पीताम्बर (वि०)	१४. मेखला (श्री)
५. कटि-बन्ध	१०. उदीच्यवेष (सूर्य)	१५. कञ्चुक (लक्ष्मी)

टि०— इनमें से प्रथम पांच सभी देवों एवं देवियों के सामान्य परिधान हैं; कुच-बन्ध तथा चोलक स्त्री-परिधान होने के कारण देवी-प्रतिमाओं की विशष्टिता है।

अलंकार तथा आभूषण—

अलंकार अथवा आभूषणों को अंगानुरूप सात-आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

कर्णाभूषण—कुण्डल

. पत्र-कुण्डल (उमा) ३. शंख-पत्र-कुण्डल (उमा)
२. नक्र-कुण्डल (सामान्य) ४. रत्न-कुण्डल (सामा०)

टि० कर्णाभूषणों में कर्ण-पूर (सरस्वती), कर्णिका (काली), मणि-कुण्डल (लक्ष्मी), कर्णावली (पार्वती) आदि भी उल्लेख्य हैं।

नासा भूषण—वेसर (कृष्ण और राधा)

गल-भूषण— १. निष्य २. हार ३. ग्रैवेयक ४. कौस्तुक तथा ५. वैजयन्ती

टि० कौस्तुभ एवं वैजयन्ती वैष्णव-आभूषण हैं, कौस्तुभ मणि है

जो समुद्र-मन्थन में प्राप्त १४ रत्नों में एक है। इसे भगवान् विष्णु वक्षस्थल पर धारण करते हैं।

भागवत-पुराण कौस्तुभ को सहस्र-सूर्य-समप्रभ एक लाल मणि संकीर्तित करता है। वैजयन्ती के विषय में यह प्रतिपाद्य है कि इसकी रचना पांच प्रकार की रत्न-पंचिका से निष्पन्न होती है। विष्णु-पुराण में इन पंच-विध रत्नों को पञ्च तत्वों का प्रतीक माना गया है। नीलम (नीलमणि) पार्थिव तत्व, मौक्तिक जलीय तत्व, कोस्तुभ तेजस् तत्व, वैदूर्य वायव्य तत्त्व एवं पुष्पराग आकाशीय तत्व के प्रतीक हैं—अतएव वैजयन्ती विराट् विष्णु की रूपोद्भावना का कैसा वैराज्य समुपस्थित करती है।

वक्ष-आभूषण—इन में श्रीवत्स, चन्नवीर, भुजबन्ध (परिधान और अलंकार दोनों ही) विशेषोल्लेखनीय हैं।

कटि-आभूषण—इन में कटिबन्ध; मेखला तथा काञ्चीदाम विशेष प्रसिद्ध है।

पाद-आभूषण—इन में मञ्जीर ही विशेष उल्लेख्य है।

बाहु एवं भुजा के आभूषण—इन में कंकण, वलय, केयूर, अंगद विशेष विख्यात हैं।

टि० 'श्रीवत्स' वैष्णव लांछन है, जो विष्णु के वक्षःस्थल पर 'कुञ्चित रोमावलि' की संज्ञा है। वैष्णवी प्रतिमाओं में वासुदेव—विष्णु एवं दशावतारों, में प्रदर्श्य है।

शिरोभूषण—मानसार में लगभग द्वादश १२ शिरोभूषण (अलंकरण एवं प्रसाधन दोनों ही) वर्णित हैं, जिनको हम निम्न तालिका में देव पुरस्सर देख सकते हैं :—

संज्ञा	देव	संज्ञा	देव
जटा मु०	ब्रह्मा, शिव	केशबन्ध	सरस्वती, सावित्री
मौलि मु०	मनोन्मानिनी	धम्मिल्ल	अन्य देवियां
किरीट मु०	विष्णु, वासुदेव, नारायण	चूड	अन्य देवियां
		मुकुट	ब्रह्मा, विष्णु, शिव

करण्डक मु०	अन्य देव और देवियां	पट्ट	राजे-महाराजे, रानियां
शिरस्त्रक	यक्ष,नाग,विद्याधर	अ. पत्र-पट्ट	,,
कुन्तल	लक्ष्मी, सरस्वती	ब. रत्न-पट्ट	,,
	सावित्री	स. पुष्प-पट्ट	,,

टि० १. काक पक्ष भी एक शिरोभूषण संकीर्तित है। यह बाल-कृष्ण का शिरोभूषण अथवा केश-बन्ध है—

'मस्तकपार्श्वद्वये केशरचनाविशेषः'।

टि० २. मानसार की इस 'शिरोभूषण-मालिका की कुछ समीक्षा आवश्यक है। राव महाशय (श्री गोपीनाथ) तथा उनके अनुयायी डा० बैनर्जी ने मानसारीय मौलि-लक्षण से केवल आठ प्रकार के शिरोभूषणों का दिर्देश माना है—जटामुकुट, किरीटमुकुट, करण्डमुकुट, शिरस्त्रक, कुन्तल, केशबन्ध, धम्मिल्ल तथा अलकचूड। शिव और ब्रह्मा के लिये विहित शिरोभूषण जटा-मुकुट से जटा और मुकुट (द्वन्द्व) नहीं ग्राह्य है, जटा ही है मुकुट—ऐसा विशेष संगत है। मौलि या मुकुट एक प्रकार से सामान्य संज्ञा है और अन्य प्रभेद Species है। इसी प्रकार धम्मिल्लालकचूड में तीन के स्थान पर दो ही शिरोभूषण अभिप्रेत हैं—धम्मिल तथा अलकचूड (न कि अलक अलग और चूड अलग)।

राव महाशय ने मौलि अर्थात् शिरोभूषण के केवल तीन ही प्रधान भेद माने हैं—जटा-मुकुट, किरीट-मुकुट तथा करण्डक-मुकुट। शेष क्षुद्र आभूषण हैं। पट्ट के सम्बन्ध में राव महाशय की धारणा सम्भवतः निर्भ्रान्त नहीं है। पट्ट को राव केश-बन्ध का प्रभेद मानते हैं—वह ठीक नहीं। पट्ट एक प्रकार का साफा है, जो उष्णीष (शिरोभूषण) के रूप में स्थापत्य में प्रकल्पित है।

टि० ३. किरीट-मुकुट वैष्णव मूर्तियों के अतिरिक्त सूर्य तथा कुबेर के लिये भी विहित है। देखिए बृ० सं०) गान्धार-कला-निदर्शनों में शक्र अर्थात् इन्द्र का भी यह शिरोभूषण है।

शरीर-मुद्रा

१. हस्त-मुद्रा
२. पाद-मुद्रा
३. शरीर-मुद्रा—मुखावयवादि ।

हस्त-मुद्रा

असंयुत हस्तः —

१.	पताक	६.	कपित्थ	१७.	चतुर
२.	त्रिपताक	१०.	खटका-मुख	१८.	भ्रमर
३.	कर्तरीमुख	११.	सूची-मुख	१९.	हंसवक्त्र
४.	अर्ध-चन्द्र	१२.	पद्मकोष	२०.	हंसपक्ष
५.	अराल	१३.	सर्पशिर	२१.	सन्दंश
६.	शुक-तुण्ड	१४.	मृगशीर्ष	२२.	मुकुल
७.	मुष्ठि	१५.	कांगूल	२३.	ऊर्णनाभ
८.	शिखर	१६.	अलपद्म	२४.	ताम्रचूड

संयुत-हस्त :—

१.	अंजलि	६.	उत्संग	११.	अवहित्थ
२.	कपोत	७.	दोल	१२.	वर्धमान
३.	कर्कट	८.	पुष्पपुट	१६.	—
४.	स्वस्तिक	९.	मकर		
५.	खटक	१०.	गजदन्त		

नृत्य हस्त :—

१.	चतुरश्र	८.	उत्तानवञ्चित	१५.	पक्ष-प्रच्योतक
२.	विप्रकीर्ण	९.	अर्धरेचित	१६.	गरूड़-पक्ष
३.	पद्मकोष	१९.	पल्लव	१७.	दण्ड-पक्ष
४.	अरालखटकामुख	११.	केश-बन्ध	१८.	ऊर्ध्व-मण्डल
५.	आविद्धवक्रक	१२.	लता-हस्त	१९.	पार्श्व-मण्डल
६.	सूचीमुख	१३.	कटि-हस्स	२०.	उरो-मण्डल
७.	रेचितहस्त	१४.	पक्ष-वञ्चितक	२१.	उरः पार्श्वार्ध-मण्डल

पाद-मुद्राः—

वैष्णव ध्रुव बेरों के योग, भोग, वीर एवं आभिचारिक वर्गीकरण की चतुर्विधा में स्थानक, आसन एवं शयन प्रभेद से द्वादश वर्ग का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है। तदनुरूप स्थानक-आकृति Standing posture से सम्बन्धित पाद-मुद्राओं के समरांगण की दिशा से निम्नलिखित ६ प्रभेद किये गये हैं।

१. वैष्णवम् ३. वैशाखम् ५. आलीढम्
२. समपादम् ४. मण्डलम् ६. प्रत्यालीढम्

शरीर-मुद्रा (चेष्टा) :—

शरीर के स्थान-विशेष, उनके परावृत्तों और उनके व्यन्तरों के त्रिभेद से स० सू० में इन चेष्टाओं का निम्न वर्गीकरण द्रष्टव्य है :—

(अ) १. ऋज्वागत, २. अर्धर्ज्वागत, ३. साचीकृत, ४. अध्यर्धाक्ष ५. पार्श्वागत;
(ब) ६-९ चतुर्विध परावृत;
(स) २० विंशति अन्तर (या व्यन्तर)।

विष्णु-धर्मोत्तर के अनुसार निम्नलिखित नौ प्रधान शरीर-चेष्टायें हैं:—

१. ऋज्वागत—आभिमुखीनम्—the front view
२. अनृजु—पराचीनम्—back view
३. साचीकृत शरीर—यथानाम—A bent position in profile view
४. अर्धविलोचन—The face in profile, the body in three quarter profile view
५. पार्श्वागत—The side view profile
६. परावृत्त—With head and shoulder turned backwards
७. पृष्ठागत—Back view with upper part of the body partly visible in profile view
८. परिवृत्त—With the body sharply turned back from the waist upwards and lastly
९ समनत—the back view, in squating position with body bent

प्रतिमा-वर्ग

ब्राह्मण-प्रतिमाएं

त्रिमूर्ति एवं ब्राह्म-प्रतिमाएं

त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश

त्रिमूर्ति—हरि-हर-पितामह...अप० पृ०

त्रिमूर्ति—चन्द्र-सूर्य-पितामह... ,,

त्रिमूर्ति—हर-हरि-हिरण्यगर्भ...अप० पृ०

चतुर्मूर्ति—हर-हरि (विष्णु तथा सूर्य)-हिरण्यगर्भ

पंच-मूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, पार्वती, गणेश, दे० पंचायतन-पूजा परम्परा

द्विमूर्ति—

हरि-हर	उमा-महेश्वर
हर-गौरी	अर्धनारीश्वर
हर्यर्धमूर्ति	मार्तण्ड-भैरव
कृष्ण-शंकर	नर-नारायण

ब्रह्मा—ब्राह्मी मूर्ति

उचित-संस्थाना	**अनिर्मेया**	
अनलार्चि-प्रतिमा	रौद्रा	
प्रथम-यौवन-स्थिता	दीना	दे० प्र० वि०, पृ० २४८
स्थूलांगा	कृशा	
कमलासना	विरूपा	
हंस-वाहना		
स्मारक-निदर्शन		दे० प्र० वि०

विष्णु—सप्त उपवर्ग :—

१. साधारण
२. असाधारण
३. ध्रुव बेर
४. दशावतार
५. चतुर्विशति मूर्तियां
६. अंशावतार
७. आयुध-पुरुष

न-पूजा

० २४८

साधारण—चतुर्बाहु, शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला, कौस्तुभ-आदि-लांछित

असाधारण

१.	अनन्तशायी नारायण	५.	विश्वरूप
२.	नारायण वासुदेव (दैविक)	६.	वैकुण्ठ
३.	मानुष वासुदेव	७.	अनन्त
४.	त्रैलोक्य-मोहन	८.	योगेश्वर तथा
		९.	लक्ष्मी-नारायण

ध्रुव बेर—द्वादश मूर्तियां

१.	योग-स्थानक	५.	योगासन	९.	योग-शयन
२.	भोग-स्थानक	६.	भोगासन	१०.	भोग-शयन
३.	वीर-स्थानक	७.	वीरासन	११.	वीर-शयन
४.	आभिचारिक-स्थानक	८.	आभिचारिकासन	१२.	आभिचारिक-शयन

अवतार—

टि०—विष्णु के अवतार त्रिविध — पूर्णावतार, आवेशावतार तथा अंशावतार ;

पूर्णावतार	राम तथा कृष्ण
आवेशावतार	परशु-राम
अंशावतार	शंखचक्रादि-आयुध-पुरुष

दशावतार—

१.	मत्स्य	३.	बराह	५.	वामन	७.	राघव-राम	९.	बुद्ध तथा
२.	कूर्म	४.	नृसिंह	६.	परशुराम	८.	कृष्ण	१०.	कलकी

चतुर्विंशति विष्णु-मूर्तियां

१.	केशव	२.	नारायण	३.	माधव	४.	गोविन्द
५.	विष्णु	६.	मधुसूदन	७.	त्रिविक्रम	८.	वामन
९.	श्रीधर	१०.	हृषीकेश	११.	पद्मनाभ	१२.	दामोदर
१३.	संकर्षण	१४.	वासुदेव	१५.	प्रद्युम्न	१६.	अनिरूद्ध
१७.	पुरूषोत्तम	१८.	अधोक्षज	१९.	नृसिंह	२०.	अच्युत
२१.	जनार्दन	२२.	उपेन्द्र	२३.	हरि	२४.	श्रीकृष्ण

अंशावतरा

१. पुरूष	५. धन्वन्तरि	९. आदिमूर्ति	१३. जगन्नाथ
२. कपिल	६. दत्तात्रेय	१०. धर्म	१४. नर-नारायण
३. यज्ञ-मूर्ति	७. हरिहर-पितामह	११. वेंकटेश	१५. वरदराज
४. व्यास	८. हय-ग्रीव	१२. विठोवा	१६. रंगनाथ तथा
			१७. मन्मथ

आयुध-पुरूष—

सुदर्शन चक्र	त्रिशूल
चक्र	शंख
गदा	बाण
दण्ड	धनुश
ध्वज	शक्ति
पाश	खड्ग

टि०—		
गदा	प्रतीक	बुद्धि
शंख	प्रतीक	अहंकार
चक्र	प्रतीक	मन (परिवर्तन)
बाण	प्रतीक	कर्म-ज्ञान-इन्द्रिय
असि	प्रतीक	विद्या
असि-आवरण	प्रतीक	अ-विद्या

शिव—१. लिंग-प्रतिमा
　　२. रूप-प्रतिमा

लिंग-प्रतिमा—लिंग-भेद

शव-सम्प्रदायानुरूप	लिङ्गोत्सेधानुरूप	प्रयोजनामूरूप
२. पाशुपात	१. जाति	१. आत्मार्थ
३. कालमुख	२. छन्द	२. परार्थ
४. महाव्रत	३. विकल्प	
५. वाम	४. आभास	
६. भैरव		

वर्णानुरूप
१. समकर्ण—ब्रा०
२. वर्धमान—क्ष०
३. शिवांक—वै०
४. स्वस्तिक—शू०

वास्तुशैल्यनुरूप
१. नागर
२. द्राविड
३. वेसर

प्रतिष्ठानुरूप
१. एकलिंग
२. बहुलिंग

द्रव्यानुरूप
वज्र-सुवर्णादि-नाना-द्रव्यमय

प्रकृत्यनुरूप
१. दैविक
२. मानुष
३. गाणप
४. आर्ष

कालानुरूप
१. क्षणिक
२. सर्वकालिक

लिंग-भाग

ब्रह्म-भाग	मूल-भाग	चतुरश्र
विष्णु-भाग	मध्य	अष्टाश्र
शिव-भाग	ऊर्ध्व	(वर्तुल)

लिंग-पीठ—पांच भाग:—
१. प्रणाल (योनि-द्वार)
२. जल-धारा
३. घृतवारि
४-५. निम्न तथा पट्टिका

चल-लिंग—द्रव्यानुरूप—षड्विध
मृण्मय, लोहज, रत्नज, दारूज, शैलज तथा क्षणिक (पार्थिव-लिंग)

अचल-लिंग
१. स्वायम्भुव
२. पूर्व (पुराण)
३. दैवत
४. गाणपत्य
५. असुर
६. सुर
७. आर्ष
८. राक्षस
९. मानुष

मानुष-लिंग
१. अष्टोत्तरशत-लिंग
२. सहस्र-लिंग
३. धारा-लिंग
४. मुख-लिंग
५. सार्वदेशिक
६. सर्वसम
७. वर्धमान
८. शैवाधिक

रूप-प्रतिमा	शिव रूप	त्रिविधा
शान्ता	अशान्ता (उग्रा)	नानाविधा
शांत शिव	उग्र-शिव	रूप–विशेष
१. साधारण-असाधारण	१. संहार	१. विद्येश्वर
२. शान्त-सौम्य	२. भैरव	२. मूर्त्यष्टक
३. अनुग्रह	३. कंकाल तथा भिक्षाटन	३. पंचमूर्ति
४. दक्षिणा	४. अघोर	४. महादेव
५. नृत्त	५. रूद्र	५. शिवगण
		६. शिव-भक्त

टि०—शिल्प-रत्न में लिंगोद्भव निम्न अष्टादश रूप-प्रतिमाओं का उल्लेख है :—

सुखासन	त्रिपुरारि	भिक्षाटन
स्कन्दोमासहित	कल्याण-सुन्दर	अर्ध-नारीश्वर (२)
चन्द्रशेखर	अर्ध-नारीश्वर	चण्डेशानुग्रह
वृष-वाहन	गजहा	दक्षिणा-मूर्ति
नृत्त-मूर्ति	पाशुपत	कालारि
गंगाधर	कंकाल	

शान्ता-प्रतिमा

साधारणी —चन्द्रशेखर आदि

असाधारणी—

१. महासदाशिव
२. सदाशिव
३. द्वादश-कला-सम्पूर्ण सदाशिव (अ० पृ०)
४. पाशुपत-रूद्र-पाशुपत

बंगाल के सेनवंशी राजा, सदाशिव के समुपासक थे ; अतः ये प्रतिमायें वहीं प्राप्य हैं। महासदाशिव दक्षिण भारत (तंजौर) के वैट्टिश्विरंकोयिल मन्दिर में यह अभूतपूर्व चित्रण है। यह दार्शनिक मूर्ति है। पाशु-पत मूर्तियों के नाना निदर्शन तो सभी जानते हैं। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थो में देखिये।

सौम्य–शांत—

अर्धनारीश्वर	वृषवाहन
गंगाधर	विषापहरण
कल्याण-सुन्दर	चन्द्रशेखर

टि०—इनके निदर्शन प्रायः सर्वत्र प्रासाद-पीठों पर प्राप्त हैं।

अनुग्रहमूर्तियां—विशेष विवरणों के लिये देखें—वास्तु-शास्त्र—द्वितीय भाग तथा प्रतिमा-विज्ञान

१. विष्णवनुग्रह
२. नन्दीशानुग्रह
३. अर्जुनानुग्रह
(किरातार्जुन-मूर्ति)
४. रावणानुग्रह
५. विघ्नेशानुग्रह
६. चण्डेशानुग्रह

टि०— ये सब पुराणेतिहास-वृत्तों पर आधारित हैं—ये विवरण यथा-प्राक्-सूचित मेरे ग्रन्थों में देखिये। पुनः इनके स्थापत्य-निदर्शन भी तत्रैव पठनीय हैं।

दक्षिणामूर्तियां—

१. व्याख्यान-दक्षिणा-मूर्ति
२. ज्ञान-दक्षिणा-मूर्ति
६. योग-दक्षिणा-मूर्ति
४. वीणाधर-दक्षिणा-मूर्ति

टि०— व्याख्यान और ज्ञान से तात्पर्य शास्त्रोपदेश है। इसी मूर्ति में प्रायः दक्षिणा-मूर्तियों की शिव-मन्दिरों में चित्रणा देखी जाती है। इस मूर्ति के लाञ्छनों में हिमाद्रि का वातावरण, वट-वृक्ष-तल, शार्दूल-चर्म, अक्षमाला, वीरासन आदि के साथ जिज्ञासु ऋषियों का चित्रण भी अभीष्ट है। देवगढ़ और तिरूवोर्रीयूर, आबू, तन्जौर, सुचीन्द्रम, कावेरी-पककम् आदि स्थानों की ज्ञान-दक्षिणा-मूर्तियां दर्शनीया हैं। कञ्जीवरम् की योग-दक्षिणा-मूर्तियां तथा वडरङ्गम और मद्रास-संग्रहालय की वीणाधर-मूर्तियां भी अवलोक्य हैं।

नृत्त-मूर्तियां—

भगवान् शिव नटराज के नाम से पुकारे जाते हैं। इनसे बढकर कौन नर्तक हुआ? जिस प्रकार ब्रह्म की कल्पना नाद में, वास्तु में, शब्द में की गयी है, उसी प्रकार ताण्डव-नृत्य सम्पूर्ण ब्रह्म-व्यापक विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय—इन तीनों अवस्थाओं का प्रतीक है। डा॰ कुमारस्वामी ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

वैसे तो नृत्य-मुद्राओं की संख्या १०८ है; परन्तु इनका चित्रण तो बड़ा

दुष्कर है। भरत के नाट्य-शास्त्र में १०८ नृत्य-विधा हैं ; परन्तु शिव-प्रतिमा-विज्ञान (Siva's Iconography) पर जितने भी आगामों, पुराणों तथा शिल्प-ग्रन्थों में विवरण है, उनमें इन नृत्यों का बड़ा ही स्वल्प वर्णन है। आगमों में केवल नौ शिव-नृत्य-प्रतिमायें वर्णित हैं। स्थापत्य तो शास्त्र से बाजी मार ले गया। चिदम्बरम् के गोपुर को देखिए जहां नट-राज शिव को एक सौ आठ नृत्यों में नचा दिया है। यह सब महादेव की ही कृपा थी। अस्तु, इन पर विशेष विवरण न करके इतना ही सूच्य है कि इन नृत्य-मूर्तियों की तालिका बड़ी स्वल्प हैं :—

नटराज—शिव—

१. कटिसम
२. ललित नृत्य
३. ललाट-तिलकम्
४. चतुरम्

अब आइये अशान्त प्रसिमा की ओर—

अशान्त (उग्र) शिव

संहार-मूर्तियां

१. कामान्तक
२. गजासुर-संहार
३. कालारि
४. त्रिपुरान्तक
५. शरभेश
६. ब्रह्म-शिरश्छेदक
७. भैरव
८. वीरभद्र
९. जलन्धर-हर
१०. अन्धकासुर
११. अघोर

इनके विवरण यथ निर्दिष्ट मेरे ग्रन्थों में देखें। भैरव के सम्बन्ध में तालिकानुरूप कुछ विशेष विहित हैं :—

भैरव/त्रिविध

अ वटुक
ब स्वर्णाकिषण
स चतुष्षष्टिक

चतुष्षष्टिक वैरव—प्रधान आठ के आठ प्रभेदों से ६४ हुए। इनमें आठ हैं

असितांग
रुरू
चण्ड
क्रोद्ध
उन्मत्त
कपाल
भीषण
संहार

टि०—इनके आठ भेदों की अवतारणा विशेष विवरणीय नहीं।

कंकाल एवं भिक्षाटन मूर्तियां :—

टि०— विशेष विवरण अपेक्ष्य नहीं

अघोर

अ—सामान्य ब—दशभुज

एकादश रूद्र

अंगु०	वि० प्र०	रु० मं०	अपरा० पृ०
महादेव	अज	तत्पुरूष	सद्योजात
शिव	एकपाद	अघोर	वामदेव
शंकर	अहिर्बुध्न्य	ईशान	अघोर
नीललोहित	विरूपाक्ष	वामदेव	तत्पुरूष
ईशान	रेवत	मृत्युञ्जय	ईशान
विजय	हर	किरणाक्ष	मृत्युञ्जय
भीम	बहुरूप	श्रीकण्ठ	विजय
देव-देव	त्र्यम्बक	अहिर्बुध्न्य	किरणाक्ष
भवोद्भव	सुरेश्वर	विरूपाक्ष	अघोरास्त्र
रूद्र	जयन्त	बहुरूप	श्रीकण्ठ
कपालीश	अपराजित	त्र्यम्बक	महादेव

टि०—रूप-मण्डन एवं अपराजित-पृच्छा की तालिका सर्वाधिक सम है।

गाणपत्य-प्रतिमायें.

गणेश—गाणपत्य-सम्प्रदाय के निम्न उप-सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हो गये :—

१. महा-गणापति
२. हरिद्रा-गणपति
३. स्वर्ण-गणपति
४. सन्तान-गणपति
५. नवनीत-गणपति
३. उन्मत्त-उच्छिष्ट-गणपति

गणेश की प्रतिमानुरूप निम्न दो तालिकायें दी जाती हैं :—

दश-विध

१. विघ्नराज
२. लक्ष्मी-गणपति
३. शक्ति-गणेश
४. क्षिति-प्रसादन
५. वक्र-तुण्ड
६. हेरम्ब
७. पीत-गणेश
८. महागणपति
९. विरञ्चि
१०. उच्छिष्ट-गण पति

षोडश-विध

१. बाल-गणपति
२. तरुण-गणपति
३. भक्ति-विघ्नेश्वर
४. वीर-विघ्नेश्वर
५. शक्ति-गणेश
अ-लक्ष्मी-गणपति
ब—उच्छिष्ट-गणपति
स-महागणपति
य-ऊर्ध्व गणपति
र-पिंगल-गणपति
६. हेरम्ब (पंचगजानन
७. प्रसन्न-गणपति
८. ध्वज-गणपति
९. उन्मत्त-उच्छिष्ट-गणपति
१०. विघ्नराज-गणपति
११. भुवनेश-गणपति.
१२. नृत्त-गणपति
१३. हरिद्रा-गणपति(रात्रि-गणपति)
१४. भालचन्द्र
१५. शूर्पकर्ण
१६. एकदन्त

कार्तिकेय—दश-रूप :

१. कार्तिकेय
२. षण्मुख-षडानन
३. शरवणभव (शरजन्मा)
४. सेनानी
५. तारकजित
६. क्रौञ्च-भेत्ता
७. गंगापुत्र
८. गुह
९. अनलभू
१०. स्कन्द तथा स्वामिनाथ

प्रतिमा—रूप—दे० कुमार-तन्त्र :—

१. शक्ति-धर
२. स्कन्द
३. सेनापति
४. सुब्रह्मण्य
५. गजवाहन
६. शारवणभव
७. कार्तिकेय
८. कुमार
९. षण्मुख
१०. तारकारि
११. सेनानी
१२. ब्रह्म-शस्ता
१३. वल्लि-कल्याण-सुन्दर-मूर्ति
१४. बाल-स्वामी
१५. क्रौञ्च-भेत्ता
१६. शिखिवाहन

सौर–प्रतिमायें

अ-द्वादशादित्य

१.	धाता	७.	भग
२.	मित्र	८.	विवस्वान्
३.	अर्यमा	९.	पूषन्
४.	रूद्र	१०.	सविता
५.	वरूण	११.	त्वष्ट्रा
६.	सूर्य	१२.	विष्णु

ब-नव-ग्रह

१.	सूर्य	५.	गुरू
२.	सोम	६.	शुक्र
३.	भौम	७.	शनि
४.	बुध	८.	राहु
		९.	केतु

स-अष्ट-दिग्पाल

१.	इन्द्र	५.	वरूण
२.	अग्नि	६.	वायु
३.	यम	७.	कुबेर
४.	निर्ऋति	८.	ईशान

शाक्त–प्रतिमायें–देवियाँ

महासरस्वती	महालक्ष्मी	महाकाली
महासरस्वती	सरस्वती	
महालक्ष्मी	लक्ष्मी	अष्टमंगला
	गजलक्ष्मी	सिंहवाहिनी दे० खजुराहो
महाकाली	भद्र-काली	

दुर्गा-

नवदुर्गा

आगमिकी	पौराणिकी	आपराजिती
नीलकण्ठी	रूद्र-चण्डा	महालक्ष्मी
क्षेमङ्करी	प्रचण्डा	नन्दा

हरसिद्धी	चण्डोग्रा	क्षेमकरी
रुद्रांश-दुर्गा	चण्ड-नायिका	शिवदूती
बन-दुर्गा	चण्डा	महारण्डा
अग्नि-दुर्गा	चण्डवती	भ्रमरी
जय-दुर्गा	चण्डरूपा	सर्व-मङ्गला
विन्ध्यवासिनी-दुर्गा	अतिचण्डा	रेवती
रिपुमर्दिनी-दुर्गा	उग्र-चण्डा	हरिसिद्धी

गौरी—द्वादश-मूर्तियां

१. उमा	५. श्री-श्रियोत्तमा	९. सावित्री
२. पार्वती	६. कृष्णा	१०. त्रिषण्डा
३. गौरी	७. हेमवती	११. तोतला
४. ललिता	८. रम्भा	१२. त्रिपुरा

अन्य देवियाँ

महिष-मर्दिनी	—	रति
कात्यायनी	ज्येष्ठा	श्वेता
भद्रकाली	काली	जया-विजया
महाकाली	कलविकर्णिका	काली
अम्बा	बलविकर्णिका	घण्ट-कर्णी
अम्बिका	बलप्रमाथिनी	जयन्ती
मंगला	सर्वभूत-दमनी	दिति
सर्व-मंगला	मानोन्मानिनी	अरुन्धती
काल-रात्रि	वरुणि-चामुण्डा	अपराजिता
ललिता	रक्त-चामुण्डा	सुरभि
गौरी	शिव-दूती	कृष्णा
उमा	योगेश्वरी	इन्द्रा
पार्वती	भैरवी	अन्नपूर्णा
रम्भा	त्रिपुर-भैरवी	तुलसादेवी
तोतला	शिवा	अश्वरूढादेवी

त्रिपुरा	सिद्धी	भुवनेश्वरी
भूतमाता	ऋद्धी	बाला
योगनिद्रा	क्षमा	राजमातंगी
वामा	दीप्ति	

सप्तमातृका :—

मातृक	देव	दुर्गुण—अन्तःशत्रु
१. योगेश्वरी	शिव	काम
२. माहेश्वरी	महेश्वर	क्रोध
३. वैष्णवी	विष्णु	लोभ
४. ब्रह्माणी	ब्रह्मा	मद
५. कौमारी	कुमार	मोह
५. इन्द्राणी	इन्द्र	मात्सर्य
७. यमी (चामुण्डा)	यम	पैशुन्य
८. वाराही	वराह	असूया

यक्ष-विद्याधर-वसु-मुनि-पितृ-गणादि-प्रतिमायें

बसु—अष्ट विध :

१. धर	२. ध्रुव	३. मोम	४. आप
५. अनिल	६. अनल	७. प्रत्यूष	८. प्रभाष

नाग :

वासुकि	कर्कोटक	शंखपाल
तक्षक	पद्म	कुलिक
	महापद्म	—

साध्य—द्वादश :

१. मान	५. अपान	९. दंश
२. मन्त	६. वीर्यवान	१०. नारायण
३. प्राण	७. विनिर्भय	११. बृष
४. नर	८. नय	१२. प्रभि

असुर-दानव-दैत्य-पिशाच-भूत

टि० १—राव ने इन्हें क्षुद्र-देव संज्ञापति किया है, वह ठीक नहीं। इन को क्षुद्र देव कहना उचित नहीं, वे तो सनातन से सुर-द्रोही हैं।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाना उपाख्यान इस तथ्य के साथ हैं। इनमें जहां तक अप्सराओं, गन्धर्वों तथा यक्षों एवं किन्नरों की कथा है, उससे प्रकट है कि कोई भी भारतीय वास्तु-कृति बिना इनके चित्रण अद्रष्टव्य है। वास्तु-शास्त्रों में इनके चित्रण पर बिपुल संकेत हैं।

टि० २—समरांगण में यद्यपि इनके लक्षण पूर्ण नहीं है, तथापि इनकी आपेक्षिक आकृति-रचना पर इसका संकेत बड़ा महत्वपूर्ण हैं। आकार की घटती के अनुरूप दैत्यों का आकार दानवों से छोटा, उनसे छोटा यक्षों का, फिर गन्धर्वों का, पुनः पन्नगों का और सबसे छोटा राक्षसों का। विद्याधार यक्षों से छोटे चित्र्य हैं। भूत-संघ पिशाचों से सब प्रकार प्रवरतर मोटे भी ज्यादा और क्रूर भी अधिक प्रदर्श्य हैं।

इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना में वेश-भूषा पर समरांगणीय लक्षण यह है कि भूत और पिशाच रोहित-वर्ण, विकृत-वदन, रक्त-लोचन, बहुरूपी निर्देश्य हैं। केशों में नागों का प्रदर्शन उचित है। आभरण और अम्बर एक दूसरे से बेमेल (विरागाभरणाम्बराः) हैं। आकार वामन, नाना आयुधों से सम्पन्न। शरीर पर यज्ञोपवीत और चित्र-विचित्र शाटिकायें भी प्रदर्श्य हैं।

यक्ष-विद्याधर-किन्नर-गन्धर्व-अप्सरायें

टि० ये क्षुद्र-देव संज्ञा से संज्ञापित किये जा सकते हैं। ये ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों प्रतिमा-स्थापत्य में पृथुल, विशाल एवं प्रशस्त चित्रण में पाये जाते हैं। इनका कैसा आकार, कैसा परिधान, क्या जीवन, क्या परिचर्या—यह सब हमारे ग्रन्थों में विवरण-सहित पढ़ें।

ऋषि-गण

टि०—मानसार (दे० ५७-५९वां अ०) में मुनि-लक्षण और भक्त-लक्षण भी दिये गये हैं। समरांगण में धन्वन्तरि और भरद्वाज का संकेत है। अतः स्थापत्य में भी अगस्त्यादि ऋषियों की प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। ऋषियों में व्यासादि महर्षि, कण्वादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, सुश्रुतादि श्रुतर्षि, ऋतुपर्णादि राजर्षि और जैमिन्यादि काण्डर्षि सात ऋषिवर्ग हैं।

आगमों (दे० अंशु० तथा सुप्र०) में सप्तऋषियों की नामावली कुछ भिन्न है। मनु, अगस्त्य, वशिष्ठ, गौतम, अंगिरस, विश्वामित्र और भरद्वाज—अंशु० के सप्तऋषि हैं। भृगु, वशिष्ठ, पुलस्त्य, क्रतु, काश्यप, कौशिक और अंगस्त्य—सुप्र० के ऋषि हैं। पूर्वका० में अगस्त्य, पुलस्त्य, विश्वामित्र पराशर, जमदग्नि वाल्मीकि और सनत्कुमार का संकीर्तन है।

सप्त-ऋषि-वग

महर्षि	व्यासादि	ब्रह्मर्षि	वशिष्ठादि
परमर्षि	भेलादि	श्रुतर्षि	सुश्रुतादि
देवर्षि	कण्वादि	राजर्षि	ऋतुपर्णादि
		काण्डर्षि	जैमिन्यादि

टि०—अभी तक हम भारतीय प्रतिमाओं के इन ब्राह्मण-प्रतिमाओं के ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि प्रतिमा वर्गों पर पदानुरूप प्रकाश डाल ही चुके हैं। प्रतिमा-शास्त्र (प्रतिमाा-बिज्ञान) बड़ा ही कठिन, पृथुल तथा व्यापक विषय है। यदि कोई भी अनुसन्धानाभिलाषी छात्र अथवा विद्वान् एक प्रतिमा-स्वरूप को भी ले ले तो उस पर वहुत नवीन उद्भावनाओं, अध्ययनों एवं स्थपत्यानुषंगों से अलग अलग प्रबन्ध तैयार हो सकते हैं। उदाहरण के लिए यक्ष-विद्याधर-किन्नर इसी विषय पर बड़ा अनुसन्धान अपेक्षित है। प्रथित-कीर्ति विद्वानों—जैसे डा० जितेन्द्र नाथ वैनर्जी, डा० स्टैला क्रैम्रिश, डा० मोती चन्द्र—जिन्होंने प्रतिमा, प्रासाद एवं चित्र पर ग्रन्थ लिखे हैं, उनकी वहुत सी त्रुटियों पर मैंने प्रकाश डाला और समाधान भी किया, उसे देखकर उन्होंने गद्गद हृदय से स्वीकार किया। लीजिए मुद्राओं को। इन पर अलग अलग मुद्राओं (हस्त, पाद,शरीर) पर प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। अतः भारत का विशाल शिक्षित समाज प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रति बिल्कुल उदासीन है, तो उनके साधारण एवं स्वल्प ज्ञान के लिए मैंने यह सरल पदावली प्रस्तुत की हैं। अन्यथा यह वास्तु-कोष लगभग दश बृहद् ग्रन्थों में परिणत किया जा सकता है और ऐसे महान् कार्य के लिए जब मैंने भारत सरकार के हिन्दी-विभाग को लिखा (विशेषकर पारिभाषिक और तकनीकी विभाग) तो उनका जवाब आता हैं कि हमारे पास कोई योजना नही है तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। इसका एकमात्र यही कारण हो सकता है कि हमारे राष्ट्र-निर्माता अपनी राष्ट्रीय थाती का भी मूल्यांकन नहीं करते।

अब आइये बौद्ध एवं जैन प्रतिमा-वर्ग पर। समरांगण-सूत्रधार में बौद्ध एवं जैन प्रतिमाओं का कोई लक्षण नही मिलता है। यद्यपि यह अध्ययन विशेष कर इसी ग्रन्थ से सम्बन्धित है तथापि इन दोनों वर्गों पर थोड़ा सा संकेत आवश्यक है।

(ब) बौद्ध प्रतिमायें

टि०—बौद्ध प्रतिमाओं का विलास तान्त्रिक महायान से प्रारम्भ हुआ क्योंकि प्राचीन हीन-यान प्रतिमा-पूजा से सर्वथा विमुख था। हां, भगवान् बुद्ध के महा-निर्वाण के उपरान्त उस समय भी बुद्ध-चिन्हों एवं बुद्ध-स्मारकों की उपासना एवं पूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। बौद्ध-दर्शन में भी जो शून्य-वाद था वह भी शिष्टों को संतुष्ट नहीं कर सका। अतः आगे चलकर ८वीं शताब्दी में बौद्ध दार्शनिकों में घनघोर तर्क प्रादुर्भूत हो गए। पहले तो शून्य और विज्ञान पर संघर्ष था, पुनः परिणाम यह निकला कि महासुख-वाद का सिद्धान्त विकसित हो गया और उसकी पृष्ठ-भूमि तान्त्रिक प्रभाव था। अतः इस तान्त्रिक अर्थात् शाक्त पृष्ठ-भूमि पर इस महासुख-वाद के सिद्धान्त पर वज्र-यान नामक सम्प्रदाय पल्लवित हो गया। आप नेपाल जाइए, तिब्बत या जापान घूमिए चीन की ओर मुड़िए सर्वत्र इन्हीं शाक्त प्रतिमाओं का बोल बाला है। अद्वय-वज्र-नामक बौद्ध दार्शनिक, जो ११वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे, उन्होंने इस वज्रयान को विज्ञान-वाद और शून्य-वाद से भी आगे बढ़ा दिया। उनके अद्वय-वज्र-संग्रह का निम्न प्रवचन पढ़ें वही पर्याप्त है :—

> दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
> अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

अन्त में यह भी निर्देश करना है कि कोई भी मध्य-कालीन बौद्ध-प्रतिमा बिना शक्ति के नही परिकल्पित हुई। तिब्बती भाषा में इसे याव यूम कहते हैं, अतः हम बौद्ध प्रतिमाओं को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. ऐतिहासिक बुद्ध—बोधि-सत्व आदि।

२. वज्रयान-तान्त्रिक—बुद्ध—ध्यानी-बुद्ध, बुद्ध-शक्तियां आदि आदि।

जहां तक ऐतिहासिक बुद्ध की बात है, हम भगवान् बुद्ध के रूप को दशावतारों में सम्मिलित कर चुके हैं। यहां पर केवल वज्रयान बौद्ध प्रतिमाओं से सम्बन्ध है जिनकी पदावली निम्न तालिकाओं में प्रस्तुत की जाती है।

प्रथम हम इन बौद्ध-प्रतिमाओं की द्वादश विधा उपस्थित करते हैं। :—

वज्रयानी प्रतिमायें—१२

१. दिव्य-बुद्ध, बुद्ध-शक्तियां और बोधिसत्व,

२. मञ्जुश्री

३. बोधिसत्व अवलोकितेश्वर,

४. अमिताभ से आविर्मूर्त देव,
५. अक्षोभ्य से आविर्भूत देव
६. अक्षोभ्य—आविर्भूत देवियां
७. वैरोचन से आविर्भूत देव
८. अमोघसिद्धि से आविर्भूत्त देव
९. रत्न-सम्भव से आविर्भूत देव
१०. पंच-ध्यानी बुद्धो से आविर्भूत देव
११. चुतुर्ध्यानी बुद्धों से आविर्भूत देव
१२. अन्य स्वतंत्र देव एवं देवियां

ध्यानी बुद्ध	बुद्ध-शक्तियां	बोधिसत्व
वैरोचन	वज्रधात्वीश्वरी	सामान्तभद्र
अक्षोभ्य	लोचना	वज्रपाणि
रत्नसम्भव-	मामकी	रत्नपाणि
अमोघसिद्धि	आर्यतारा	विश्वपाणि
वज्रसत्व	वज्रसत्वात्मिक	घण्टापाणि

	मानुष बुद्ध	मानुष-बुद्ध-शक्तियां	एवं मानुष–बोधिसत्व
१.	विपश्यिन्	विपश्यन्ती	महामति
२.	शिखी	शिखिमालिनी	रत्नधर
३.	विश्वभू	विश्वधरा	आकाशगंज
४.	ककुच्छन्द	ककुद्वती	शकमंगल
५.	कनकमुनि	कण्ठमालिनी	कनकराज
६.	कश्यप	महीधरा	धर्मधर
७.	शाक्यसिंह	यशोधरा	आनन्द

बोधिसत्व मञ्जुश्री के चतुर्दश रूप

१.	वाक्	६.	नामसंगीति	११.	अरपचन
२.	धर्मधातु	७.	वागीश्वर	१२.	स्थिरचक्र
३.	मंजुघोष	८.	मंजुवर	१३.	वादिराट्
४.	सिद्धैकवीर	९.	मंजुवज्र	१४.	मंजुनाथ
५.	वज्रानंग	१०.	मंजुकुमार		

बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के पंच-दश-रूप—

१.	षडक्षरी-लाकेश्वर	६.	पद्मनर्तेश्वर	११.	नीलकण्ठ
२.	सिंहनाद	७.	हरिहर-वाहनोद्भव	१२.	सुगति-सन्दर्शन
३.	खसपर्ण	८.	त्रैलोक्यवशंकर	१३.	प्रेत-संतर्पित
४.	लोकनाथ	९.	रक्तलोकेश्वर	१४.	सुखावतीलोकेश्वर
५.	हालाहल	१०.	मायाजालाक्रम	१५.	वज्रधर्मलोकेश्वर

अन्य विवरण यथा द्वादश-वर्गीय देव एवं देवियां 'प्रतिमा-विज्ञान' तथा वास्तु-शास्त्र, द्वितीय भाग में द्रष्टव्य हैं। विशेष उल्लेख्य यह है कि अवलोकितेश्वर की प्रतिमायें विपुल हैं।

जैन-प्रतिमायें—जैन प्रतिमाओं का आविर्भाव जैनों के तीर्थंकरों से प्रारम्भ हुआ। सर्व-प्रथम प्रतीक, पुनः प्रतिमायें। अब आइये तीर्थङ्कर-प्रतिमा की ओर।

तीर्थङ्कर—इनके सम्बन्ध में निम्न प्रवचन अवतार्य है—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरूणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

२४ तीर्थङ्कर	२४ यक्ष	२४ यक्षणियां
आदिनाथ	वृषवक्त्र	चक्रेश्वरी
अजितनाथ	महायक्ष	अजितबला
सम्भवनाथ	त्रिमुख	दुरितारि
अभिनन्दननाथ	चतुरानन	काली
सुमतिनाथ	तुम्बुरु	महाकाली
पद्मप्रभ	कुसुम	अच्युता (श्यामा)
सुपार्श्वनाथ	मातङ्ग	शान्ता
चन्द्रनाथ	विजय	ज्वाला (भृकुटि)
सुविधिनाथ	जय	सुतारा
शीतलनाथ	ब्रह्मा	अशोका
श्रेयांसनाथ	यक्षेश	मानवी (श्रीवत्सा)
वसुपूज्य	कुमार	प्रचण्डा (प्रवरा)

विमलनाथ	षण्मुख	विदिता (विजया)
अनन्तनाथ	पाताल	अंकुशा
धर्मनाथ	किन्नर	कन्दर्पा (पन्नगा)
शान्तिनाथ	गरूड	निर्वाणी
कुन्थनाथ	गन्धर्व	बला
अरनाथ	यक्षेश	धारिणी
मल्लिनाथ	कुबेर	वैरोट्या
मुनिसुव्रत	वरूण	नरदत्ता
नमिनाथ	भृकुटी	गान्धारी
नेमिनाथ	गोमेध	अम्बिका
पार्श्वनाथ	पार्श्व	पद्मावती
महावीर (वर्धमान)	मातङ्ग	सिद्धायिका

१० दिग्पाल—

१. इन्द्र
२. अग्नि
३. यम
४. निर्ऋति
५. वरूण
६. वायु
७. कुबेर
८. ईशान
९. नागदेव
१०. ब्रह्मदेव

९ ग्रह—नव-ग्रह सर्वविदित हैं—

१. सूर्य
२. चन्द्र
३. मंगल
४. बुध
५. बृहस्पति
६. शुक्र
७. शनैश्चर
८. राहु
९. केतु

क्षेत्रपात्र—एक प्रकार से यह जैनों का भैरव है।

श्रुत-देवियाँ—

१.	रोहिणी	६.	पुरुषदता	११.	महाज्वाला
२.	प्रज्ञप्ति	७.	कालीदेवी	१२.	मानवी
३.	वज्रशृंखला	८.	महाकाली	१३.	वैरोट्या
४.	वज्रांकुशी	६.	गौरी	१४.	अच्युता
५.	अप्रतिचक्रा	१०.	गान्धारी	१५.	मानसी
				१६.	महामानसी

६४ योगिनियाँ—ये योगिनियां ब्राह्मणों से विलक्षण हैं।
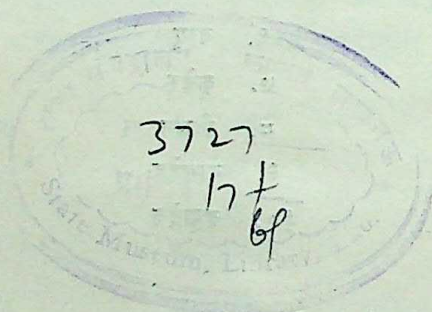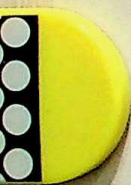
Dr. Shukla's researches on this hitherto uninvestigated branch of Sanskrit lore-Vastusastra-Silpasastra-Citrasastra are well known-vide his Ten-volume-Research-Project-Publication in Hindi under the general caption भारतीय वास्तु-शास्त्र. The extended studies publications of his Ph. D. and D. Litt. Theses under the Title of Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture and Vastusastra Vol. II Hindu Canons of Iconograppy and Painting have already received an international recognition as felicitated by such doyens of American and Rusian Inodologists like Prof. Norman Brown (Pennsylvania). These works have also been reviewed by a giant art-critic and of world fame scholar Dr. Stella Kramrisch. Our eminent savants like Mahamahopadhyaya Dr. V. V. Mirashi, Dr. J. N. Bannerjea, the late Dr. V. S. Agarwal, Prof. C. D. Chatterjee etc. etc. have paid glowing tributes to these researches and have also congratulated for these new land-marks in contemporary Indology.

Our great dignitaries—the late Shri N. V. Gadgil, the former Governor of Punjab and the Chancellor of Punjab University, the late Shri B. N. Jha former Vice-chancellor of Gorakhpur University, and the present Vice-chancellor of Punjab University Shri Lala Suraj Bhan seeing these unfoldings of our ancient Technical Heritage and Fine Arts have written most illuminating forewords to these publications.

It is a matter of great satisfaction that this Ten-Volume-project is completed through the publication grants as received from the U. P. Government (for the 1st 4 parts), Central Government M. E. (for the last six parts) and U. G. C. (for English Vols. Vastu Sastra Vol. I and Vol. II).

Now Dr. Shukla is embarking upon another Research-Project of Ten-volume-Silpasastra-project in English i. e. History of Silpasastra on the lines of history of Dharma-sastra. This project was included in the first Priorities proposals by the Punjab University for the IV Five year plan to the U. G C. due to the keen interest of the Vice-Chancellor Lala Suraj Bhan who is so much interested in such researches. The U. G. C. has accepted and also sanctioned some grant to start with the collection of the material

This is the last un dertaking to improve upon the pre-publication & complete the whole horizon of this sanskrit lore.

Dr. Shukla's Publication List

HINDI BOOKS

भारतीय-वास्तु-शास्त्र

१, वास्तु विद्या एवं पुर-निवेश,
पृ० संख्या २६० ८. ५० रूपये

२. प्रतिमा-विज्ञान पृ० ३६० १५.०० रुपये

३. हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि—वैदिकी पौराणिकी, राजाश्रया तथा लोक-धर्मिणी
पृ० ११२ ३. ०० रुपये

४. राज-निवेश एवं राजसी कलायें—भाग प्रथम यन्त्र एवं चित्र
पृष्ठ २८० १५.०० रुपये

५. राज-निवेश एवं राजसी कलायें भाग द्वितीय चित्र-लक्षणम् १८.००

६. समरांगण-सूत्रधार भाग २—राज-निवेश एवं राजसी कलायें—अध्ययन, अनुवाद, मूल,वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली
पृष्ठ ५५० ३६.०० रुपये

७. प्रासाद-निवेश—Temple Art and Architecture (Foundations, Canons, an outline history, technical terms & illus.)
पृ० २६० १८.०० रुपये

८. समरांगण-सूत्रधार भाग ३—प्रासाद-निवेश, अध्ययन, अनुवाद तथा वास्तु-शिल्प-पदावली तथा निर्दशन पृष्ठ ५५० ४०.०० रुपये

९. समरांगणीय भवन-निवेश (सर्व-विक्रियाधिकारी मेहर चन्द लक्ष्मणदास)
पृष्ठ २७२ १५.०० रुपये

१०, समरांगण सूत्रधार भाग १—भवन-निवेश, (सर्व-विक्रयाधिकारी मेहर चन्द लक्ष्मण दास) ३६.००

ENGLISH BOOKS

1. Vastusastra Vol. 1-Royal size. Pages 900 Rs. 36 00
2. Vastusastra Vol. 11-Royal size. Pages 900 Rs. 54.00
3. Royal Palace and Royal Arts-Six Fine Arts. Pages 300 Rs. 18.00
4. Silpasastra—Hindu achievements in aeronautics and fine arts Rs 36.00